भगवान महावीर
LORD MAHAVIR

प्रकाशक—
महावीर जैन सुसायटी
आगरा

Printed at—
THE CALCUTTA PHOTOTYPE CO, LTD
CALCUTTA.

SHRĪ MAHĀVĪRA COMMEMORATION VOLUME.

VOLUME I.

1948–49

श्री महावीर स्मृति ग्रन्थ ।

(भाग १)

(१९४८–४९)

प्रकाशक

महावीर जैन सोसायटी, आगरा

प्रकाशकीय वक्तव्य

श्री महावीर स्मृति ग्रन्थ प्रकाशनकी योजना आग्राकी महावीर जैन सुसाइटीने सन् १९४८ मे स्वीकार की थी। और यह ग्रन्थ उस वर्ष ही श्री महावीर जयन्ती पर प्रकाशित होनेको था, परन्तु छपाई की समुचित व्यवस्था न हो सकने के कारण देरसे प्रकाशित हो रहा है। इसके लिए हम प्रिय पाठको एव माननीय लेखकों को निकट क्षमा प्रार्थी हैं।

इस प्रकाशनके लिए हम ग्रन्थके प्रधान सम्पादक बन्धुवर श्री कामताप्रसादजी अलीगज निवासीके अत्यन्त कृतज्ञ हैं; जिन्होंने न केवल लेख चयन करनेमे ही परिश्रम किया है बल्कि प्रेसका प्रबन्ध तथा प्रूफ संशोधन आदि प्रकाशन सम्बन्धी सभी कार्य करनेकी उदारता दिखाई है।

ग्रन्थके अन्य सन्माननीय सम्पादको एव माननीय लेखकोंकाभी हम आभार स्वीकार करते हैं जिन्होने अपनी अमूल्य कृतियॉ प्रकाशनार्थ देकर हमें अनुग्रहीत किया है।

यदि ग्रन्थसे पाठकोंको भगवान महावीर और उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तोंके सम्बन्धमें जानकारी और रुचि पैदा होगी तो हम अपना परिश्रम सफल समझेगे।

मत्री

महावीर जैन सोसायटी, आग्रा

सम्पादकीय वक्तव्य

प्रस्तुत ग्रन्थका प्रकाशन गतवर्ष श्रीमहावीर-जयन्तीके सुअवसर पर हो जाना निश्चित था, परन्तु प्रेसकी कठिनाईके कारण वह इतने समयके पश्चात् प्रकाशित हो रहा है। हमें यह प्रगट करते हुये हर्ष है कि श्रीमहावीर जैन सोसायटी आगराका यह उद्योग सफल हो रहा है और यह अपने ढगका पहला और निराला प्रयत्न है। इसके लिये सोसायटीके कार्यकर्तागण हार्दिक बधाईके पात्र है।

प्रस्तुत ग्रन्थके लिये ससारके लब्धप्रतिष्ठ विद्वानोने और हमारे सन्माननीय सहयोगी संपादक महोदयोने जो हमें सहयोग प्रदान किया है, उसके लिये हम उनका आभार स्वीकार करते हैं। अग्रेजी लेखोंका भाव हिन्दीमे दे दिया गया है कि जिससे हिन्दी विज्ञ पाठक उनके लाभसे वचित न रहे। आशा है, हमारा यह तुच्छ प्रयत्न हिन्दी साहित्यके गौरवशाली भडारमे समुचित स्थान प्राप्त करके लोकका कल्याण करनेमें सफल होगा.

अलीगंज, जिल्हा एटा,
२१-११-१९४९

कामता प्रसाद जैन
प्रधान सपादक

EDITOR'S NOTE.

In 1948 we desired to bring out a Volume, containing learned articles on the life and teachings of Lord Mahāvīra, the last Tīrthamkara of the Jainas, under request of the Secretary of Shrī Mahāvīra Jaina Society of Agra. But owing to printing restrictions and other handicaps, it was delayed. Although a delayed publication, we have the pleasure of bringing it out under the title of "Shrī MAHĀVĪRA COMMEMORATION VOLUME" in its present form, containing learned contributions from the pens of distinguished scholars from all over the world. Thus gratified we are to achieve our long-cherished desire. The dream of our Society has come out true.

It is the first attempt of its kind and our aim to bring it out has been simply to spread right knowledge about the great personality and sublime teachings of the last Tīrthamkara, who was the greatest of the Apostles of Ahiṃsā—Ahimsā which is the only panacea for all the ills from which modern humanity is suffering. Hence we hope that our humble effort will be appreciated by our readers.

We take this opportunity to convey our grateful thanks to our all contributors and our co-editors, specially Bro. R. N. Shah, who have spared no pains to make the publication a success.

Our hearty congratulations to the Mahāvīra Jaina Society of Agra for publishing a work of cultural value of the kind.

May the light of Truth and Ahimsā pervade the universe and may happiness prevail around the world.

KĀMTĀ PRASĀD JAIN,
Chief Editor.

Aliganj, (Etah), U. P.
INDIA.
21-11-1949.

विषय–सूची।

(CONTENTS)

चित्र सूची

(ILLUSTRATIONS)

सन्देश और श्रद्धाञ्जलियां।

(TRIBUTES & MESSAGES)

" श्रीमन्महावीरी विजयका गान करना चाहिये।
तल्लीन होकर आज उनका ध्यान करना चाहिये॥
जिनदेवके उपकारका सम्मान करना चाहिये।
उनके पगो पर प्राण अपना दान करना चाहिये॥

—पं० रामचरित् उपाध्याय।

—जन-जीवनके भगवान—

सत्य-अहिंसाके पथदर्शक, जय जन-जीवनके भगवान।
आज वंदनाके स्वर लेकर, करें तुम्हारा हम आह्वान ॥
राष्ट्र-राष्ट्र हिंसक बनकर अब सर्वनाशके हेतु बने ;
एक तुम्हारेही इंगितपर, विश्व-शांतिका सेतु बने ॥
धधक रहा है घरका आंगन लपटें झपट रहीं विकराल।
यौवन जरा भेद नहीं जाने, मृत्यु दे रही निर्भय ताल ॥
नारीका सौन्दर्य शाप बन, आज दे रहा पाप महान्।
कौन-किसीकी लज्जा रखले, कौन अभयताका दे दान ?
तुम्हीं एक थे सच्चे स्वामी, सच्चे सेवक जन जनके।
आज अंधेरी काल रात्रिमें, तुम्हीं दीप हो मन मनके ॥
गांधी सा अनुगामी तेरा, ईसा जैसा शिष्य पुनीत;
प्राण गंवाकर भी जिनने, अंतिम सासो तक गाये गीत ॥
तूने भेदभावकी उठती, दीवारोंको गिरा दिया।
ऊँच-नीचका भेद हटाकर, दानवताको हिला दिया ॥
"करुणा-शान्ति विश्वकी रक्षक," कहकर मंत्र बताया एक।
जन जनको स्वातन्त्र्य दिलाकर, रखली मानवताकी टेक ॥
सुलगातीं हैं आज शक्तियाँ, महानाशकी ज्वालाएं।
किंतु तुम्हारी शक्ति महाप्रभु, मिटा रही भव बाधाएं ॥
आज तुम्हारी स्मृति लेकर हम, सोच रहे हैं विधि तत्काल।
कैसे हिंसाकी हिंसा कर, मेटें भव भवके जंजाल ॥
तुम न हुए होते तो स्वामी, मानव दानव बन जाता।
तुम न हुए होते तो स्वामी, विश्व नर्कही बन जाता ॥
आज तुम्हारेही कारण तो जीवन जीवन कहलाता।
आज तुम्हाराही प्रकाश, तम भरे मार्ग है दिखलाता ॥
मानवता लौटेगी फिरसे, महावीर स्वामी आओ।
वसुधाको कुटुम्ब कर डालो, अपनी करुणा बरसाओ ॥

—कविवर "मुकुल"

सन्देश

(श्रीमान् गवर्नर महोदय बिहार प्रान्त)

श्रीमान् माननीय एम. एस. अणे महोदय, (बिहार प्रान्तके गवर्नर) ने निम्नलिखित सन्देश अंग्रेजीमें लिखकर भेजनेका अनुग्रह किया है ! श्री गवर्नर महोदयकी इस कृपाके लिये हम उनके आभारी है । आपने अपने संदेशमें बताया है कि महापुरुषोंकी आध्यात्मिक प्रेरणासेही मानव अपनी उन्नति करता आया है । ऐसे महापुरुष किसी एक समय अथवा एक देशमेंही नहीं जन्मते बल्कि वे प्रत्येक समय और प्रत्येक देशमें जन्म लेते है । उन सबका कार्य एक यही होता है कि वे मानवको उसका कर्तव्य सुझाएं, जिससे वह सुखी हो सके । इन महापुरुषोंको लोग अवतार अथवा आचार्य कह कर पुकारते हैं। भगवान महावीर मानव समाजके ऐसे महान शिक्षकोंमेसे एक थे । उन्होंने अहिंसा और दयाका उपदेश दिया था, जिससे लोग भोजन एवं देवार्चामे पशुपक्षियोंकी हिसा करना भूले थे । किन्तु उन्होंने अहिंसा सिद्धान्तको उससेभी बहुतही आगे बढाया और ऐसे चारित्र-नियम निर्माण किये कि कोईभी मानव एक कीडे तककी हिंसा मनवचनकायसे न करे । भ. महावीरकी शिक्षामे अहिंसा और संयमके सिद्धातोंका विकास चरम सीमाको प्राप्त हुआ था । आज बहुतसे जैनी बड़े २ व्यापारी है और उद्योगधन्धा करते है । उनमें कोई कोई चींटियोको शकर चटाते हुएभी मिलते है । किन्तु उन्होंमेसे कभी कभी कोई जैनी अपने दैनिक व्यवहारमें अन्याय करते और अनुचित लाभ उठानेकी त्रुटि करते हैं। वे धर्मकी शाब्दिक पालना करते है—उसके भावको ग्रहण नहीं करते, किन्तु भावहीन द्रव्यपालना तो पाखंडको जन्म देती है, जो हिंसाकाही दूसरा रूप है ! महावीर जैसे महापुरुषोंने मानवके दैनिक जीवनको धर्मसे अनुप्राशित करनेके लिएही इन सिद्धान्तोंका प्रचार किया था । दैनिक व्यवहार और धर्म-सिद्धान्त साथ २ चलना चाहिए वरन् मानव जाति एक भयंकर चक्रमें फस जायगी । यह समय है जबकि मानवोंको महावीर जैसे आचार्योंकी शिक्षाओं और कार्योंकी याद दिलाई जाय । आज यू. एन. ओ. जैसी अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओंका जन्म बडे २ सिद्धान्तोंके नामपर हुआ है; किन्तु व्यवहारमें उनके सदस्य अपने स्वार्थके कारण उन सिद्धान्तोंपर दृढ नहीं रहते । भगवान महावीरके अनुयायीं मानव समाजकी बडी सेवा करेंगे यदि वे ऐसी संस्थाको जन्म देनेमें सफल हों जो अहिंसा, सत्य और संयम जैसे सुन्दर चारित्रनीयमोंका पालन दृढतासे मानव जीवनमें करा सके। क्या जैनी गवर्नर महोदयके इस सामयिक चेतावनीसे सुबोध लेंगे ? —सं०

MESSAGE FROM H. E. THE GOVERNOR OF BIHAR

Governor's Camp, Bihar.

July 23, 1948.

Man's progress has always been due to the effort of some highly spiritual personalities who have graced the earth with their presence now and then. Such outstanding personalities are not necessarily born in one country or at one time. If we read the history of man's progress in the world we find that they have been born at different times and in different countries. Yet the work of them all is ultimately to make the world happier by making the man conscious of his duties towards those among whom he lives. These great personalities are generally known as awatārs, incarnations or prophets, founders of religion or teachers of mankind, āchārya or muni. Mahāvīra was one of such great teachers of humanity. The religion of mercy and non-violence was preached by Him firstly to dissuade people from indulging in indiscriminate slaughter of animals and birds for the sake of their food or for propitiating their gods. But He did not stop there; He carried the doctrine to its logical end and insisted upon men and his followers to observe a code of conduct in which scrupulous attention has been paid to avoid physical or mental violence to anybody, even the meanest creature crawling on the earth which may come in contact with him The doctrine of non-violence, mercy and forbearance reached in Mahāvīra's teachings its highest expression. Many people, who profess to be the followers of Jainism, of which Mahāvīra was the most pious and brilliant exponent, are engaged in big industries and money-making business. Some of them are seen at the end of the day's work moving about in open spaces round the town in search of ant-hills and spreading on the ground a pinch of sugar to feed the little creatures. But if we scan the nature of the daily transactions in which they are engaged, we may find some of them, if not all, guilty of unfairness and injustice to those who have to deal with them. This indicates that they try to conform to the teachings of Mahāvīra by observing only the letter of the law and not the spirit of it. Adherence to the form at the cost of the spirit brings about a downfall as it encourages hypocrisy and sycophancy, which is nothing but violence in another form. Great men like Mahāvīra urge these principles in order to create harmony between the principles which they accept in the name of religion and the worldly transactions which they carry on for the sake of making worldly gains. In a way there is a gap between morality and practice. Great teachers of humanity like Mahāvīra have come down to bridge up this gap. Principle and practice must go together, otherwise mankind will be precipitating towards a great crisis. There is need for reminding men of the work and teachings of prophets like Mahāvīra at the present time. Institutions like the United Nations Organisation and other international associations are created in the name of very high principles, but

(*Continued on next page*)

Lord Mahāvīra's Ahiṁsā : A Golden Mean!

(MESSAGE)

There is a general awakening among the people of all countries in the world regarding the principle of Ahimsā and much of the credit of this awakening must naturally go to Mahatma Gandhi. But, I fear, there is more sound than substance in the homage which people are today paying to the principle which Lord Mahāvīra taught. It is not easy to say why we talk so much about Ahimsā while we allow that principle to affect our life and conduct to such a negligible extent. One reason may be that Ahimsā as taught by Lord Mahāvīra and his disciples has not been studied and taught with the care with which the Āchāryas have propounded the principle many generations ago. I hope the volume you are editing will explain the principle in all its aspects with a view particularly to explain its applications to life in the present-day world On the one hand we have what we may call the extreme view of those who say that complete Ahimsā can be and should be observed in conduct even by those who cannot free themselves completely from the duties of worldly life : at the other end come the majority of the people who believe in the rule of might and in the principle that the stronger should swallow the weaker The first extreme is impracticable, while the second is thoroughly immoral. I think that the Ahimsā as preached by Lord Mahāvīra avoids both the extremes and strikes the golden mean which is a path of progress of the Soul to its final liberation.

I wish your volume all the success which you and Sjt. Kamta Prasad so richly deserve.

Yours Sincerely,

Sd A B LATTHE, M A, LL.B.,

Constitutional Adviser to H. H. Chhatrapati

Maharaj, Kolhapur

(*Continued from 5 page*)

the members do not show the same regard for the principles when they are called upon actually to apply them in the worldly affairs in which their own interests are involved. Those who are followers of Mahāvīra will be doing a great service if their endeavour will succeed in creating an organisation that will stand rigidly for observance of the rules of morality, non-violence, truth and forbearance in all spheres of human activity.

M. S. ANEY,

Governor of Bihar.

Lord Mahāvīra's Message of Universal Love!

By Dr. William Henry Talbot, Fareham (England)

The name of Mahāvīra and 'Ahimsā' culture, is replete with Peace-unutterable, the Bliss embodied in such seed name vibrations. Holy, Holy, Holy Art Thou Mahāvīra and Thy Co-Conquerors. The example of Thy Victory is the measure for which mankind and indeed all life imprisoned in matter can aspire.

I cry to Thy shell or imprint indelibly left on unconscious Mind of this world, to which mind all mankind are co-heir, that Thou voluntarily vacate Thy throne of omniscience and return to the tortured world, that Thou overcome in the East and again show us this time in the West – the Nadir of human habitation – how to meet the full fury of frustrated desire.

In the East the climate is in harmony with food of one sense life but not in the West.

In the East thought is not tantamount to its material fulfilment as in the West.

In the West we cannot differentiate between the shadow and the substance and we hurt each other in the name of love.

In the West our religion is mockery and there is no health in us.

Otherwise-cause to be sent to us in the West such an Exhibition, Demonstration, Exhortation, or even Dictation of 'Ahimsā' culture as will, by its intensity, proclivity and sheer concentrated power become a Solvent of our case-hardened materiality

Embraced in simplicity, the "hallmark of Ahimsā culture" against what could one rebel! The harshness of outline becomes merged into Unity. Boundary or limitation imposed by desire, no longer in evidence. The life and teachings of our Lord Mahāvīra will surely demonstrate the path to this end and we welcome the English Version – the end product – of Eastern initiated thought, and demonstrated practice.

There was a period when the West sent chicken out to forage for themselves, they now have returned to roost, we do not recognise them now as chicken but as Monsters and their sharpened claws or spurs have now no one to sharpen themselves on but their progonitions, we twist and turn and writhe in our self-determined agony and cry in no uncertain manner for surcease from our travail

Our mucous membranes are constipated obstruction to vital energy is present in our physical bodies, friction therein impedes our progress and we have yet to learn that the body is healthy only when "*One Govtt.*" is in control of the whole world – or body, with "*One Language*" too completed, when "*One Wage*" is paid to all the cells, whether they be executive cells or scavengers.

What should one expect or demand, that all others cannot possess, or have little or no opportunity of doing so? Does the father say to his child — "I am stronger than you, so I will take the lion's share"? Should the

executive say to the Workman : ' I am more advanced than you, therefore, I am entitled to greater possession ' or should he say, ' the greater possessions are yours, you too become an executive when they automatically will pass again to the weaker ' ?

Did we not agree to work for a penny a day ?

Mahāvīra's life and teachings were carried forward by others Did that make these others worthy to be regarded as divine and their repeated teaching new scripture ? Many think so in the West and even in the East, but is such detraction worthy of substraction from original simplicity and can allegory much longer obscure reality ?

In order to remove obstruction from the physical body a mucous-less diet is necessary for right thought to operate harmoniously, right knowledge and right action then follows as a matter of course.

May this new Volume take us back to the simple way from which we have wandered and show us yet again the path to freedom and emancipation from error.

राधास्वामी महर्षि श्री. शिवव्रतलालजी वर्मन; एम. ए., एलएल. डी.:—

" गए दोनों जहान नजरसे गुजर तेरे हुस्नका कोई बशरही न मिला। ये भ० महावीर जैनोंके गुरू थे। पाकदिल, पाकख्याल, मुजस्सिम पाकी व पाकीजगी थे। हम इनके नामपर इनके कामपर और इनकी बेनजीर नफ्श कुशी व रियाजतकी मिसाल पर, जिस कदर नाजकरें बजा है! ये दुनियाके जबरदस्त रिफार्मर-जबरदस्त उपकारी और बडे उंचे दर्जेके उपदेशक और प्रचारक हो गुजरे है। यह हमारी कौमी तवरीखके कीमती रत्न है।

प्रसिद्ध नेता श्री. विजयराघवाचार्य—

" प्राचीन भारतके निर्माता पुरुषोमें श्री. महावीर स्वामी एक थे। "

प्रोफेसर डॉ. वाल्टर शूब्रिंग—

" संसार सागरमे डूबते हुये मानवोंने अपने उद्धारके लिये पुकारा। इसका उत्तर श्री. महावीरने जीवके उद्धारका मार्ग बतला कर दिया। दुनियामे ऐक्य और शान्ति चाहनेवालोकां ध्यान श्री. महावीरकी उदात्त शिक्षाकी ओर आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सकता। "

श्रीमती जोजेफ मेरी, बॉन (जरमनी) :—

" Through His *Jñāna* and the creed of Ahimsā, Mahāvīra destroyed the world of the materialistic creed and ethics in a way that we may call Him a Superman of the first kind We claim for Him the verses of the German Thinker Herder .—

" He's hero the conqueror of Battlefields,
He's hero the conqueror in Lion hunting !
But He's *Hero of Heroes*, the Conqueror of Himself ! "

इटलीके विद्वान् डॉ० अल्बर्टो पाग्गी, जिनोवा—

" महावीरजीकी शिक्षाये ऐसी प्रतीत होती है, मानो विजयी आत्माका विजयज्ञान हो, जिसने अन्ततः इसी लोकमें स्वाधीनता और जीवन पा लिया हो! हजारों आदमी उनकी ओर टकटकी लगाये है। उनको वैसी पवित्रता और शातिकी चाह है। "

भगवान्‌की जीवन-ज्योति एवं अध्ययन !
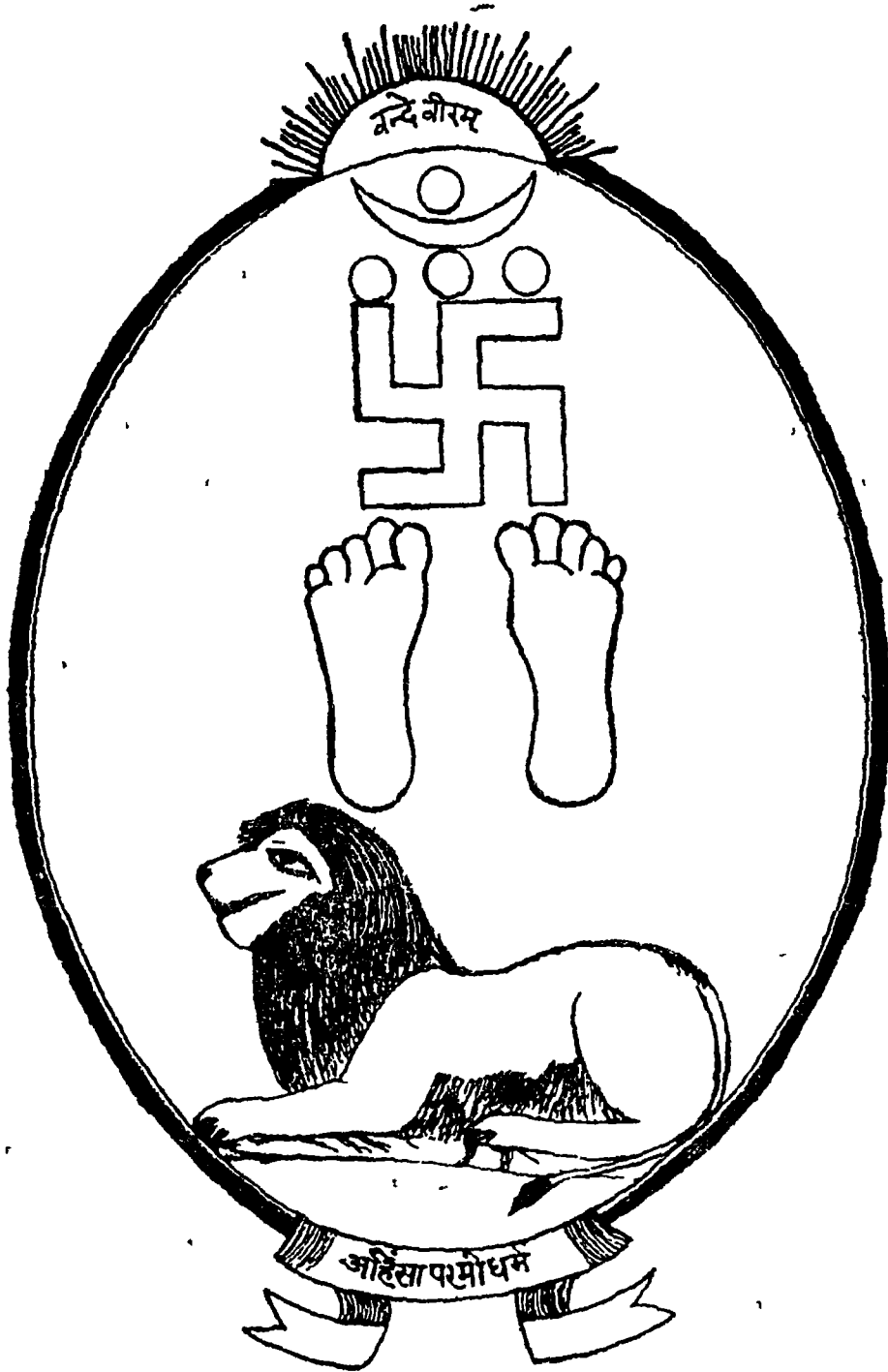
LIFE STUDIES OF LORD MAHĀVĪRA.

जय-वीर !

१.

' सो जयइ जस्स केवलणाणुज्जलदप्पणम्मि लोयालोयं ।
पुढ पदिबिंबं दीसइ वियसिय सयवत्तगब्भगउरो वीरो ॥ '

—कसायपाहुड (जयधवल)

अर्थ — ' जिसके केवलज्ञानरूपी उज्ज्वल दर्पणमें लोक और अलोक विशदरूपसे प्रतिबिम्बकी तरह दिखाई देते हैं अर्थात् झलकते हैं, और जो विकसित कमलके गर्भ अर्थात् भीतरी भागके समान समुज्वल अर्थात् तयार हुये सोने के समान पीतवर्ण है, वे वीर भगवान् जयवन्त हों ! '

२.

" जयइ जगजीव जोणी, विहाण ओ जगगुरु जगाणन्दो,
जगनाहो जगबन्धु, जयइ जगपिया महा भयवं ॥ १ ॥

जयइ सुयाणयभवो, तित्थयराणं अपच्छिमो जयइ,
जयइ गुरूलोयाणं, जयइ महप्पा महावीरो ॥ २ ॥

—नन्दीसूत्र

अर्थ — " जगतके सपूर्ण चराचर जीवोंके जाननेवाले भगवान् महावीर जोकि जगतके गुरु, नाथ, हितैषी और आनन्दरूप हैं उन जगत पितामह भ. महावीरकी जय हो, जय हो !

" द्वादशाङ्ग सूत्रोंके जन्मदाता, तीर्थंकरोंमें अन्तिम तीर्थंकर, समग्र लोकके गुरु ऐसे महान् आत्मावाले भ. महावीर की जय हो ! जय हो ! ! "

चिर अतीतके धर्म्म-वीर उतरो नूतन बन !

(श्री. शिवसिंह चौहान, 'सरोज' साहित्य-रत्न)

हे पूर्ण पुरातन, अनघ, अभय,
हे दिव्य, अनामय चिर अशेष !
तुम अभिनव, अभिनव गति महान
अभिनव अभिनन्दन, नय-निवेश ! !

युग-परिवर्त्तक, युग गति-वाहक,
युग युग अजेय दुर्द्धर्ष 'वीर'।
भारत-भूतल कर गये स्वर्ग
नारकी विश्वका वक्ष चीर ॥

हिंसक समष्टिकी दृष्टि हुई-
नय-स्नात, मिला आलोक सघन।
अभिनवोत्थान-पथ पर पहुँचा
इस जीर्ण जातिका जर्जर मन ॥

हिंसाकी वेदी पर पोषित
युग-राष्ट्रधर्म अनुदार प्रबल।
अभिसिञ्चित हुआ अहिंसाके-
शुचि मधु रससे पावन अविरल ॥

वैशालीके अवशेष वहन-
करते अबभी वे सदुपदेश।
करता अबभी आख्यान सरल
निज भाल उठा हिमगिरि नगेश ॥

बहता है पुण्य प्रसू भू पर
नैसर्गिक जीवनका प्रवाह।
गुञ्जित अम्बरमें, श्रुतियोंमे-
नय-मिश्रित वे स्वर अनवगाह-

" रे, सत्य-अहिंसा सीख, सीख-
यम-नियम, जाति-विद्वेष त्याग।
कर दया-वाहमे पुण्य-स्नान,
रे जीर्ण रूढिगत मनुज, जाग ॥

" कैसा जगती पर अनाचार.
कैसा दुख, कैसा पर-पीडन !
उपकार त्रस्त अभिशापित का,
रे, महामहिम मानवका धन ॥ "

अस्वस्थ देख, हो मनः क्लान्त,
इस भ्रान्त राष्ट्रको स्वस्थ ज्ञान-
था दिया तुम्हींने 'महावीर'
क्षत निठुर वीरता कर महान ॥

अपमानित हो नित दलित-वर्ग
सहता था क्या-क्या अनाचार !
तुम साम्यरूप ! बन गूँज उठे
समताकी ममताका प्रसार ॥

बोले तुम—" जगका महत्सृजन.
रे विश्व-नियंताकी माया।
अभिनय युग-नाटकका महान
करती प्रतिदिन भङ्गुर काया ॥

" इति पर अभिनयकी, भूप-भृत्य
होते है प्रतिपल सब समान।
उस अविकारीके रूप मनुज
हों विषम—अरे कैसा विधान ! "

तुम बढे, बढ चला विश्व, पुण्य-
शिक्षा-दीक्षाका ले प्रश्रय।
अमृतवाणीसे फूट पडा
मृतकोंके प्रति जीवन अक्षय ॥

तुमने उस हिंसाके युगमें
थे दिये देशके नयन खोल।
हिंसा प्रतिहिंसाके उरमें
भर भ्रातृभावका स्वर अमोल ॥

तुमने परार्थ बलिदान किया
हे 'वीर'! स्वका तुम हो महान।
तुमने विनाशके खण्डहर पर
नव सृजन किया दे अभयदान ॥

तुमने बन्धनके जराजीर्ण,
बन्धनको ध्वस्त किया उदार!
दासत्व मिटाया कर निनाद
सम भ्रातृभावका महोच्चार ॥

मानवताका जयघोष, अमर-
शंखध्वनि प्रचुर प्रगति अमन्द।
निर्दयताका दृढ भाल तोड
निर्मम पशुबलि हो गई बन्द ॥

नर्तित था जाति-अहंताके-
वक्षस् पर समता-सुधाराग।
अनुराग बढा भिन्नता भूल
बह चला पुण्य पावन पराग ॥

जुड चलीं भिन्न भंगुर कडियाँ
बननेको फिर श्रृंखला एक।
हो चले एकमय-महा एक-
वे छिन्न भिन्न अगठित अनेक ॥

हम जगे, जगी जगती अशेष
कर उच्च भव्य भारत-ललाट।
जग धन्य हुआ, सीखा हमसे
प्रिय-' विश्व बंधु '-सिद्धान्तराट् ॥

चिर अतीतके धर्म्म-वीर, उतरो नूतन बन।
पुनर्दर्शसे मुखरित हो अभिशापित जन मन ॥

भगवान् महावीर और उनकी विचार-धारा।

(ले. श्री. पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, काशी)

चैत्रका महीना जैन-धर्मके अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीरका स्मारक है। २५४६ वर्ष पहले वे इसी पुण्य मासमें अवतीर्ण हुये थे। उनकी जन्म-तिथि चैत्र शुक्ला त्रयोदशी भारतके इतिहासमें स्मरणीय है। इस तिथिने उस महापुरुषको जन्म दिया था, जिसने संसारको 'सत्त्वेषु मैत्री'-का शुभ सन्देश देकर क्षुद्रसे क्षुद्र जीवधारीके प्रति आत्मीयता प्रदर्शित की थी।

भारत आज दरिद्र है, किन्तु फिरभी श्रीसम्पन्न है। उसकी श्री वे विभूतियां हैं, जिन्होंने समय समय पर भारतमें जन्म लेकर भारतभूको पुण्यभू बना दिया। उन्ही विभूतियों में से भगवान् महावीर थे। वे महावीर थे, किन्तु हिंसा, संहार, अत्याचार, परपीडन और क्रूरताके नहीं; अहिंसा, करुणा, संरक्षा, परदुःख-कातरता और शान्तिके महावीर थे। वे क्षत्रिय पुत्र थे। उनके पिता सिद्धार्थ एक क्षत्रिय राजा थे। उनकी माता त्रिशला वज्जियोंके प्रजातन्त्रके मुखिया चेटककी पुत्री थी। अतः वे न केवल क्षत्रिय पुत्र थे, किन्तु राजपुत्रभो थे। वे चाहते तो राजा हो सकते थे, प्रजाको सता कर अपने राजकोष भर सकते थे और उसके बल पर एक बडी भारी सेना रख कर बहुतसे हरेभरे देशोको उजाड बना कर, अनेक माताओंको निपूती करके और असंख्य ललनाओंकी भांगका सिन्दूर पोंछ कर महाराजा बन सकते थे, और इस तरह राजशक्तिके द्वारा जनताके हृदयोंको आतङ्कित करके 'वीर'की उपाधिभी प्राप्त कर सकते थे; पर 'महावीर' नही कहला सकते थे। वीरप्रसू भारत भूमें वीरोंकी कमी नहीं है, उसका आकाश-मण्डल सदा उन नक्षत्रोसे जगमगाता रहा है। किन्तु इन शारीरिक योद्धा वीरोंके मध्यमें उनसे ऊपर उठकर यदि कोई आत्मिक योद्धा महावीर भारतमे न जन्मा होता, तो न केवल भारतके अपितु विश्वके आकाश मण्डलमें सदा कृष्ण-पक्षही दृष्टि गोचर होता।

यह सच है कि महावीर दुनियासे भागने वाले थे। दुनियाने उन्हें अपने रगमें रगना चाहा, किन्तु फिरभी वे उससे बच निकले। उनके सामनेभी यौवनने अपने प्रलोभनोंके पासे फेंके, किन्तु दाव[1] खाली गये। माता पिताकी ममताने अपना जाळ बिछाया, माताके आंसुओंने उनका रास्ता रोकना चाहा, किन्तु हिंसासे त्रस्त संसारकी असंख्य माताओकी आंखोसे सदा बहनेवाली आंसुओंकी धारामे माताके आंसू योंही बह गये। उन्होंने समझाया — 'माता! मैं तो केवल तुमसेही विलग हो रहा हूँ, इस जीवनसेतो विलग नहीं हो रहा हूँ। किन्तु इस दुनियांमें तो न

---

१. तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न तृप्तिरासामिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव।
स्थित्यैव काय परितापहरं निमित्तमित्यात्मवान् विषयसौख्य पराङ्मुखोऽभूत्॥
वृह० स्वयंभू०

जाने कितनी माताओके लाल उनकी गोदीसे जबर्दस्ती छीनेजाकर यज्ञ और युद्धोंकी बलिवेदीपर बलिदान कर दिये जाते है। न जाने कितने युवक और युवतिया वासनाओंके शिकार बनकर अपने जीवनको धूलमें मिला देते है। वे मास[१] के लिये दूसरोंके शरीरका हनन करते हैं, पर मास खाकर स्वय अपनी आत्मा की हत्या करते हैं। माससे सुरा, सुरासे सुन्दरी और सुन्दरीसे धनसंग्रहकी बलवती तृष्णासे सताये जाकर दूसरोंको सताते हैं। अतः जिन आध्यात्मिक शत्रुओंने मानवससारको और मानवससारके द्वारा पशुजगत् को पीडित कर रक्खा है, उनसे मैं संसारको मुक्त करना चाहता हू। लेकिन यह तब तक संभव नही, जबतक मै अपनेको शत्रुओंसे मुक्त न करा सकू।'

लोककल्याणकी इस भावनासे प्रेरित होकर महावीरने दुनियावी सुखोंका परित्याग किया और बारह वर्षकी कठोर साधनाके द्वारा ऋजुकूला नदीके किनारे जृम्भक ग्राममें आध्यात्मिक शत्रुओंसे मुक्त होकर परम आत्मज्ञानको प्राप्त किया। अब वे तीर्थङ्कर हो गये और तीस वर्षतक उन्होंने समस्त भारतभूमिमें विहार करके उस सत्य ज्ञानका उपदेश दिया, जो उन्हें प्राप्त हुआ था। उनका प्रधान लक्ष्य अहिसा था। 'अहिसा का पालन किये बिना न व्यक्ति सुखशान्ति प्राप्त कर सकता है और न समाज' यही उनका मूल-मन्त्र था। किन्तु प्रश्न यह था कि अहिंसा का पालन किस प्रकार किया जाय? उसके लिये उन्होंने प्रत्येक गृहस्थको नीचे लिखे आठ मूल गुणोके पालनेका आदेश दिया था —

१ — मास मत खाओ।

२ — शराब मत पियो।

३ — मधु — असंख्य मधुमक्खियों और उनके अण्डोंको निचोडकर प्राप्त किया गया मधु— मत खाओ।

४ — किसी प्राणीको मत सताओ।

५ — झूठ मत बोलो।

६ — चोरी मत करो।

७ — अपनी विवाहिता पत्नीके सिवाय दुनियाकी शेष स्त्रियोंको माता, बहिन और पुत्रीके तुल्य समझो।

८ — अपने कुटुम्ब पोषणके लिये आवश्यक धन-धान्यका सग्रह करो और उससे अधिककी इच्छा न करो।[२]

अहिंसाके आचरणको शक्य और सरल बनानेके लिये महावीरने हिंसाको चार भागोमें

---

१. मासास्वादनलुब्धस्य, देहिनो देहिन प्रति।
हन्तुं प्रवर्तते बुद्धिः, शाकिन्य इव दुर्धियः॥

२. धनधान्यादि ग्रन्थ परिमाय ततोऽधिकेषु निस्पृहता।
परिमितपरिग्रहःस्यादिच्छा परिणाम नामापि॥ ६१॥ रत्नकरण्ड०

बांटा–सङ्कल्पी, आरम्भी, उद्योगी और विरोधी। बिना अपराधके, जानबूझ कर जब किसी जीवके प्राण लिये जाते है या उसे दुःख दिया जाता है, तो वह सङ्कल्पी हिंसा है। जैसे कसायी पशुवध करता है। झाडने-बुहारनेमें, रोटी बनानेमें, आने जानेमें सावधानी रखते हुयेभी जो हिंसा हो जाती है, वह आरम्भी हिंसा है। व्यापार अदिमे जो हिंसा हो जाती है, वह उद्योगी हिंसा है। जैसे अन्नादिके व्यापारमें हिंसा होती है। अपने या अपने किसी आत्मीयकी रक्षा करनेमे जो हिंसा हो जाती है, वह विरोधी हिंसा है। इनमेंसे गृहस्थ केवल सङ्कल्पी हिंसाका त्याग करता है। गृहस्था-श्रमकीभी ग्यारह श्रेणियां हैं। ज्यो ज्यो गृहस्थ कौटुम्बिक उत्तरदायित्वसे निवृत्त होता जाता है, त्यों त्यों उसके अहिंसा पालनकी जिम्मेदारियांभी बढती जाती है। जिनके ऊपर दूसरोंकी रक्षाका भार है, सङ्कट आने पर उनका घरमे छिप कर बैठ जाना अहिंसा नही है, कायरता है। सच्चा अहिंसक कायर कभी नहीं हो सकता। सच्ची अहिंसा वही पाल सकता है जो निर्भय है। जिसे दुनियाका कोईभी भय सताता है वह सुदृष्टि[१]–महावीरका सच्चा उपासक–नही है। क्योंकि जीवनसे मोह हुये बिना भय नही होता। और मोहही ससारमे सबसे बडा आन्तारिक शत्रु है, इस लिये कहा है—

> गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोही नैव मोहवान्।
> अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः॥ रत्नकरण्ड० ३३

अर्थात् 'निर्मोही गृहस्थ मोक्षके मार्ग पर है, किन्तु मोही मुनि मोक्षके मार्ग पर नही है। मोही मुनिसे निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है।' अतः यदि कोई आततायी किसी अनाथ स्त्री या बच्चेको मारना या दूषित करना चाहे, तो उसवक्त अपने श्रावक पुरुष को ज्ञात-पुरुष महावीर मन, वचन, और शरीरपर संयम रखकर आततायी के हाथ में अपनी इज्जत अपनी लज्जा और अपने पौरुष सब कुछका समर्पण करनेकी आज्ञा देते है, ऐसा कहना महावीरकी अहिंसाका बडा ही दूषित चित्रण कयना है।[२] महावीरकी अहिंसा में स्वादके लिये, मनोविनोदके लिये, नीरोगता लाभ करनेके लिये और धर्मबुद्धिसे किसी प्राणी की हत्या करनेका सख्त निषेध है। रहजाती है आत्मरक्षा और आत्मीयोंकी रक्षा का प्रश्न उसके लिये दोही मार्ग है — पहला और सर्वोत्कृष्ट मार्ग है विरोधीका निःशस्त्र मुकाबला करना और अपने प्राणोंका हसते हंसते उत्सर्ग करके विरोधीको सच्चा पाठ पढाना। किन्तु यह मार्ग उन सर्वस्वत्यागी ऋषियोके लिये है, जिनके सामने आत्मरक्षाका कोई प्रश्नही नहीं है।

---

१. 'नापि स्पृष्टः सुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैर्मनाक्।' —पञ्चाध्यायी

२. देखिये राहुलजीका 'सिंह सेनापति'। खेद है कि अपने इस उपन्यासकी भूमिकामें सिंह-सेनापतिके समकालीन समाजको चित्रित करनेमें ऐतिहासिक कर्तव्य और औचित्यका पूरा ध्यान रखनेकी दुहाई देकरभी लेखक उसका ध्यान नहीं रख सके। कमसे कम महावीरके चरित्र और उनके उपासकोंके प्रतितो उन्होंने कतई न्याय नहीं किया। त्रिपिटकोंमें महावीरका जो चित्रण किया गया है, उसका तो एक लक्ष है अपने पाठकोंकी दृष्टिमें महावीरको गिराना और बुद्धको उठाना। क्या यही राहुलजीकाभी लक्ष है? ले.

महावीरने अपने जीवनमें इसी सर्वोत्कृष्ट मार्गको अपनाया था। दूसरा मार्ग है विरोधीका सशस्त्र प्रति-रोध करना और जहाँतक शक्य हो उसका खून बहायेबिना ही अपने कार्यमे सफल हो जाना। किन्तु जीवनके मोहसे निराश्रितोंका असहाय छोडकर कभी न भागना। राजन्य-वर्गके लिये महावीरका आदेश था —

" यः शस्त्रवृत्तिः समरे रिपुः स्याद् —
यः कण्टको वा निजमण्डलस्य।
अस्त्राणि तत्रैव नृपाः क्षिपन्ति
न दीनकानीनशुभाशयेषु॥ "

अर्थात, ' जो रणाङ्गणमें शस्त्र लेकर युद्ध करनेके लिये आया हो, अथवा स्वदेशके लिये बाधक हो, उसीपर राजन्य वर्ग शस्त्र उठाते हैं, दीन कायर और सदाशयी पुरुषोपर नही। '

सक्षेपमें महावीरकी अहिंसाका सार एक वाक्यमे यह है ' तुम खुद जियो और जीने दो जमानेमें सभी को '। जो व्यक्ति वर्ग, समाज या राष्ट्र इस भावनाको लक्ष्यमें रख कर दूसरे व्यक्तियो-वर्गों, समाजों और राष्ट्रोंके प्रति व्यवहार करता है — उनकी सुरक्षाका ध्यान रखते हुये अपना निर्वाह करता है, वह व्यक्ति, समाज और राष्ट्र अहिंसाका अनुयायी है, किन्तु जिस व्यक्ति, वर्ग, समाज या राष्ट्रमे केवल अपनेही जीवनकी भावना है, जो दूसरे व्यक्तियो, वर्गो, समाजो और राष्ट्रोंको अपने स्वार्थका साधन बनाये हुये हैं उनको उतनेही अशमें जीवित रखना चाहते हैं, जितने अश मे उनका जीवन उनके स्वार्थका साधक हो सकता है, वे व्यक्ति, वर्ग, राष्ट्र, और समाज अहिंसाके अनुयायी नहीं हैं।

जहाँतक हम जानते हे महावीरके समयमे आजके जैसा रोटीका प्रश्न नहीं था। किन्तु मनुष्य-जातिमे सदासे चली आई हुई, स्वार्थपरताकी नैसर्गिक प्रवृत्तिको सयमित बनाके रखनेका प्रश्न उस समयभी था। जैनधर्मके सभी तीर्थङ्करोकी एक विशेषता यह रही है कि उन्होंने मनुष्यकी किसीभी स्वार्थपरक वृत्तिकी ' प्रवृत्तिरेषा भूतानाम् ' कह कर उपेक्षा नहीं की। उन्होने सदा अपने उपदेशों और आदेशोके द्वारा उसको सीमित बनाये रखनेकाही प्रयत्न किया है। उसी प्रयत्नके फल स्वरूप भगवान् महावीरनेभी मनुष्यकी कामिनी और काञ्चनकी बलवती तृष्णा परही न केवल रोक लगाई, किन्तु अपने गृहस्थके लिये उन्हे मूल नियमोमे निर्धारित किया। प्रत्येक गृहस्थका यह एक आवश्यक कर्तव्य है कि वह अपनी भोग-तृष्णाको सीमित रखनेके लिये अपनी विवाहिता पत्नीके सिवाय ससारकी शेष स्त्रियोंमें माता और बहनका भाव रखे, तथा अपनी धन-तृष्णाको सीमित रखनेके वास्ते अपने लिये आवश्यक रूपया, जायदाद आदिकी एक सीमा निर्धारित करले और किसीभी वस्तुका अनावश्यक सङ्ग्रह न करे। आजका समाजवाद कानूनोके द्वारा मनुष्यकी जिस सञ्चितवृत्तिका नियमन करना चाहता है, दीर्घदर्शी महावीरने और उनसेभी पहले अन्य जैन तीर्थङ्करोंने अपने धर्मके आवश्यक नियमोंके द्वारा उसके नियमनका प्रयत्न किया था। किन्तु राजकीय नियमोंके पीछे शासन सत्ताका बल रहता है; अतः उसे मानना पड़ता है। पर धार्मिक नियम मनुष्यकी अपनी नैतिक

जिम्मेदारीपर निर्भर होते है — उनके तोडनेपरभी तत्काल दण्ड मिलनेकी कोई आशङ्का नहीं रहती। अतः आजके महावीरोपासकभी दूसरे लोगोंकी तरह सङ्ग्रही और लोभी बन गये हैं। अन्यथा महावीरका तो कहना है —

" शुद्धैर्धनै विर्वर्द्धन्ते सतामपि न सम्पदः।
न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः॥ ४५॥"

अर्थात्—सज्जनोंकी सम्पदा शुद्ध न्यायोपार्जित धनसे नही बढती। क्या नदियोंको किसीने स्वच्छ जलसे भरा देखा है? नदियोंमें जबभी बाढ आती है; बरसातके गंदे पानीसेही आती है।" इससे अधिक और कोई क्या कह सकता है?

यह तो हुआ गृहस्थोंके लिये विधान। श्रमणों–जैन--साधुओंके लिये तो कमण्डलु और मयूर-पंखोंकी पिच्छिकाके अतिरिक्त किसीभी प्रकारके परिग्रह रखनेका सख्त निषेध था। इससे अधिक उन्हें चाहियेभी क्या था? जैन श्रमण सङ्घमें वेही प्रवेश पा सकते थे, जो पूर्ण निर्विकार हों, जिन्हें अपने इन्द्रियविकारको ढकनेके लिये प्रच्छादनकीभी आवश्यकता न रह गई हो। जिनमें इन्द्रिय-विकारका थोडाभी चाञ्चल्य पाया जाता था, वे गृहस्थ श्रेणीमेंही रक्खे जाते थे। इस तरह श्रमण-सङ्घको वस्त्रकीभी चिन्ता नही थी। और भोजन दिनमें एक बार किसीभी श्रावकके घर मिल जाता था, अतः भोजनकीभी चिन्ता नहीं थी। रहनेके लिये जो अयाचित स्थल सुलभ होते थे, वहीं बैठ जाते थे। जङ्गलोंकी कमी तो थी ही नही। सारांश यह है कि जैन श्रमणको अधिक-से-अधिक आत्म निर्भर, अयाचक, सन्तोषी, कष्ट-सहिष्णु और निर्विकार होना चाहिये। गृहस्थाश्रममें जिन दो मानवीय वृत्तियोंके नियमनका श्रीगणेश किया गया है, उनकी पूर्णता श्रमणमें होती है।

सम्भवतः भगवान् महावीरके इस कठोर मार्गको लक्ष्यमें रख करही यह धारणा बनाली गई है कि उन्होंने केवल कायपीडनकोही प्रधानता दी; किन्तु बात ऐसी नहीं है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि कामक्रोधादि कषायोंका कृश करना आवश्यक है। उनको कृश किये बिना जो मात्र शरीरको कृश कर डालते है, उनका व्रतधारण 'कायक्लेशाय केवलम्' है। भगवान् महावीरका कहना है —

न दुःखं न सुखं यद्वद् हेतु र्दृष्ट श्चिकित्सिते।
चिकित्सायांतु युक्तस्य स्याद् दुःखमथवा सुखम्॥
न दुःखं न सुखं तद्वद्धेतु र्मोक्षस्य साधने।
मोक्षोपाये तु युक्तस्य स्याद् दुःखमथवा सुखम्॥

'जैसे रोगके प्रतीकारमें न दुःखही कारण है न सुखही कारण है; किन्तु चिकित्सा प्रारंभ कर देनेपर दुःख हो या सुख, उसे सहाही जाता है; वैसेही मोक्षका साधन न दुख है और न सुख। किन्तु मोक्षके मार्गमें पैर रख देनेपर दुःख हो या सुख, उसकी परवाह नही की जाती है।'

संक्षेपमें यही महावीरकी वैयक्तिक और सामाजिक विचारधारा है। उनकी दार्शनिक विचार-धाराभी अहिंसामूलक है। दार्शनिकक्षेत्रमें 'अनेकान्तवाद' 'स्याद्वाद' और 'नयवाद' का सर्जन-करके उन्होने हमें प्रत्येक व्यक्तिको हर दृष्टिकोणसे समझनेका मार्ग सुझाया है और इस बातका ध्यान रखा है कि इस क्षेत्रमेभी हिंसा मूलक व्यवहार न हो। ऐसे प्रभावशाली भगवान महावीरकी विचारधारा वर्तमान विश्वकी समस्याओंको सुलझानेमे बहुत कुछ मदद कर सकती है।

ऋषभदेव और महावीर!

(ले० श्री० कामताप्रसाद जैन)

' वावीसं तित्थयरा सामाइयं संजमं उवदिसंति।
छेदोवट्ठावणियं पुणा भयवं उसहो य वीरो य ॥ ७ ॥ ३२ ॥'

*　　*　　*

पुरिम चरिमादु जम्हा चलाचित्ता चेव मोहलक्खाय
ता सव्व पडिक्कमणं अंधलय घोड-दिट्ठंतो ॥ ८ ॥ २९ ॥'

— मूलाचार.

जैन मान्यताके अनुसार इस कल्पकालमें जो चौवीस तीर्थंकर हुये, उनमें ऋषभदेव आदि और महावीर अन्तिम तीर्थंकर थे। तीर्थंकर महावीरके ऐतिहासिक व्यक्तित्वमे विद्वानोंको शङ्का नहीं है; परन्तु ऋषभदेवको ऐतिहासिक महापुरुष माननेमें कतिपय विद्वान् हिचकते हैं। जैनशास्त्रोंमें ऋषभदेवकी महान् आयु और कायका वर्णन पढकर वह समझते हैं कि ऐसा महामानव शायदही हुआ हो। अतः ऋषभदेव उनके निकट एक पौराणिक व्यक्ति मात्र रह जाते हैं। किन्तु वस्तुस्थिति कुछ औरही बताती है। राम और कृष्णके चरित्र और समयभी भारतीय साहित्यमें विलक्षणसे जचते हैं; फिरभी राम और कृष्णके अस्तित्वमें शङ्का नहीं की जाती, तो ऋषभको एक यथार्थ महापुरुष माननेमे हम क्यों शङ्का करें? ऐसा कोइ पुष्ट कारण नहीं है जिससे जैन मान्यताको अमान्य ठहराया जावे। उसपर ऋषभसम्बन्धी जैन मान्यताका समर्थन ब्राह्मण[1] और बौद्ध स्रोतोंसेभी होता है।[2] बौद्धग्रथ ' मञ्जुश्री मूलकल्प 'में भारतके प्राचीन राजाओंमें राजा नाभि और उनके पुत्र ऋषभदेवकी

---

१. भागवत, स्कन्ध ५ अ. ३–६ में ऋषभदेवका वर्णन है, जहां उन्हें कैवल्यपति और योगधर्मका आदि उपदेशक बताया है। वह जैन तीर्थंकरसे अभिन्न हैं। (विश्वकोष, भा० ३ पृ० ४४४ और स्टीवेन्सन, कल्पसूत्र भूमिका, पृ० १६) ऋग्वेद (८।२४) मेंभी ऋषभदेवका उल्लेख है। वैदिक ग्रंथोंमें जिनेन्द्र ऋषभका उल्लेख हुआ है, यह बात ' प्रभासपुराण 'के निम्न श्लोकसे स्पष्ट है:—

" कैलाशे विमूले रम्ये वृषभोऽयं जिनेश्वरः। चकार स्वावतार च सर्वज्ञः सर्वगः शिवः ॥ ५९ ॥ "

२. बौद्धाचार्य आर्यदेवने ' सत्‌शास्त्र 'में ऋषभदेवको जैनधर्मका आदि प्रचारक लिखा है। (वीर ४।३५३) धर्मकीर्तिनेभी सर्वज्ञके उदाहरणमें ऋषभ और महावीरका समान रूपमें उल्लेख किया है। (न्यायबिन्दु ३) ' धम्मपद 'के ' उसभं पवरं वीरं ' पद नं. ४२२ मेंभी तीर्थंकर ऋषभका उल्लेख हुआ बताया गया है। (इंडियन हिस्टॉरीकल क्वार्टर्ली, कलकत्ता, भा० ३ पृ० ४७३-४७५).

श्री आदितीर्थंकर वृषभदेव और अंतिमतीर्थंकर भ. महावीर वर्द्धमान ।

(ओड़ीसा १२-१३ वी शती, देखो " वृषभदेव और महावीर " शीर्षकलेख)

Fig. I Rsabha and Mahāvīra

(Images of First and Last Tīrthaṃkaras)

गणना की गई है।[१] उसी ग्रंथमें ऋषभदेवको निर्ग्रन्थ तीर्थंकर लिखा है।[२] इसके अतिरिक्त मोहन-जोदडोकी प्राचीन मुद्राओंपर कायोत्सर्ग आसन और नासाग्रभाग-दृष्टि-युक्त ध्यानमुद्रामें नग्न योगियोंकी आकृतियां अङ्कित हैं; जो बिल्कुल तीर्थङ्कर ऋषभकी मूर्तियोंके अनुरूप हैं। ऋषभदेवका चिन्ह बैलभी उन मुद्राओंपर मिलता हैं; अतः वे मुद्रायें ऋषभमूर्तिके पूर्व-रूप हैं और उनके अस्तित्वको प्रमाणित करनेके लिये पुष्ट प्रमाण। फिर हम क्यों शङ्का करें कि ऋषभदेव ऐतिहासिक महापुरुष नहीं हैं? वे महावीरके समानही लोकोद्धारक तीर्थङ्कर थे।

ऋषभदेवभी तीर्थङ्कर थे और महावीरभी। किन्तु दोनोंका कार्यक्षेत्र और कार्यकाल भिन्न था। ऋषभदेव कर्मभूमिके प्रारंभमें हुये थे, जब मानव सभ्य और सस्कृत नहीं हुआ था। मानव प्राकृत जीवन बिताता था। विशेष प्रकारके वृक्षोंसे अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति करता था। कई मनु महाराजोंने उसे जीवन निर्वाह और घर-कुटुम्बकी बातें सिखाई थीं; किन्तु फिरभी वह सभ्य और सुसंकृत न हुआ था—आत्मस्वरूपका बोध उसे नही था। ऋषभदेवने पहलेही पहले मानवको लौकिक जीवन व्यवहार और परम आत्मधर्मकी शिक्षा दी थी। अपनी ब्राह्मी नामक पुत्रीको उन्होंने सर्व प्रथम् लिपिज्ञान कराया था। इसीकारण वह लिपि 'ब्राह्मी लिपि' के नामसे प्रसिद्ध हुई। असि-मसि-कृषि वाणिज्य-शिल्पादि सत्कर्म करनेका ज्ञान उन्होंने अपने समयके भोलेभाले मानवको कराया। मानव 'कुल' बनाकर रहना सीखा और समाज व्यवस्थाका स्रष्टा हुआ। क्षत्रियोंको देश-रक्षाका भार सौंपा गया—इसलिये वह राजा हुये। वैश्योंको राष्ट्रकी समृद्धिका कार्य संभाला गया—राष्ट्रोन्नतिकी रीढ वह हुये। शूद्र विविध शिल्प-विद्याओंको आगे बढानेके लिये नियत हुये। ऋषभदेवने यह वर्गभेद राष्ट्रहितसे प्रेरित होकर किया था। यह वर्गभेद मानव-मानवमें ऊंच-नीचका भेद नहीं करता था। तबही तो यह संभव हुआ था कि भरत चक्रवर्तीने तीनों वर्गों क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंमेंसे श्रेष्ठ मेधावी और चारित्रवान् पुरुषोंको चुनकर उनका ब्राह्मण वर्ग स्थापित किया था। किन्तु ऋषभदेव अपने समयके भोले मानवको लोकव्यवहारमें सभ्य और संस्कृत बनाकर सतुष्ट नही हुये, उन्होंने मानवको आत्मधर्मकाभी बोध कराया! आत्मबोधिकेबिना मानवकी ऐहिक उन्नति पङ्गु रहती है।

---

१. "नाभिनो ऋषभपुत्रो वै स सिद्धकर्म दृढव्रतः ॥"
"ऋषभस्य भरतः पुत्रः सोऽपि मन्त्रान् तदा जपेत्॥"
"एते चाऽन्ये च बहबः पार्थिवा लोकविश्रुताः ॥" —एन इम्पीरियल हिस्ट्री ऑफ् इंडिया, पृष्ठ १२-१३.

२. "कपिल-मुनिर्नाम ऋषिवरो, निर्ग्रन्थ-तीर्थंकर ऋषभः निर्ग्रन्थ रूपी।" इस उल्लेख पर प्रो. हेल्मुथ फॉन ग्लासेनप्पका निम्न वक्तव्य महत्वपूर्ण है:—

"It is very interesting to note that, together with the founder of Sānkhya philosophy, the first Tīrthaṇkara of the Jainas appears in a Buddhist maṇḍala. The reason is obvious. If the Buddhists wanted to give a complete symbolical picture of the world and the great beings who influenced its destinies in a maṇḍala, they could not omit the great prophet of a religion which though not in accord with their own, had acquired glory all over India."

—(Prof. *H. V. Glasenapp, Ph. D.* JAINA ANTIQUARY, VOL. III P. 47.)

अतः ऋषभदेवने उदाहरण बनकर मानवको बता दिया कि "सावधान! ऐहिक सम्पतिके मोहमें फसकर अपनी आत्माको मत भूलना, वरन् मानवका पतन अवश्यम्भावी है।" इसलियेही अयोध्याके इक्ष्वाकु राजसिंहासनपर अपने पुत्र भरतको स्थापित करके वह वनवासी हो गये। तनपर उन्होंने एक धागाभी न रक्खा। परिग्रहसे संघर्ष उत्पन्न होता है। अतः निष्परिग्रही होकर जीवित रहनेमें मानवका अपना और सारे लोकका भला है। यह सत्य ऋषभदेवने अपने आदर्शसे मूर्तमान बना दिया। वह अकेले, निरारंभी और निष्परिग्रही होकर गिरि-कन्दराओंमें मौन धारण किये विचरते रहे। त्रियोगकी साधनामें वह ऐसे लीन हुये कि छै महीने बाद उन्हें शरीरपोषणका ध्यान आया। वह भिक्षाके लिये आये जनताके मध्य; किन्तु तबतक जनताका अज्ञान दूर नहीं हुआ था। वह ऋषभदेवको अपना उपकारी मानती थी—उनके विछोहमे विन्हल हो रही थी। उनको आया सुनकर वह स्वागत करनेके लिये दौड पडी। ऋषभदेवकी साधनामें वह विघ्न-रूप हुई। ऋषभदेव आहार लिये विनाही वनको चले गये और ध्यान-योगमे लीन हो गये। छै महीनेतक तप-तपाकर आत्मशोधन किया उन्होंने। तब फिर वह जनताके मध्य आये। इस बार हस्तिनागपुरके शासक-द्वय श्रेयास और उनके भाईने विधिवत् बडी शान्तिसे उनका स्वागत किया—कोई कोलाहल नहीं हुआ। ताजा इक्षुरसका आहार श्रेयांसने ऋषभदेवको दिया और अतिथि सत्कारके महती पुण्य विधानको सिरज दिया। ऋषभ सर्वज्ञ परमात्मा हुये और उन्होंने लोकके लिये आत्मधर्मका निरूपण किया। चूंकि उनके समयके लोग भोले थे, इसलिये उन्होने हरएक बात अलग अलग समझाई और पाच पापोंसे मुक्त होनेके लिये अलग अलग प्रायश्चित्त और चारित्रपालनका विधान किया। इसलिये वह आदिब्रह्मा और आदि तीर्थङ्कर कहलाये। इस कालमे जैनधर्मके सस्थापक ऋषभदेव हुये!

ऋषभदेवके पश्चात् बाईस तीर्थंकर और हुये, जिन्होंने अपने २ समयके मानवोंको श्रमण धर्म और अहिंसा-सस्कृतिमें आगे बढाया। सर्व-अतिम तीर्थंकर महावीर थे। उनके समयमे मानव मायावी, वासनासक्त और वक्र हो गया था। हिंसा और वासनामें मानव अधा बना हुआ था। वानप्रस्थी और भिक्षु होकरभी वह कामिनी और सुरामिषको नहीं भूला था। स्त्रियो पर बलात्कार होते थे और शूद्र पददलित किये जाते थे। तर्कवितर्क करके समय और सम्पको क्षतविक्षत किया जाता था। जातिमद और कुलमदमें लोग मानवताको भूल गये थे। धर्मके नाम पर पशु होमे जाते थे। मानवोंको क्रीतदास बनाया जाता था। ऐसी विषम स्थितीमें तीर्थङ्कर महावीर कुण्डग्राममे अवतरित हुये थे। उन्हे ऋषभदेवके समान राज और समाजकी व्यवस्था नहीं करना पडी थी—न उनको मानवको सभ्यता और सस्कृतिकी नई-नई शिक्षा देना पडी थी। ऋषभदेव सभ्यताके विधायक और धर्मके सस्थापक थे, किन्तु महावीर सभ्य संस्कृतिके उन्नायक और धर्ममार्गके सुधारक थे। उनके समयका मानव बहका हुआ था—जानबूझ कर झूठे श्रद्धानोंमे फंसा हुआ था! आदि-कालके मानवकी भांति वह भोला और अज्ञ नही था। ऐसे मानवोंके लिये धर्मविज्ञानका निरूपण स्याद्वादतर्कणाके आधारसे करके महावीरने लोकका महती उपकार किया था। महावीरकोभी मानव-बुद्धिको संतोषित करनेके लिये धर्मसिद्धांतोंका विशद वर्णन ऋषभदेवके अनुरूप करना पडा था; किन्तु महावीरके निरूपणमें तर्कणाको विशेष स्थान था। इस लियेही वट्टकेरस्वामीका यह कथन सार्थक है

कि "अजितसे लेकर पार्श्वनाथ पर्यन्त बाईस तीर्थङ्करोंने सामायिक संयमका और ऋषभदेव तथा महावीर भगवानने छेदोपस्थापना संयमका उपदेश दिया।" छेदोपस्थापना चारित्रमें पंचपापादिके दोषोंको दूर करनेका प्रथक-प्रथक विधान होता है। यह भेदक्रम मानव प्रकृति पर समयके प्रभावका ऋणी था। इसी बातको वट्टकेर आचार्यनेभी स्पष्ट किया है कि "आदि और अन्तके दोनों तीर्थंकरोंके शिष्य चलचित्त और मूढमना होते है। शास्त्रका बहुत बार प्रतिपादन करने परभी उसे नही जानते। उन्हें क्रमशः ऋजुजड और वक्रजड समझना चाहिये, इस लिये उनके समस्त प्रतिक्रमण-दंडकोंके उच्चारणका विधान बतलाया गया है और इस विषयमे अंधे घोडेका दृष्टांत दिया गया है!" यह शास्त्रीय उल्लेख तीर्थङ्करोंके उपदेशोंकी भिन्नताके द्योतक हैं, जो मूलतः अहिंसा पर अवलम्बित थे! इनसे उनके जीवनका वैचित्र्यभी स्पष्ट होता है। ऋषभ और महावीर जीवनकी तुलना इस अन्तरको व्यक्त करती है। ऋषभका विवाह हुआ और सन्तानभी; किन्तु महावीर बालब्रह्मचारी रहे! ऋषभने राजव्यवस्थापक और राष्ट्रपिताका पद पाया, किन्तु महावीर युवराज रहे। ऋषभ राजसुख भोग कर साधु हुये। महावीर युवराज पदको त्याग कर तीस वर्षकी अवस्थामें दीक्षित हुये। मानवोंकी अज्ञताके कारण ऋषभदेवको भोजनका अन्तराय-उपसर्ग हुआ। महावीर पर समयकी वक्रताका उपसर्ग हुआ! सम्प्रदायगत द्वेषने रुद्रको बौखला दिया! ऋषभदेवने केवली होतेके साथही उपदेश दिया; किन्तु महावीर सर्वज्ञ होने परभी मौन रहे--इन्द्रभूति गौतमका समागम हुआ तब उनकी देशना हुई! इस प्रकार दोनों तीर्थङ्करोंके जीवनमें महान् अन्तर है! यह अन्तर ही दोनोंको ऐतिहासिक महापुरुष सिद्ध करता है! ऋषभदेव आर्यसभ्यता और अहिंसा संस्कृतिके प्रतिष्ठापक और जैन धर्मके सस्थापक हुये, तो महावीर अहिंसा सस्कृतिके शोधक उन्नायक और जैन धर्मके पुनरोद्धारक हुये! (चित्र नं० १) मोइनजोदडोकी प्राचीन सभ्यतासे लेकर आजतक ऋषभकी उपासना होती आ रही है।[१]

---

१. मोइनजोदडोके पुरातत्वमें ऐसी मुद्राये और चिन्ह मिले है जो जैन तीर्थकरोंके अस्तित्वके पोषक है। इनका विशद वर्णन हमने अन्यत्र लिखा है, जो 'विशाल भारत'के पुरातत्व-विशेषांक और 'जैन ऐंटीक्वेरी'में (१४।१) दृष्टव्य है। मोइनजोदडोसे उपलब्ध मुद्राओं पर अङ्कित योगियोंकी आकृतियां बिल्कुल दिगम्बर मुनियों जैसी नग्न और ध्यानमुद्रामय कायोत्सर्ग आसनमे है। प्रो० चन्दा उन्हें ऋषभदेवकी मूर्तिका पूर्वरूप मानते है। ("A standing image of Jain Rishabha in Kāyotsarga posture......closely resembles the pose of the standing deities on the Indus seals ......It may be a proto-type of Rishabha etc." Modern Review, Aug. 1932) प्रो० प्राणनाथने मुद्रा नं. ४४९ पर जिनेश्वर (जिनइइसर) शब्द पढा था। (इंडियन हिस्टॉ. क्वारटर्ली, भा० ८ परिशिष्ट इन्डस सील्स पृ० १८) उन्होंने सिंधुउपत्ययकाके लोगोंके धर्मका सम्बन्ध जैन और हिंदू धर्मोसे सिद्ध किया है। (The names and symbols on Plates annexed would appear to disclose a connection between the old religious cults of the Hindus and Jainas with those of the Indus people." (Ibid.) मोइनजोदडोकी दो एक मूर्तियां तो बिल्कुल जैनमूर्ति हैं (चित्र नं० १० व १५-१६) धाराशिव तेरपुरकी गुफाओंमें संभवतः ईस्वी पूर्व सातवीं आठवीं शताब्दिकी तीर्थङ्कर मूर्तियां उपलब्ध है। (करकुंडचरिउ--कारंजा भूमिका पृ० ४१-४८) मौर्यकालकी जिन प्रतिमा पटनासे मिली है। दो हजार वर्ष पहले मथुराके लोग ऋषभकी मूर्ति बनाते और उनकी विनय करते थे। (प्रीयताम्भगवानृषभश्री) Ep. Indica, I, p. 386.

राम और महावीर।

(ले० श्री. अयोध्याप्रसादजी गोयलीय।)

[राम और महावीर भारतके महापुरुष है। वे विश्वभूतियाँ हैं जिनका प्रकाश लोकके लिये कल्याणकर है। रामकी पितृभक्ति, धैर्य, सैन्यसचालनक्रिया आदि गुण उन्हें एक आदर्श पुत्र, योद्धा और राजनीतिज्ञ प्रमाणित करते है। राम और लक्ष्मण राजत्वके प्रतीक और मर्यादापालक पुरुषोत्तम जो थे। जैन शास्त्रोमें जिन त्रेसठ शलाका-पुरुषोंका वर्णन है, उनमें राम और लक्ष्मण नारायण और बलभद्र माने गये हैं। रामको जैनी सिद्ध-परमात्माके रूपमें पूजते हैं। महावीरभी सिद्ध परमात्मा हैं। किन्तु पहले वे तीर्थङ्कर शलाकापुरुष थे। चौवीस तीर्थङ्कर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रति-नारायण और नौ बलभद्र-यह जैनोंके त्रेसठ शलाकापुरुष है। जैनी इनको अवतार नहीं मानते, बल्कि उनकी दृष्टिमें वे हम-आप जैसे हाड-मासके मानव होते हैं, जो अपने विशेष लोकोपकारी कार्योंके कारण:महती पुण्य और महान् पदके अधिकारी हो जाते है। सबही अपने समयके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव अनुरूप समिष्टिका कल्याण करते और स्वय आत्मस्वातन्त्र्य प्राप्त करनेका उद्योग करते हैं। जो सन्मार्गसे बहक जाते है वह महान् होकरभी पतितोन्मुख होते है। राम और महावीरकी महान-ताका संतुलन भाई अयोध्याप्रसादजीने प्रस्तुत लेखमें सुंदर रूपसे किया है। निस्सन्देह महावीरकी महानताको प्रकाशित और प्रमाणित करनेवाला प्रतिभाशाली साहित्य अभी लिखा ही नहीं गया है। जैनाचार्योंने महावीरकी अपेक्षा महावीर संदेशको विशेष महत्व दिया है। उनके उपदेशों और सिद्धान्तोंको उन्होंने खूब ही सभाल कर रक्खा। उनको इस बातकी परवाह न थी कि कब, कहां और कैसे भ० महावीरने सिद्धातोंका प्रतिपादन किया था। उनके सिद्धातही लोकके लिये कल्याण मूर्त रहे हैं। किन्तु ससारका सरागी मानव अपने उपकारीके जीते-जागते दर्शन पाकर सतुष्ट होना है। अत: उसके लिये एक महती और सपूर्ण महावीर जीवन वाञ्छनीय है। —का० प्र०]

कुछ समय हुआ एक ऐसे सज्जनसे वार्तालाप करनेका अवसर प्राप्त हुआ था जो जन्मसे जैन है; जैन वातावरणमें ही सदैवसे रहते आये हैं और जैन समाजकी उन्नतिसे हर्षित तथा अवनतिसे दुखी होते हैं,फिरभी जैसी चाहिये वैसी जैन धर्मके प्रति उनकी श्रद्धा भक्ति नहीं है। वे महावीरसे रामके अधिक श्रद्धालु हैं, जैन ग्रन्थोसे गीताको अधिक उपयोगी समझते हैं।

मुझसे उन्होंने पूछाः "आपकी रायमें राम हमारे लिये अधिक अनुकरणीय हैं या महावीर? सर्व साधरण के हृदयपटल पर किसके जीवनकी विशेष छाप पडती है? किसका जीवन चरित्र पढतेही हम आत्मविस्मृत और आनन्दविभोर हो जाते हैं? इन दोनोमे हमारा सच्चा आराध्य कौन है?"

मैने कहाः "दोनो महापुरुष परम पदको प्राप्त हुए हैं, दोनोही अपने युगमे एक महान् आदर्श उपस्थित कर गये हैं, दोनोंही अपने अपने युगकी परिस्थिति और आवश्यकताके अनुसार जुदा जुदा दृष्टिकोण रख गये हैं. हमें आवश्यकता और समयके अनुसार दोनोंकाही अनुकरण करना चाहिये. हमारे लिये दोनोही आराध्य हैं!"

वे बोले : " आवश्यकताके अनुसार हमें दोनोंकाही अनुकरण करना चाहिये, आपके इस कथनका तात्पर्य मैं समझा नहीं ? "

मैंने तनिक स्पष्ट करते हुये कहा : " यदि हमारी परिस्थिति राम जैसी है यानी हमरो पिता किसी कारण हमें घरसे निकालना चाहते हैं तो हमें रामका अनुकरण करके घर छोडकर—पिताके आदेशका पालन करना चाहिये. और यदि हमारी परिस्थिति महावीर जैसी है यानी हमारे माता पिता मोहवश हमें लोकोपयोगी कार्य करनेके लिये घर नहीं त्यागने देतें हैं तो हमें महावीरका अनुकरण करके मातापिताको समझाबुझा कर उनका आदेश प्राप्त करके घर त्यागना चाहिये. धार्मिक पुरुषोंको दुष्ट प्रकृति कष्ट पहुचाते हैं, हमारी स्त्रियोका अपहरण करते हैं, तब हमें रामका अनुकरण करके धार्मिक पुरुषों और स्त्रियोंकी रक्षा करनी चाहिये. और यदि धर्मके नाम पर धार्मिक कहे जानेवाले पुरुष अबलाओं, पतितों और मूक पशुओंसे दुर्व्यवहार करें तो वहां हमें महावीरका अनुकरण करके ऐसे धार्मिक रीति रिवाजोंको नष्ट करना चाहिये. मातृ-पितृ-गुरु-भक्ति, एक-पत्नी-व्रत, बन्धु-प्रेम, अत्याचार-दमनके लिये हमें महावीरका अनुकरण करना चाहिये. दोनोकेही आदर्श हमारे लिये आवश्यकतानुसार अनुकरणीय हैं और दोनोंही हमारे लिये आराध्य हैं. "

" राम और महावीरही क्या जब जैसी परिस्थिति हो और उस समय जो मनुष्यका वास्तविक कर्तव्य हो, उसीके अनुसार अनुकरण करना चाहिये. "

" युद्धके अवसर पर अथवा मल्ल-शालाओंमें हमें हनूमान, बाहुबली, द्रोणाचार्य, अर्जुन, भीमका स्मरण करना चाहिये. उन्हींका अनुकरण करना योग्य है. वीर शत्रुसे मुकाबिला होनेपर रामका और कुटिल शत्रुसे सामना होनेपर कृष्णका अनुकरण करना चाहिये. सत्यके लिये हरिश्चन्द्र और दानके लिये कर्ण, ब्रह्मचर्यके लिये भीष्म, पातिव्रत सतीत्वके लिये सीताका अनुकरण करना चाहिये. उन्हींका आदर्श सामने रखना चाहिये. हमारे जीवनके प्रत्येक श्वासमें जिस महापुरुषके अनुकरणकी आवश्यकता पडे, हमें उसीका अनुकरण करना चाहिये. और जो परम पद प्राप्त करके आत्मासे परमात्मा हो गये हैं, उन सभीकी आराधना करना चाहिये. "

वे सज्जन बोले : " नहीं, मेरे पूंछनेका मशा यह नही है. मैं पूंछता हूं महावीर और राम इन दोनोमें महान् कौन है. "

मैने हंसकर कहा: " इन दोनों महापुरुषोंकी तुलना करना ठीक नही. रामके जीवनमें महावीर जैसा तप, त्याग, वैराग्य और लोक कल्याणकारी भावनायें ढूंढना और महावीरके जीवनमें राम जैसा युद्ध, सैन्यसंग्रहका कौशल देखना दूधमें दहीका स्वाद खोजना है.

प्रायः सभी महापुरुषोंका जीवन अपनी स्थिति आदिके अनुसार जुदाजुदा होता है और यही उनकी महानता है. उद्यानमें सभी एक रंगके फूल कुछ विशेष आकर्षणीय नहीं होते. जीवनके भिन्न भिन्न पहलूपर भिन्न भिन्न महापुरुषोके जीवनकी छाप रहती है. जो घटनायें रामके जीवनमें आईं वे महावीरके जीवनमें न आयें तो महावीर राम जैसा आदर्श कैसे उपस्थित कर सकते थे ? और जो

वातावरण महावीरके समयमें था यह कैसे कहा जा सकता है कि महावीरके बजाय तब राम होते तबभी वे तो वही लीला रचते जो पहले रची थी! "

वे सज्जन बोले: " आप कुछही कहें पर जो आनन्द 'रामायण' पढनेमे आता है वह महावीर जीवन पढनेमें नहीं आता. रामायणमें जीवनके प्रत्येक पहलूपर इस ढगसे विवेचन किया गया है कि कुछ जाननेको शेष नही रहता और महावीरके जीवनमें एक अतृप्तिसी बनी रहती है. "

मैंने कहा: " तो आप ये कहिये कि आप राम और महावीरकी तुलना उनके जीवनसे नहीं उनके कथासाहित्यसे कर रहे हैं "

उन्होने कहा: " जी हा, आप यही समझ लीजिये. "

मैंने कहा: " कथा साहित्यकी जब तुलना की जाती है तब नायककी बात गौण होकर कथाकारकी कला परखी जाती है.

जिस व्यक्तिका जीवन लिखनेवाला जितनाही कुशल होता है वह उतनाही ख्यातिको प्राप्त होता है. रामका जीवन वाल्मीकिने लिखा औरभी भवभूति आदि सस्कृत कवियोने लिखा, पर तुलसीदास मानस लिखकर जो रामको आसन दे गये वह किसीसे देते न बना.

कहते है वाल्मीकिने रामायण रामके समयमें लिखी; अतः उसकी प्रामाणिकता अन्य रामायणोसे अधिक होनी चाहिये और उसीके आधारपर अन्य सब रामायणें बनीं है. पर नहीं, तुलसीने वाल्मीकि रामायणसे कथा भाग लेते हुयेभी सैकडो वे मौलिक प्रसग उपस्थित किये है और सैकडों स्थानोंपर वाल्मीकि रामायणके दोषोंको इसतरह टाल गये हैं कि पढतेही बनता है. तुलसीने अपने रामको वाल्मीकिके रामसे बहुत ऊचा उठाया है. वाल्मीकि, भवभूति और तुलसी कृत राम-चरित पढनेसे एक प्यास बनी रहती थी और वह यहकि लक्ष्मणकी स्त्री उर्मिलाके सम्बन्धमे लोग विशेष जानकारी चाहते थे. वह पूर्ति 'साकेत' लिखकर श्री मैथिलीशरणजी गुप्तने कर दी. आपने अपने साकेतमें उर्मिलाका जो मौलिक चित्रण किया है, भरत, कैकई, माडवी आदिका जो वर्णन किया है वह इतना अनूठा और बेजोड है कि लेखकने उनको अमर कर दिया है.

मेरे कहनेका तात्पर्य यही है कि किस महापुरुषके जीवनमे जितनी घटनाये होतीं है वह सब कवि आखोंसे नहीं देखता. साधारणसे साधारण बातको प्रखर बुद्धिकी शानपर वह उसे एक महान् बना देता है. और देशकालकी स्थितिके अनुसार अपनी ओरसे मौलिक उल्लेख करता है जो कथा-नकमे चार चाद लगा देते है. जिन व्यक्तियोको ऐसे कवि मिल जाते है वह प्रसिद्ध हो जाते हैं. बाकी ख्याति प्राप्त नहीं कर पाते. रामके गुण गानेवाले वाल्मीकि तुलसी जैसे हुये, इसीसे वे ससार द्वारा जाने गये. वर्ना उनके जीवनमे कितनीही घटनाये ऐसी है जो महावीरमें तो क्या सर्व साधारणमे पाई जाती हैं. राम पिताके आदेशसे १४ वर्षको वन गये. वन जाते समय पुनः राज्य प्राप्त भी किया था; पर, महावीर उसी अवस्थामे माता पितासे स्वय आज्ञा लेकर सदैवके लिये वनमें निकल पडते हैं. रामके साथ सीता है. रक्षाके लिये लक्ष्मण है. खाना पानेके लिये स्वतत्र हैं. चाहे जब वनसे फलफूल तोडकर

खा सकते और सरोवरसे पानी पी सकते हैं. इसके विपरीत महावीर अकेले हैं, निशस्त्र हैं और अपने आप खाने पीनेकी कोई वस्तु न लेते है-न मांगते हैं, न हथियार रखते हैं और न आततायियोंसे अपनी रक्षाका उपायही करते हैं. राम विवाह कर लेते हैं महावीर विवाहतक नहीं करते !

यह सब होते हुयेभी रामकी चर्चा घरघरमें है. उनकी कथा गांवगांवमें महीनों तक होती है. उनकी लीला दिखाई जाती है. फिरभी लोगोंका मन नही भरता. इसके विपरीत महावीरका इतना तप त्यागका जीवन होते हुयेभी उन्हें वह ख्याति नहीं. इसका कारण यही है कि उनका जीवन कोई अपनी अमर लेखनीसे लिख दे, अभी तक ऐसा कोई कविही नहीं हुआ।

वर्षमें चैत्र सुदी १३, श्रावण कृष्णा १ और दीपावलीको उनके जन्म, शासनदिवस और निर्वाणोत्सव मनाए जाते है. जैनपत्रोके इन अवसरो पर विशेषांक निकलते है. पर वही एक दो बात जो सदासे सुनते आये हैं. जहां रामकी कथा महीनों कही जा सकती है, वहां महावीरकी कथा रातभरभी कहनेवाला विद्वान् नजर नही आता. इसका कारण यही है कि जिस अमरवाणीमें उनका जीवन लिखा होना चाहिये, वह नही मिलता. यह कहना कि जब लिखने योग्य घटनाही न हो तब क्या लिखा जाय, कुछ ठीक दलील नहीं है. रामकी सब बातें वाल्मीकिने देखीं या सुनी थीं क्या ? क्या उन्होंने अपनी कवित्व शक्तिसे कुछ काम नहीं लिया ? और थोडी देरको यहभी मान लिया जाये कि वाल्मीकि तो उससमय उपस्थित थे, इस लिये वे सब लिख सके; पर तुलसीदास और मैथिली-शरण गुप्त तो तब उपस्थित नहीं थे. इन्होंने अपनी अलौकिक प्रतिभाके बलपर राम कथानकमें जो नवीन चमत्कार पैदा किया है वह किस आधार पर ? अतः राम और महावीरकी तुलना उनके जीवनसे न करके उनके कथासाहित्यसे की जाती है तो मैभी निःसंकोच कहूंगा कि महावीर सम्बन्धी कथानक नहीके बराबर है.

बुद्ध, ईसा, मुहम्मदकी जीवन घटनायें जुदा जुदा है, पर चितेरोंने इस रंगमें अंकित कीं हैं कि मुंहसे बेसाख्ता दाद निकलती है. शकुन्तला क्या थी और क्या न थी, यह कौन जाने ? पर कालिदासकी शकुन्तलाको कौन भूल सकता है ?

सारांश यह कि जिस नायकको जितनाही श्रेष्ठ लेखक मिला, वह उतनाही अधिक ख्यातिको प्राप्त हुआ है. एकही डाल पर खिलनेवाले दो फूल तोडनेवालेकी बुद्धिसे एक देव पर और दूसरा कब्र पर चढ जाता है.

एकही समय और देशमें होनेवाले बुद्ध और महावीरको देखिये. बुद्धके अनुयाई ७० करोड है, महावीरके १२ लाख. बुद्धका जीवन दुनियाकी हजारों भाषाओंमें प्रकाशित हो रहा है, महावीर-का जीवन एक भाषामेंभी सम्पूर्ण नहीं है.

भ० महावीरके नाम पर लाखों करोडों रुपया दान करनेवाले जैन, उनका एक ऐसा जीवन-चरित्र लिखवा सकें, जो आत्मविभोर करदे—जो अपने अंदर सपूर्ण हो—जिसे पढकर पिपासा शान्त की जा सके, ऐसे जैन अब हैं कहीं ?" इति शम्।

महावीर हनुमान और तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर।

(ले० श्री० कुमार वीरेन्द्रप्रसादजी जैन, अलीगंज)

वीरशिरोमणि, युगपुरुष भगवान् महावीर वर्द्धमान और पवन-पुत्र महावीर हनुमानको कतिपय व्यक्ति एक बताते हैं; किन्तु उनकी यह धारणा भ्रान्त और निराधार है, क्योंकि हनुमान्जी प्राग्-ऐतिहासिक कालके महापुरुष थे। वह रामचन्द्रजीके समयमें अवतरित हुये थे एवं उन्होंने रामचन्द्रजीके साथही जीवनका अधिक समय व्यतीत किया था। पवनजय और अंजनाके सुपुत्र हनूमानजी अपने अतुल शारीरिक बलके कारण महावीर नामसे प्रसिद्ध हुए. वह विद्याधर वानर वंशी नरेश थे. कुछ लोग उन्हें वानर (पशु) कहते हैं. पर वास्तवमें वह मानवजातिके महापुरुष थे। जैनी उनको कामदेव बताते है. जैन शास्त्रोंमें उनका विशद् वर्णन हैं. उनके मतानुसार हनुमानजीने अन्तमे जैन मुनिकी दीक्षा ली तथा कठोर धर्मसाधना करके कर्म रिपुओंको मार भगाया और मोक्ष सिधारे. किन्तु भगवान् महावीर आजसे २४७५, वर्षपूर्व इस पुण्यभूमि पर अवतरित हुए थे। और वे ऐतिहासिक युगके महापुरुष थे।। जैन तीर्थंकरोंमे वह अन्तिम थे।

आजभी इतिहासके अन्तर्गत् इन जैन तीर्थंकरोंका अस्तित्व सिद्ध है, इसमें संदेहके हेतु स्थान नहीं, क्योंकि आजभी दो हजार वर्षसे पूर्वकी ऋषभादिक तीर्थंकरोंकी मूर्तियाँ प्राप्य हैं. इससे प्रमाणित है कि वे कोई महान् पुरुष, युगपुरुष पथ प्रदर्शकही थे; जिन्होंने पथ भृष्टपथिककी नाईं मारे मारे फिरते हुये आत्मोद्धार चाहनेवाले भव्य जीवोंको सच्चा मोक्ष-पथ प्रदर्शित किया था और महान् तीर्थकी स्थापना कीथी। इस महती उपकारकी स्मृतिसें उनकी मूर्तिया बनाई गई है. चौबीसवें तीर्थंकर भ० महावीरके विषयमे तो यह निर्विवादही सत्य है कि वे बुद्धके समकालीन युगवीर महापुरुष थे. महावीर वर्द्धमान लोककी बिभूति थे.

कहनेकी आवश्यकता नही कि वीरका लोककल्याण और सार्वहितका कार्य इतना प्रभावशाली था, कि सारा ब्रह्माण्ड उनके सामने नत-मस्तक हुआ था. विश्व कवि रवीन्द्रनाथजीने कहाथा, कि महावीरके उपदेशसे प्रभावित होकर सब मानव एक हुये. सबने उनकी पावन स्मृति सुरक्षित रखनेका उद्योग किया। तभी लोगोंने एक सम्वत् चलाया जो आजभी 'वीर-निर्वाण-सम्वत्' के रुपमें प्रचलित है. स्व. मम. श्री हीराचन्द्र गौरीशंकरजी ओझाको अजमेर प्रान्तके बारली नामक स्थानसे एक शिलालेख प्राप्त हुआ था, जिसके अन्तर्गत वीर निर्वाणके ८४ वर्षके पश्चात राजपूताना राज्यकी मज्झिमका नगरीमें कोई भव्य भवन बनाए जानेका उल्लेख है. आधुनिक अन्वेषक वीर निर्वाणको ईसासे ५२७ वर्ष पूर्व प्रारंभ हुआ मानते हैं. तब यह शिलालेख २३९२ वर्ष पुराना है. उसमें भ. महावीरको महापुरुष माना हैं. इससे भ. महावीर ऐतिहासिक महापुरुष सिद्ध हुए.

सराय अघत (तहसील अलीगंज)
जिला एटासे प्राप्त गुप्तकालीन सर्वतोभद्रिका जिन-प्रतिमा । (पृ. २६)
Fig. III A Quadro-Faced Jina Image from Sarāi-Aghat (Etah)
(श्री अध्यक्ष, प्रांतीय संग्रहालय, लखनऊके सौजन्यसे ।)

भ. महावीर की आमली-क्रीडा दृश्य, ककालीटीला मथुरा।
(देवकृत परीक्षाके पश्चात्, देव प्रसन्न होकर बालक महावीर को कधेपर बैठाकर घुमा रहा है)
Fig. II Prince Mahāvīra with His Play-Mates and Celestial Deva
('महावीर हनूमान और तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर'–शीर्षक लेखसे सम्बन्धित)

ईसासे पूर्व द्वितीय शताब्दिमें कलिङ्गका जैन सम्राट खारवेल था; जिसके पौरुष तथा राज्य विस्तारके लिये सेनाकी व्यवस्थित तीव्र गतिका वर्णन देखकर सुप्रसिद्ध विद्वान श्री काशीप्रसादजी जायसवालने सम्राट खारवेलका नामकरण किया थाः "भारतका नेपोलियन". इनके हाथीगुफा वाले लेखमें उल्लेख है कि खारवेलका सौन्दर्यभी भगवान महावीरके सदृश्य था. इसमें यहभी लिखा हैकि भ. महावीरने कुमारी पर्वतपर आकर उपदेश दिया. उक्त कथनसेभी प्रमाणित होता है कि भ. महावीर तत्कालीन युगके महाविभूति थे.

इतनाही नही इसके अतिरिक्त भिन्न भिन्न स्थानोंपर भ. महावीरकी अनेक मूर्तिया प्राप्त हुई है. ये मूर्तिया उनकी ऐतिहासिकताके प्रमाण है. जिलाएटाकी तहसील अलीगंजके अन्तर्गत सराय अघहत नामक स्थानसे प्राप्त गुप्तकालीन चतुर्मुखी मूर्ति अत्यन्त मनोहर दृश्य है। (चित्र नं. ३) लखनऊके संग्रहालयमें कंकाली टीला मथुराकी खुदाईसे प्राप्त कुछ जैन मूर्तिया तथा शिलालेख संग्रहीत हैं. उनमें एक शिला पट्ट ऐसा है जिसमें भ. महावीरका जन्म कल्याण देवगण मनाते दर्शाये हैं. उसी सग्रहालयमें भ. महावीरकी जननी महारानी त्रिशलाकीभी सुन्दर मूर्ति है. (J ६२६) इस मूर्तिकी कलाकुशलता अनुपम तथा हृदयग्राही है. मथुरा संग्रहालयके अन्तर्गतभी एक शिलापट्ट कुशान कालका है, इसमें भ. वीरके कुमार कालका उस समयका चित्र चित्रित है, जिस समय वे बालसखाओंके साथ आंख मिचौनी खेल रहे थे तथा देवने परीक्षा ली थी, (चित्र न. २) उपरिलिखित इन प्रमाणोंसे यह सिद्ध है कि भ. महावीर ऐतिहासिक महापुरुष थे!

अन्ततोगत्वा हम इस निस्कर्षपर आते हैं कि भ. महावीर ऐतिहासिक महाविभूति तथा श्री हनुमानजी पौराणिक महापुरुष थे. यदि श्रीहनुमानजी श्रीरामचन्द्रजीके समयमें रामचन्द्रजीकी सहायता कर मैत्री का सुन्दर स्वरूप दे आत्म कल्याण कर मोक्ष सिधारे; तो भ. महावीरने अपने आत्म सयमसे आध्यात्मिक तत्वों सत्य, अहिंसा शीलादिकी अटूट एवं अविचल चट्टानपर खडे होकर लोक-कल्याण किया और मोक्ष पधारे. इस प्रकारसे इन उभय महापुरुषोंका व्यक्तित्व भिन्न भिन्न सिद्ध है !!

कृष्ण और महावीर !

(श्री० हरिसत्य भट्टाचार्य, एम. ए., बी. एल.)

[श्रीकृष्ण बावीसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमिके समकालीन थे। जैनियोंके त्रेसठ शलाकापुरुषोंमें वे अन्तिम नारायण थे। 'हरिवंश पुराण'में उनका विशद चारित्र मिलता है। जैनी श्रीकृष्णजीको भावी तीर्थंकरके रूपमें पूजते हैं। वैष्णवजन उनके दर्शन भक्तरूपमें करते हैं और उनकी सरस लीलाओंके बाह्य रूपमें मग्न रहते हैं। कृष्ण लीलाके आध्यात्मिक रहस्यको वे नहीं पहिचानते। चीरहरण-लीला उनको आत्मबोध करानेमें कारणभूत नहीं होती। भक्तजन नहीं समझते कि गोपियां इन्द्रियोंकी प्रतीक है–उनको वस्त्रादि विहीन करना वासनाओंको छीन लेना है। किन्तु कृष्ण-उपासनाका दार्शनिक रूपभी है, जिसका प्ररूपण 'भगवद्गीता'मे हुआ है। श्रीभट्टाचार्यजीने कृष्णजीकी तुलनामें उनके इस दार्शनिक रूपकोही दृष्टिमें रक्खा है। पाठक इस अध्ययनसे दोनों महापुरुषोंको ठीक रूपमें समझ सकेंगे। —का० प्र०]

हमारा यह लोक दुख-शोककी लीलाभूमि है। राजमुकुटको धारण किये हुये शक्तिशाली सम्राट्का हृदयभी यहा पीडासे खाली नहीं है। सयोग-वियोगकी आखमिचौनी यहां होती रहती हैं। रोग, शोक और मृत्युके दुख नित नये होते है। दुनियामें उनसे बचा कौन है ? महावीरके बिचारशील मन पर इन बातोकी गहरी छाप पडी थी - दुनियाकी चीजोमे उनके लिये न कोई आकर्षण था और न मोह ! छटवीं शताब्दि ईस्वी पूर्वके प्रबल शासक क्षत्रिय सिद्धार्थ और वैशाली-के प्रसिद्ध राजा चेटककी पुत्री रानी त्रिशलाके उस विचक्षण पुत्रका बुद्धिकौशल, बल और विवेक सर्वोपरि था। वीरने पूंछा : "इस दुखसे मुक्ति पानेकाभी कोई मार्ग है ? मानवके अनन्त दुख-शोककाभी कोई अन्त है ?"

तीस वर्षके उन युवा और राज्यके उत्तराधिकारी महावीरने इस प्रश्नको हल करनेके लिये घर-बार छोडा और आत्मसयमकी कठोरतम साधनामे वह लीन हो गये। साधनाका फल उन्हें मिला, जो वह चाहते थे। वह सर्वज्ञ हुये। उन्हें परम सुखका मार्ग सूझ गया ! वह अपने युगके महा मानव हुये। उनके हृदयमे यू तो सबके लियेही विश्वप्रेमका सोता बहता था, परतु तिरस्कृत, अपमानित और दलित जीवोंके प्रति उनकी करुणा अपार थी। उन्होंने सबके लिये अनुभव किया और सबके लिये मोक्ष मार्गकी घोषणा की ! दलित दासकन्या रूप चन्दना पर वह सदय हुये और वह आर्यिका सघकी नेत्री हुई ! महावीरने अपने अभयदायक सुखसन्देशको तीस वर्षों तक ठौर-ठौर विचर कर फैलाया। सन् ५२७ ई० पूर्वमें जब उन्होंने पावापुरसे निर्वाणधाम पाया, तो यह स्वाभाविक था कि बडे बडे राजा और सारा जनसमुदाय कृतज्ञता ज्ञापनके लिये उनका निर्वाण कल्याणोत्सव धूमधामसे मनाता और दीपावली रचाता ! हुआभी यही !

महावीरके इस सक्षिप्त वृत्तान्तसे स्पष्ट है कि उनके सदेशकी आधारशिला अहिंसा थी।

'किसीको कष्ट न पहुचाओ, सबका भला करो '–यह उनका परम सिद्धान्त था। उनका महान् करुण हृदय लोकके–प्राणियोके दुखशोकका अनुभव करता था–दुखकी महान् विषमताको वह जानते थे। इसीलिये उन्होंने धर्मका मूल सिद्धान्त अहिंसा घोषित किया!

* * *

एक अत्याचारी शासकके अन्यायने जिनके निरपराध माता-पिताको कारावासमें रक्खा, जिनके नवजात शिशुभाई अकालकालकवलित किये गये और स्वयं राजपुत्र होते हुयेभी दूर-दूर देशमें ग्वालोंके बीच नृशंस कंसके घातक प्रहारके भयमें जिन्हें रहना पडा, उन कृष्णको सचमुच अपने जीवन अस्तित्वके लिये बचपनसेही लडना पडा। अभी वह पूरे युवाभी नही हुये कि लोकने जाना, "वह रहेंगे या अत्याचारी कंस!" पर कसही क्यो? कृष्णका महान् और प्रबल शत्रु तो जरासिंधु आ निकला। अपनी, अपने कुलकी और सभी शान्तिप्रिय लोककी क्षेम-कुशलके लिये कृष्णको जरासिंधु परभी चक्रप्रहार करना पडा! शान्त लोकके द्रोही अत्याचारी लोगों जैसे शिशु-पाल, सल्व आदिको भीतो उन्हें यमके घाट उतारना पडा था। किन्तु क्या इन कृत्योंसे लोकमें धर्मराज्यकी स्थापना हुई थी? सचमुच नही! पशुबल पर तुले कौरव और पाडवोंको कैसे भुलाया जावे? कृष्णने शान्ति और न्यायके लिये सधि करानी चाही, तो मदमत्त कौरव-पांडव परिहास करने लगे! परिणाम कुरुक्षेत्रका नृशंस और घातक महाभारत युद्ध हुआ! कृष्णके परिजन और सम्बन्धी लोगही वासनामें अंधे हुये अधार्मिक जीवन विताने लगे और अकाल मृत्युके शिकार हुये। विचारिये कृष्णके हृदय पर मानव प्रकृतिकी इस नृशस प्रगतिका क्या प्रभाव पडा होगा! उनके चहुंओर नीच क्रूरता नंगी नाच रही थी! इन जीवन घटनाओंने कृष्णको कर्म करनेके लियें प्रेरणा की-उन्होंने घोषित किया, "मानव कर्म करनेमें रत रहे, परंतु उनके फलकी इच्छा न करे!" निष्काम कर्म करना कृष्णका ध्येय था!

* * *

महावीर और कृष्ण–दोनोंही दुनियांकी बुराईकी तह तक पहुचे हुये थें! दोनोनेही लोकको मुक्तिका संदेश दिया। किन्तु महावीरने अपनी असीम करुणासे प्रेरित हो दुखी दुनियाको अहिसा का सिद्धात दिया! सबको विश्वप्रेमका पाठ पढाया। इसके विपरीत चूंकि कृष्णको अपने जीवन-अस्तित्वको स्थिर रखनेके लिये अन्याय, अत्याचार और अनाचारसे जूझना पडा था, इसलिये उन्होंने कर्ममय सन्यासकी शिक्षा लोगोंको दी। इस प्रकार कृष्ण और महावीरने जिस मानवधर्मका प्रतिपादन किया वह उनके विभिन्न जीवन व्यवहार और दृष्टिकोणपर अवलम्बित हैं। महावीर स्वभावसे बडे दयालु और कृपालु थे। इसलिये उन्होने मानवको सिखाया कि वह किसी प्राणीकी हिंसा न करे और सबके साथ भलाई और अच्छाईका व्यवहार करे। जीवनकी विषमताओने कृष्णको कर्म करनेकी आवश्यकता दर्शाई; इसलिये उन्हें संसारके प्रलोभन थोथे भासे। उन्होंने मानवका कर्तव्य निर्धारित किया कि "मानव कर्म करे, परंतु फल पानेकी आकांक्षा न करे।"

किन्तु इस कथनसे यह न समझना चाहिये कि भारतमें सन्यास और अहिंसा सिद्धान्तोंका

प्रतिपादन पहले पहले कृष्ण और महावीर द्वारा हुआ था। वास्तवमें बात यू नहीं है। सत्य यह है कि कृष्णने सन्यास धर्मका व्यवस्थित निरूपण नये ढंगसे किया था और महावीरने फिरसे अहिंसाकी सार्थकता सिद्ध की थी। वैसे अहिंसाधर्मका निरूपण महावीरसे पहले अनेक तीर्थङ्करों द्वारा किया जा चुका था। जैनियोंके अतिरिक्त वैदिक धर्मानुयायियोंनेभी सीमितरूपमें अहिंसाका पालन किया था। सन्यास धर्मके लियेभी यही बात घटित हुई। उपनिषदोंमें सन्यास धर्मकाही विवेचन मिलता है। सबही भारतीय दर्शनोंमें सन्यासको अपनाया गया है। जैनियोंनेभी उसके महत्वको पहिचाना है। महावीरने अहिंसाको नया व्यवहारिक रूप दिया और कृष्णने बताया कि सन्यास धार्मिक जीवनका मूलाधार कैसे बन सकता है? दोनों महापुरुषोने किन्हीं नये सिद्धान्तोंका उपदेश नहीं दिया।

कृष्णने अद्वैतवादके दार्शनिकरूपमें मानवधर्मकी विचारणा की। उनके निकट एक ब्रह्मके अतिरिक्त शेष सब माया (छाया non-existence) है। जीवात्माभी ब्रह्मरूप है। इस सिद्धातके अनुसार लोक तो छाया (illusion) मात्र है-फिर परके प्रति धर्म हो ही क्या सकता है? तोभी लोक व्यवहारकी सत्तासे इनकार नही किया जा सकता! इसलिये छायाका लोभ या मोह न करके निष्काम कर्म करना मानवके लिये उचित है। कृष्णने इस सिद्धांतको आगे बढाया था।

जैनी लोकको छाया अथवा असत्व (non-existence) नहीं मानते। उनके निकट लोक शुद्ध द्रव्योंका क्रियाक्षेत्र है। अलबत्ता जैनी यह मानते है कि सांसारिक पदार्थ आत्माके स्वभावसे प्रतिकूल है। इसलिये वे अग्राह्य हैं। इस हद तक जैन धर्ममेभी सन्यासका महत्व स्वीकार किया गया है। जैन सिद्धातके अनुसार (१) लोकमें अनन्त जीव हैं (२) और वे जीव कर्म-मल द्वारा अनादिकालसे मलिन हैं, जिसके कारण वे संसारमें भ्रमण करते और दुख उठाते है। अतः जैनाचारका निरूपण इस सिद्धातके अनुकुल होना अनिवार्य रहा है। निस्सन्देह जैनी आत्मोन्नति करनेके साथही संसारके दुखी और सघर्षमें लीन अपने साथियोंको कैसे भूल जाते? अतः मानवधर्म उनके निकट एक यथार्थ वस्तु रही है। दूसरोका उपकार करना जीवके लिये स्वाभाविक है। महावीर अपने समयके जैनियोंमें प्रधान थे और उन जैसा कोमल एव दयालु हृदय किसीका नहीं था। उन्होंने अपने चहुओर देखा कि लोकके सभी प्राणी दुख-शोकके सघर्षमें जर्जरित हो रहे हैं। उनका ध्यान निकट और प्रत्यक्षसे दूर गया। उन्होंने अनुभव किया, सभी युगों, कालों और क्षेत्रोंमें सांसारिक जीवोंके भाग्यमें ससृतिके दुख और शोक लिखे हुये है। उन्होंने अपनी मुक्तिमेंही सतोष नहीं माना, बल्कि दुखी ससारकी मुक्तिके लियेभी कुछ करना उन्हें आवश्यक जचा! अतः उन्होंने घोषित किया कि मानवका परमधर्म अहिंसाको पालना है। वह अहिंसा नहीं, जो मानवको दीनहीन बनादे! दीन भिखारीके आगे बडे गर्वसे पैसे फेंक देना अहिंसा नहीं है। अहिंसा तो महान् धर्म है। उसके पालनसे तो अपना और पराया सबका उत्कर्ष और गौरव होना चाहिये। इसलिये महावीरने अहिंसाको मुख्य धर्म माना और बताया कि अहिंसाका पालन किये बिना कोई मुक्त नहीं हो सकता!

कृष्ण और महावीरके जीवन और सिद्धांत उनकी महानता स्वतः प्रमाणित करते हैं। इति शम्।

महावीर और बुद्ध।

(ले० श्री० कामताप्रसाद जैन)

अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर वर्द्धमानके समकालीन म० गौतम बुद्ध थे, जिन्होंने बौद्ध धर्म्मकी स्थापना की थी। जो लोग जैनधर्म्म और बौद्धधर्म्मको एक माननेकी भूलमें पडे हुये हैं, वह देखें कि दोनों धर्म्मोंके संस्थापक जुदे जुदे थे। ऋषभदेवने जैनधर्म्मकी स्थापना महावीर और बुद्धसे बहुत पहले की थी; जब कि गौतम बुद्धने बौद्धधर्म्मको पहले पहले उससमय चलाया जिससमय जैनधर्म्मके तेईस तीर्थङ्कर हो चुके थे और चौबीसवें तीर्थङ्कर महावीर उसका पुनर्संस्कार करके प्रचार कर रहे थे। प्रो० ल्यूमानने महावीर और बुद्धकी तुलना करते हुये लिखा था कि "महावीरका जन्म ई० स० पूर्व ५७० के आसपास हुआ। वह महान् विजेता रूपमें प्रसिद्ध हुये। बुद्ध ई० स० पूर्व ५५० के लगभग जन्मे और बुद्ध अर्थात् ज्ञानी कहलाये। ये दोनों महापुरुष अर्हन्त (पूज्य), भगवन्त (प्रभू), और जिन (विजेता) नामोसे ख्यात थे। किन्तु महावीरकी तीर्थङ्कर संज्ञा उसी प्रकार निराली है जैसे बुद्धकी तथागत! दोनों महापुरुषोंके क्रमशः यही नाम लोकप्रिय और प्रचलित थे। तीर्थङ्करका शब्दार्थ 'तारनहार' अथवा 'मुक्तिमार्गके प्रदर्शक' होता है। तीर्थंकरका भावार्थ मार्ग-दर्शक समझना ठीक है। 'तथागत'का शब्दार्थ होता है 'ऐसे गये जो' अर्थात् 'सच्चे मार्ग पर चढे जो।' तथागतका भावार्थ 'आदर्शरूप' ठहरता है। महावीर ज्ञातृकुलमे और बुद्ध शाक्य-कुलमें जन्मे थे। इसलिये महावीर 'ज्ञातृपुत्र' और बुद्ध 'शाक्यपुत्र'भी कहलाये थे! शाक्यपुत्र अपेक्षा शाक्यमुनिभी वह कहलाये। घरके भाई-बन्धुओमे महावीर 'वर्द्धमान' और बुद्ध 'सिद्धार्थ' नामसे प्रख्यात् थे। बुद्ध नामकी अपेक्षासे उनके अनुयायी बौद्ध (Buddhist) कहलाये और महावीरकी जिन सज्ञाके अनुरूप उनके अनुयायी जैन (Jinist) नामसे प्रसिद्ध हुये।"[१] इस प्रकार महावीर और बुद्ध दो प्रथक महापुरुष ठहरते है और दोनोंके धर्मभी स्वाधीन थे। जैनधर्म और बौद्धधर्म एक दूसरेकी शाखा नहीं थे और नहीही उनका उद्गम वैदिक धर्म्मसे हुआ था। अलबत्ता जैनधर्म बौद्धधर्मसे प्राचीन है,[२] किन्तु बौद्धधर्मका साम्य जैनधर्म्मसे अधिक है। बौद्धधर्म्मके अनेक पारिभाषिक शब्द (Technical Terms) और सिद्धान्त नितान्त जैनधर्मके अनुरूप हैं।[३]

---

१. बुद्ध अने महावीर (पूना १९२५), पृष्ठ १२-१३.

२. "Jainism played an important part in the religious history of ancient India. There can be no doubt that it (Jainism) is older than Buddhism. According to tradition the principles of Jainism existed in India from the earliest times." —Dr. B. C. Law, M. A., B. L., Ph. D., D. Litt. etc.

३. विशेषके लिए स्व० ब्र० शीतलप्रसादजीकृत "जैन-बौद्धतत्वज्ञान" (सूरत) नामक पुस्तक देखो।

अहिंसा-दया और मैत्री भावनाको जैनकी तरह बौद्धभी विशेष महत्व देते हैं। ससार और वासनासे दोनोंही मानवको सावधान करते हैं। दोनोंही कर्मसिद्धांत को मानते और आश्रव-बध शब्दोंका व्यवहार करते है। किन्तु यह सादृश्य बाह्यरूपमेही है। गहरे उतरनेपर जैनोंकी अहिंसा और कर्मसिद्धात बौद्धोंकी अहिंसा और कर्म्मसिद्धान्तसे विलक्षण ठहरते हैं। जैन अहिंसाका पालक मांस-मदिराको कभी छू नहीं सकता, किन्तु बौद्धभिक्षुगणतक मृतमास ग्रहण करनेमें सकोच नहीं करते। विनयपिटकमें ऐसे उल्लेख हैं जिनसे भासता है कि स्वयं बुद्धने मास भोजन किया था[1]। उपरान्त बौद्धोके 'लकावतार सूत्र'में 'मास-भक्षणपरिवर्तो' नामक आठवें अध्याय द्वारा मासभक्षणका विरोध बुद्धके मुहसे अवश्य कराया गया है[2]। मूल पिटकसूत्रोमेभी जब हम बुद्धको एक जैनके समान त्रस-स्थावरकी रक्षा करने, रात्रि भोजन न करने, वनस्पतिकायकी विराधना न करनेका सूक्ष्म दयामय उपदेश देते देखते है, तो संशयमे पडते है। हो सकता है कि 'सूकर मद्दव' आदि शब्दोका अर्थ बुद्धदेवके निकट मास-मत्स्य न होकर कोई विशेष प्रकारका शाकभोजन रहा हो। श्वेताम्बर जैन सूत्रग्रंथोंमें 'माज्जारकडे' — 'कुकुडमसये' आदि

---

१. 'जीवकसुत्तन्त' (२।१।५), 'मज्झिमनिकाय' (हिन्दी, पृ. २०० और 'महावग्ग' (६।१५।२) में म. बुद्धके १२५० भिक्षुओं सहित मासभोजन करनेका उल्लेख है।

२. "भगवास्तस्मै तदवाचत्। अपरिमितैर्महायते कारणैमास सर्वमभक्ष्य कृपात्मनो वोधिसत्वस्य-तेभ्यस्तूपदेशमात्रं वक्ष्यामि।" इन शब्दोंके 'लंकावतारसूत्र' में म. गौतम बुद्धके मुखसे मासाहारका निषेध कराया गया है, जिससे स्पष्ट है कि बौद्धोंमें मासाहारके विरुद्ध भावना जागृत हुई थी। चीन-जापानके कतिपय बौद्धभिक्षु इस समयभी मास नहीं खाते है। (विशेषके लिये 'जैन-बौद्ध तत्वज्ञान' (सूरत) पुस्तक पृ. १८४।१८९ देखिये।)

३. 'सुत्तनिपात'के धम्मिकसुत्तमें दयाभाव रखनेके लिये स्थावर और त्रस जीवोंके प्राण न लेनेका उपदेश ठीक जैन शास्त्रके अनुरूप है :—

"पाणं न हाने न च घातयेय्य न चानुजञ्ञा हनतं परेस।
सब्बेसु भूतेसु निधायदंडं ये थावरा ये च तसंति लोके॥"

'महावग्ग' (६) केणियजटिल प्रसगमें लिखा है — "श्रमण गौतमभी रातको उवरत = विकाल भोजनसे विरति हैं। अर्थात् गौतम बुद्ध रात्रिको भोजन नहीं करते हैं।" — बुद्धचर्य्या, पृ. १६७.

"सामञफलसुत्त" (दीर्घनिकाय) १:६:२ मे साधुधर्ममें बताया है कि "साधु बीज-ग्राम-भूत-भूतग्रामके नाशसे विरत होता है। एकाहारी, रातको (भोजनसे) विरत, विकाल भोजनसे विरत होता है। मूलबीज, स्कंधबीज (डाली जो उगती है), फूलबीज, अग्रबीज और पांचवां बीज–बीज–यह या इस प्रकारके बीजग्राम–भूतग्रामके विनाशसे विरत होता है।" वनस्पति कायकी रक्षाका ऐसाही विवेचन जैनशास्त्र 'गोम्मटसार' (जीवकाड) की योगमार्गणामें किया हैं। वहा वनस्पति (१) मूलबीज, जैसे हल्दी, अदरक; (२) अग्रबीज जैसे आर्यक, (३) पर्वबीज जैसे साठा-गन्ना; (४) कदबीज जैसे पिंडालू-सूरण; (५) स्कंधबीज जैसे पलास; (६) बीजबीज जैसे गेहू चना और (७) सम्मूर्छन मिश्रित बीज। साधु इनकीभी रक्षा करता हैं। जीवदया पालनमें बुद्धनें पूरा ध्यान रक्खा; किन्तु परिस्थिति वश संभवतः उनको मृत मासकी छूट रखना पड़ी। (जैन–बौद्ध तत्वज्ञान, पृ. १७६-१७८),

शब्दोंका प्रयोग वनस्पति विशेषके लिये हुआ मिलता है[1]। किन्तु बौद्धोंके 'विनयपिटक' ग्रंथमें सेनापति सीहका प्रकरण इस अनुमानमें बाधक है[2]। वहां बैलके बध करने और वह बैलका मांस बुद्धको आहारमें अर्पित करनेका स्पष्ट उल्लेख है। इससे यह अनुमान होता है कि बुद्ध स्वय और अपने अनुयायियोंको प्राणिहत्यासे दूर रहनेके लिये जैनोंके समानही सावधान रखते थे; किन्तु जब कोई ग्रहस्थ उनको वह मांस देता था जो उनके उद्देशसे नही मारे गये पशुकी हत्यासे प्राप्त हुआ हो, तो वह ले लेते थे[3]। बर्मा आदि देशोंके बौद्ध आजभी इस भ्रामक धारणासे मृतमांस ग्रहण करते हैं। जैन धर्ममें ऐसा कोई संदिग्ध स्थल नहीं है— उसमें मांसभोजनका सर्वथा निषेध है। 'पुरुषार्थ सिद्धयुपाय' में उसे स्पष्ट हिंसा पापका कारण और त्याज्य कहा है:—

"न विना प्राणविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात्।
मांस भजतस्तस्मात्प्रसरत्य निवारिता हिंसा ॥ ६५ ॥
यद्यपि किल भवति मांस स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मंथनात् ॥६६॥
आमास्वपि पक्कास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥ ६७ ॥"

भावार्थ — "विना प्राणियोंके मारे मांस नहीं होता है, इसलिये मांस खानेवालेके अवश्य हिंसा होती है। यद्यपि स्वय मरे हुए भैंस, बैलादिकाभी मांस होता है, तोभी नही खाना चाहिये, क्योंकि उनमें उनके आश्रयसे पैदा होनेवाले अनेक जंतुओंकी हिंसा होगी। मांसकी डली चाहे कच्ची हो, चाहे पकी हो, चाहे पक रही हो, उसमें उसी जातिके जतु निरंतर पैदा होते है, जिस जातिके पशुका वह मांस होता है!" इसलिये मांस अभक्ष्य है। श्वेताम्बर जैनोंके 'सूयगडांग' (सूत्रकृताङ्ग) ग्रंथमें दूसरे श्रुत-स्कंधके छठे अध्ययनमें अडतीस गाथाओंके अन्तर्गत मांसाहार करनेवालोंका वर्णन करके अन्तमें लिखा है:—

"ये यावि भूजन्ति तहप्पगारं सेवन्ति ते पावम जाणमाणा।
मणं न एयं कुशलं करन्ती, वायावि एसाबुइया ऊमिच्छा ॥"

---

१. 'मार्जारो विरालिकाभिधानो वनस्पति विशेष'—अभयदेवसूरि। 'भगवतीसूत्र'में 'माज्जारकडे'का अर्थ मुग्धपर्णी वनस्पति किया है। 'अभिधानसंग्रह–निघंटु'में कपोतको 'कपोताण्ड–तुल्य फल' और कुक्कुटको वनस्पति विशेष (श्रीवारकः शितिवरीवितुन्नः कुक्कुटः शिति) लिखा है।

२. महावग्ग ६:३१:११ (SBE. XVII) p. 115.

३. "जीवक, तीन प्रकारके मांसको मैं (बुद्ध) भोजन कहता हूं:— अदृष्ट, अश्रुत, अपरिशंकित (= जीवका अपने लिये मारा जाना न देखना, न सुनना और न शंका होना.)—जीवकसुत्तन्त (२।१।५) मज्झिमनिकाय (हिन्दी) पृ० २०० 'महावग्ग' (विनय पिटक ६:३१:२४) मेंभी उपर्युक्त तीन शर्तोंसहित मछली खानेका विधान है। इस तरह अहिंसाको मानते हुयेभी बुद्ध मांसभोजनके सर्वथा विरोधी नहीं थे।

अर्थात् — 'जो भी उस प्रकारका आहार करता है, वह पापको न जाननेवाले अनार्य मानवकी सेवा करता है ; परतु कुशल मनुष्य मांस भक्षणके पापको जानता है, उसकी अभिलाषाभी मनमें नहीं करता है—ऐसी (मास भोजन-विधान-जैसी) मिथ्या वाणी बोलताभी नहीं।'। इस प्रकार जैन और बौद्ध अहिंसाका अन्तर स्पष्ट है।

यही हाल कर्मसिद्धांतका है। महावीरके समानही बुद्धभी कर्मसिद्धांतको स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। बुद्ध इस बातको मानते हैं कि प्रत्येक प्राणी अपने किये हुये शुभ अथवा अशुभ कर्मोंका फल पाता है। जबतक रूप, वेदना, संस्कार और विज्ञानकी सतान चलती रहेगी तबतक अनेक जन्मोंमें प्राणीको भ्रमण करना पडेगा। जब सब आस्रव क्षीण होगे, तब क्षय होगा और क्षयसे निर्वाणकी प्राप्ति होगी[1]। किन्तु इस विवेचनसे यह स्पष्ट नही कि बुद्धभी महावीरके अनुरूप कर्मको एक विशेष सूक्ष्म पुद्गलकी आत्मा पर प्रक्रिया रूप मानते थे, जो आस्रव (=आगमन), बध (=स्थिति-विपाक) और निर्जरा (=क्षय) की अवस्थाओंसे युक्त है। अलवत्ता बौद्धसाहित्यमें निम्न प्रकार आस्रव और संवर शब्दोका प्रयोग हुआ मिलता है :—

(१) 'आसवा संवरा पहा तव्वा।' (= आस्रवोंको सवरसे दूर करना चाहिये).

(२) 'भिक्खु सव्वासव सवेर संवुतो विहरन्ति' (= भिक्षु सर्व आस्रवोका सवर करता हुआ विहार करता है)। —मज्झिमनिकाय, इत्तियसुत्त, सव्वासव सुत्त।

(३) 'जिसकर्मफलके लिये अनेक सौ वर्ष, अनेक हजार वर्ष नर्कमे पचना पडता उस कर्मविपाकको ब्राह्मण, तू इसी जन्ममें भोग रहा है।'

—बुद्धचर्या पृ० ३७० (अङ्गुलिमालसुत्त)

इन उद्गारोंमें आस्रव, संवर और कर्मविपाक शब्दोंका प्रयोग हुआ है, जिनसे यह ध्वनित होता है कि बुद्धभी कर्मपुद्गलका आना और फल देना मानते थे, परतु उन्होने 'बन्ध' तत्वको जैनकी तरह नहीं माना है। इस लिये यह शकास्पद है कि उन्होंने महावीरके समानही कर्म-पुद्गलको आस्रव, बंध, सवर और निर्जरा माना है। बध और निर्जरा नामक तत्व बौद्धधर्ममे नही है[2]। इस प्रकार बाह्य सादृश्य होते हुयेभी दोनों धर्मोंकी मान्यताओंमें अन्तर है।

---

१. जैन-बौद्ध तत्वज्ञान (सूरत), पृष्ट १४४–१५३.

२. *Bandha*—In Jainism it means bondage. In Buddhism, it means Samyojanā. *Nirjarā*—There is nothing like this in Buddhism.

—Dr. B. C. Law, M.A, B L., Ph.D, D Litt (Foreword to Bhagawāna Mahāvīra Aur Mahātmā Buddha, p. 11).

आस्रवके विषयमें जैकोबीने लिखाथा कि विचार पर विशेष असर करनेवाले बाह्य जगतके प्रभावको बौद्ध आस्रव कहते हैं। यह भाव जैनधर्मके आस्रवसे प्रकट होता है, क्योंकि जीव पर कर्मपुद्गल असर करता है, यह मान्यता केवल जैनदर्शनमेंही है। —जैनधर्म (गुजराती) पृ ४६४.

किन्तु महावीर और बुद्धदेवके सिद्धांतोंमें इसप्रकार बाह्य सादृश्य होनेका कारणभी होना चाहिये। वह कारण जैनाचार्य देवसेनके 'दर्शनसार' ग्रन्थको देखनेसे स्पष्ट होता है। उसमें लिखा है कि तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथके तीर्थके आचार्य पिहिताश्रवके शिष्य बुद्धकीर्ति मुनि हुये, जो भ्रष्ट होकर मत्स्य भक्षक और अपने मत-बौद्धधर्मके प्रणेता हुये[1]। अपने साधुजीवनमें जैन मुनिचर्याका पालन बुद्धने किया था-इस बातको उन्होंने निम्नलिखित शब्दोंसे स्वीकार किया है; बुद्ध कहते हैं:—

"वहां सारिपुत्र! मेरी यह तपस्विता थी-अचेलक (नग्न) था। मुक्ताचार, हस्तापलेखन (हथचट्टा), नष्ट हिमादन्तिक (बुलाई भिक्षाका त्यागी), न-तिष्ट-भदन्तिक (ठहरिये कह, दी गई भिक्षाको), न अपने उद्देश्यसे किए गएको और न निमन्त्रणको खाता था। ... न मछली, न मांस, न सुरा पीता था। ... शाकाहारी था। ... केशदाढी नोचनेवाला था।" — मज्झिमनिकाय, १।२।२, (हिन्दी), पृ. ४८-४९.

बुद्धकी यह चर्या बिल्कुल दिगम्बर मुनिकी चर्याके अनुरूप है। अतः यह स्पष्ट है कि जैन-मुनिपदसे भ्रष्ट होकर बुद्धने 'मध्यमार्ग' का निरूपण किया था। इसलियेही उनके मतका सादृश्य जैनमत और उसके सिद्धांतोंसे है!

जैनोंकी महान् तपस्यासे घबडा कर बुद्ध मध्यमार्गी बन गये — न वह गृहस्थोंकी तरह वासनासक्त थे और नहीं ही श्रमणोंके अनुरूप घोर तपस्वी। वानप्रस्थी परिव्राजकोंके समान, बुद्धने सन्यासी जीवनमे स्त्री-सुखकी शिथिलताकाभी निरोध किया था। उसके विपरीत महावीर योगी और महातपस्वी रहे। डॉ. ल्यूमानने ठीक लिखा था कि "महावीर केवल साधुही नहीं, तपस्वीभी थे। किन्तु बुद्धको बोध प्राप्त होनेपर वह तपस्वी न रहे-मात्र साधु रह गये वह! बुद्धने अपना पुरुषार्थ जीवनधर्मपर लगाया। इस प्रकार महावीरका उद्देश्य आत्मधर्म हुआ तो बुद्धका लोकधर्म! बुद्धने अपना उद्देश्य आत्मधर्मसे विकसित करके लोकधर्म स्थिर किया। इसीकारण वह प्रख्यातभी खूब हुये। बुद्धकी दृष्टि लोक समाजपर लगी-वह सबके थे और उनका आत्मयोगभी सबके लिये था। इस प्रकार उनका धर्म महावीरके धर्मसे सर्वथा-स्पष्टरीतिसे जुदा ठहरता है! महावीरके धर्ममें सर्वोच्च भावना आत्मयोग और आत्मत्यागकी है! प्रत्येकबुद्ध और बुद्ध- इन दो शब्दोंका अर्थ भेद दोनों महापुरुषोंके भेदको स्पष्ट करता है। प्रत्येक बुद्धका अर्थ यह कि 'जो अपने लिये ज्ञानी हुआ हो।'

---

१. "सिरिपासणाहतित्थे सरयूतीरे पलासणयरत्थो।
पिहियासवस्स सिस्सो महासुदो वुड्ढकित्तिमुणी ॥ ६ ॥
तिमिपूरणासणेहिं अहिगयपवज्जाओ परिब्भट्टो।
रत्तंवरं धरित्ता पवट्टियं तेण एयंतं ॥ ७ ॥
मंसस्स णत्थि जीवो जहा फले दहिय-दुद्ध-सक्करए।
तम्हा तं वंछित्ता तं भक्खंतो ण पविट्ठो ॥ ८ ॥ —दर्शनसार

विशेषके लिये "भ० महावीर और म० बुद्ध" (सूरत) पृ० ४८-५२ और "जैन बौद्ध तत्वज्ञान" पृष्ट २००-२०४ देखो।

और बुद्धका अर्थ यहकि ' वह पुरुष जो सबके लिये ज्ञानी हुआ हो ! ' पहला ज्ञानी एकान्तमें रहता हुआ अपनी आत्मशुद्धि करके संतोष मानता है । दूसरा, लोकसमाजमें विचरता और उपदेश देते हुएभी आत्मशुद्धिका प्रयत्न करता है । महावीरको एकान्तवासी प्रत्येकबुद्धकी संज्ञातो दी नहीं जा सकती, क्यों कि वहभी लोकसमाजमें विचरते थे । बुद्धकी तरह महावीरकेभी अनेक शिष्य थे और उनका अपना संघभी था । महावीर संघका विस्तारभी होता रहा है । भारतकी सीमाके बाहर यद्यपि उसका विस्तार अधिक नहीं हुआ, परन्तु भारतमे उसका अस्तित्व आजतक है ।... अतः महावीरका स्थान प्रत्येकबुद्धसे ऊंचा है । निस्सन्देह महावीर उन महापुरुषोंमें थे जो आत्म-चिन्तवनपर विशेष ध्यान देते थे और उनके शिष्यगण आत्मोद्धारके लिये विशेष पुरुषार्थ करते थे । इस प्रकार प्रत्येक बुद्ध और बुद्ध-इन दोनों श्रेणियोके ऊपर महावीर थे[1] । " वह थेभी एक तीर्थंकर, जिन्होंने योग और ध्यानकी पराकाष्ठाको पहुचकर मन-वचन-कायकी सीमाओंको जीत लिया था । उन्हें मानवोंके मध्य घूम-फिर कर वैयक्तिक सम्बन्ध स्थापित करनेकी इच्छाही नहीं रही थी । वह यत्र-तत्र निर्मोही होकर विचरते थे । उनकी अमित दया निरन्तर जीवोंको अभय और सुखी बनानेमे कारणभूत थी । धर्मका विश्लेषण मनोविज्ञानके आधारसे करके उन्होंने आत्मज्ञानका उपदेश दिया था । उनके धर्मविज्ञानमें प्रत्येक प्राणी स्वाधीन था—उसे दूसरेका मुह ताकनेकी आवश्यकता न थी । वह स्वय पुरुषार्थ करे और सुख-समृद्धिको पा ले । बाह्य समृद्धिको महावीरने हेय बताया था । इसलिये उनके शिष्य आत्मोद्धारके कार्यमें संलग्न रहते थे । वह अपना आत्मोपकार करते थे और लोककाभी ! आत्म-स्वातंत्र्य-प्राप्तिका यह मार्ग बुद्धके मध्यमार्गसे अधिक संयममय और श्रमसाध्य था । किन्तु जो व्यक्ति उसके रहस्यको पहिचान लेता था, उसके निकट वह अति सरल और आनन्दका मार्ग था ! वह इस जन्मके संयोग-वियोगके दुखोसे भयभीत होकर वासनासक्त नहीं रहता था और भविष्य जीवनके स्वरूपको समझ कर जन्म-मरणको जीतनेके लिये पुरुषार्थ करता था । महावीरने प्राणीमात्रको बता दिया था, वह क्या है ? लोक क्या है ? लोकसे उसका सम्बन्ध क्या है ? सुख-दुख उसकी आत्म-भ्रान्तिके परिणाम है । इसलिये भ्रान्ति-मुक्त होना उपादेय है ! बुद्धदेवने लोक और परलोककी ओर ध्यान नहीं दिया । उन्होंने ससारके दुखो और उनसे मुक्त होनेके लिये इस जीवनको संयमित बनाने पर जोर दिया । यह जीवन सुधार लिया तो भविष्यभी सुधर जायगा । बात तो ठीक थी; परंतु बुद्धिकी जिज्ञासाको इतनेसे सतोष नहीं होता । इसलिये महावीरने जीवन-विज्ञानका निरूपण किया—मानवको इस जीवन और भावी जीवनका वैज्ञानिक बोध उन्होंने कराया । इससे मानवके मन और बुद्धि दोनोंको संतोष हुआ और वह इस जीवनके साथही भावी जीवनकोभी सफल बनानेमें समर्थ हुआ !

" मज्झिमनिकाय "के ' सामगामसुत 'से स्पष्ट है कि जिस समय बुद्ध सामगाममें थे, उस समय ज्ञातृपुत्र महावीर पावासे मुक्त हुये थे[2] । महावीर-निर्वाणसे कुछ समय पश्चात् बुद्ध दिवंगत हुये थे ।

---

१. बुद्ध अने महावीर (गुज०) पृ०, १८–२०.

२. " एकम् समयम् भगवा सक्केसु विहरन्ति सामगामे, तेन खो पन समयेन निगन्ठो नातपुत्तो पावायम् अधुना कालकत्तो होति । —मज्झिमनिकाय भा० १ पृ० ९३.

तुम सफल आराधना........!

(श्री० ज्ञानचन्द्र अलया)

१

तुम सफल आराधना, तुम गान पूरे!
थक न जाए सृष्टि, तुम गति-दान पूरे!!
जब मनुजता त्रस्थ थी, पशुता विकल,
छा रहा था क्षिति-क्षितिज पर एक छल;
उस विषम वातावरणको चीरते,
तब तुम्हीं तो मुस्कराए थे, सबल!
तुम धराके धर्म, युग-अभिमान पूरे!!
तुम सफल आराधना, तुम गान पूरे!
थक न जाए सृष्टि, तुम गति-दान पूरे!!

२

पुण्यकी जागी सुषुप्ता चेतना,
संकुचित, सिमटी सलज्जा वेदना;
मौन माया-मेघ-मद-मसिसे भरे
ढर गए पलमें, नया दिनकर तना!
पापके प्रति तुम सदा पाषाण पूरे!
तुम सफल आराधना, तुम गान पूरे!
थक न जाए सृष्टि, तुम गति-दान पूरे!!

३

आजभी तुम प्रेरणाके बिन्दुसे,
या निरन्तर साधनाके सिन्धुसे!
चिर-चमत्कृत मन-नभोंके बीचही;
नव उदित निकलङ्क पूरे इन्दुसे!
अन्य सब आधे कि तुम कल्याण पूरे!
तुम सफल आराधना, तुम गान पूरे!
थक न जाए सृष्टि, तुम गति-दान पूरे!!

भं० महावीर और म० गांधी !

(श्री० कामताप्रसाद जैन)

अहमदाबादमें वि० स० १९१६ के वीरजयन्ती उत्सवमें स्व० म० गांधीने पधारकर जो भाषण दिया उसमें आपने कहा था कि "महावीर स्वामीका नाम इससमय यदि किसीभी सिद्धान्तके लिये पूजा जाता हो तो वह अहिंसा है। मैंने अपनी शक्तिके अनुसार संसारके जुदे जुदे धर्मोका अध्ययन किया है और जो जो सिद्धान्त मुझे योग्य मालूम हुये हैं, उनका आचरणभी में करता रहा हू। मैं मानता हू कि प्रत्येक धर्मकी उच्चता इसी बातमें है कि उस धर्ममे अहिंसाका तत्व कितने परिमाणमे है और इस तत्वको यदि किसीनेभी अधिकसे अधिक विकसित किया हो, तो वे महावीर स्वामी थे[१]।" इस प्रकार म० गाधीकी दृष्टिमे भ० महावीर अहिंसाके सर्वश्रेष्ठ प्रणेता थे। अब उनकी परस्पर तुलना भला क्याकी जावे ! भ० महावीर धर्मयुगके क्रान्तिकारी वैज्ञानिक महा-पुरुष थे और म० गाधी कल-युगके क्रान्तिमय सुधारवादी नेता ! उनकी वाणी कहती है कि भ० महावीरसे उन्होंने बहुतकुछ सीखा था। इस युगमें भ० महावीरके अनन्य भक्त शतावधानी जैन कवि राजचन्द्रजी हुये हैं। म० गाधीजीने इन कवि राजचन्द्रजीके विषयमें एकबार अहमदाबादमें कहा था कि "मेरे जीवन पर श्रीमद्राजचन्द्रभाईका ऐसा स्थायी प्रभाव पडा है कि मैं उसका वर्णन नहीं कर सकता। यूरुपके तत्वज्ञानियोमें मैं टाल्स्टॉयको पहली श्रेणीका और रस्किन को दूसरी श्रेणीका विद्वान् समझता हू; पर श्रीमद्राजचन्द्रभाईका अनुभव इन दोनोसे बढा-चढा था[२]।" इस प्रकार श्रीमद्राजचन्द्रजीके सम्पर्कमे आकर म० गाधीने भ० महावीरकी शिक्षाका परिचय पाया था-इस अध्ययनसे वह ऐसे प्रभावित हुये कि अहिंसाको उन्होंने अपने जीवनका आधार-स्तंभ बनाया और उसके अनुसार सत्याग्रह सग्राममें विजय पाकर भारतको स्वतत्र बनाया।

निस्सन्देह जैन धर्माचार्योका प्रभाव उनके हृदय पर बचपनसे पडा था। उनकी माके गुरु जैन धर्मानुयायी बेचरजी स्वामी थे और उनके पिताजीके पासभी जैनधर्माचार्य आते थे, जिनकी धर्मचर्चा वे सुना करते थे[३]। विलायत जानेके प्रसगमें म० गाधीजीने अपनी "आत्मकथा"में लिखा है कि "माता बोली-'मुझे तेरा विश्वास है। पर दूर विदेशमें कैसा होगा ? मेरी तो अकल काम नहीं करती। मैं बेचरजी स्वामीसे पूछूगी।' बेचरजी स्वामी मोढ बनियेसे जैन साधु हुए थे। जोशीजीकी तरह सलाहकारभी थे। उन्होंने मेरी मदद की। उन्होंने कहा कि मै इससे तीनों बातोंकी प्रतिज्ञा लिवा लूंगा। फिर जाने देनेमे कोई हर्ज नहीं। तदनुसार मैंने मास, मदिरा और स्त्रीसगसे दूर रहनेकी प्रतिज्ञा ली। माताजीने इजाजत दे दी।[४]" इस प्रसंगसे स्पष्ट है कि महात्माजीके अहिंसक

---

१. जैन जगत्, १ अप्रेल १९२७ से. २. आत्मसिद्धि से.

३. आत्मकथा (प्रथम खड) अजमेर, पृष्ठ ६८. ४. आत्मकथा (१ भाग) पृ० १६.

जीवनके निर्माणमें भ० महावीरकी अहिंसा ही कार्यकारी थी। जैन साधुनेही उन्हें अहिंसा व्रतको आंशिक पालनेका प्रण कराया था। आगे अफ्रीकाके अनुभवोंने गांधीजीको धर्मतत्व समझनेके लिये उत्साहित किया था। उससमय उनको जैन कवि श्रीराजचन्द्रजीसे वस्तुतत्व समझनेमें विशेष सहायता मिली थी। वह स्वयं लिखते है कि "कितनेही धर्माचार्योंके सम्पर्कमें मैं आया हूं, प्रत्येक धर्मके आचार्योंसे मिलनेका मैने प्रयत्न किया है, पर जो छाप मेरे दिलपर रायचंदभाईकी पडी वह किसीकी न पड सकी।...रायचंदभाईने अपने सजीव संसर्गसे, टाल्स्टॉयने 'वैकुंठ तुम्हारे हृदयमे है' नामक पुस्तकद्वारा, तथा रस्किनने 'अन्टु दिस लास्ट–सर्वोदय' नामक पुस्तकसे मुझे चकित कर दिया[५]।" अफ्रीकाकी कठिनाइयोंके प्रसंगमें म० जीने लिखा है कि "मैंने अपनी दिक्कते रायचन्दभाईको लिखी। हिन्दुस्तानके दूसरे धर्मशास्त्रियोंसेभी पत्रव्यवहार किया। उनके उत्तरभी आये। परन्तु रायचंदभाईके पत्रने मुझे कुछ शान्ति दी। कविजीके साथ तो (पत्रव्यवहार) अन्ततक रहा। उन्होने कितनीही पुस्तकें भेजी। उन्हेंभी पढ गया। उनमें 'पंचीकरण'–'मणिरत्नमाला'–'मुमुक्षप्रकरण' योगवासिष्ठ-हरिभद्रसूरिका 'षट्दर्शनसमुच्चय' इत्यादि थे।"[६] अतएव म० जीके शब्दोसेही भ० महावीरके धर्मका जो प्रभाव उनपर पडा, वह स्पष्ट है।

नेटाल (अफ्रीका) से म० गांधीने राजचंद्रजीको एक पत्र लिखकर सत्ताइस प्रश्न आत्मधर्म विषयक पूछे थे, जिनका उत्तर कविजीने तभी अपने पत्रमें दिया था जिसे उन्होंने कुंआर वदी ६ सं० १८५० को लिखा था। यह प्रश्नोत्तर कवि राजचंद्रजीकी पुस्तक 'आत्मसिद्धि' के प्रारभमें दिये हैं, जो स० १८७५ में बम्बईसे प्रकाशित हुई थी। इस प्रश्नोत्तरके अवलोकनसे स्पष्ट होता है कि महात्माजीके धर्मसिद्धांन्तोका निर्माण कवि राजचन्द्रजीके उत्तरों पर कितना निर्भर था। उदाहरणतः अहिंसाविषयक प्रश्न लीजिये। म० जीने पूंछा था कि "सर्प काटने आवे तो उससमय हमें स्थिर रह कर उसे काटने देना उचित है या मार डालना?" कविजीने उत्तर दिया था कि "इस प्रश्नका मैं यह उत्तर दू कि सर्पको 'काटने दो' तो बडी कठिन समस्या आकर उपस्थित होती है। तथापि तुमने जब यह समझा है कि 'शरीर अनित्य है' तो फिर इस असार शरीरकी रक्षार्थ उसे मारना क्योकर उचित हो सकता है जिसकी कि शरीरमें प्रीति है–मोहबुद्धि है! जो आत्महितके इच्छुक हैं उन्हें तो यही उचित है कि वे शरीरसे मोह न कर उसे सर्पके आधीन कर दें। अब तुम यह पूछोगे कि जिसे आत्महित न करना हो उसे क्या करना चाहिये? तो उसके लिए यही उत्तर है कि उसे नरकादि कुगतियोमे परिभ्रमण करना चाहिये। उसे यह उपदेश कैसे किया जा सकता है कि वह सर्पको मार डाले। अनार्यवृत्तिके द्वारा सर्पके मारनेका उपदेश किया जाता है; पर हमें तो यही इच्छा करना चाहिए कि ऐसी वृत्ति स्वप्नमेंभी न हो!" कहना न होगा कि महात्माजीने अपना अहिंसा सिद्धांत इस आर्य-सत्यके आधार पर निर्धारित किया था। यही कारण है कि ता० १५ अगस्त ४७ को जब भारत स्वतंत्र घोषित हुआ और देशमें साम्प्रदायिक विद्वेषाग्नि जोरसे भडकी तो उन्होने अत्याचारियोंके प्रतिभी दयामय व्यवहार करनेका उपदेश दिया–बदला न लेनेके

---

५. आत्मकथा १।१५८–१५९. ६. वही, पृ० २३१–२३३.

लिये सावधान किया। मानव हतबुद्धि होकर भयकर सर्प बन गया तो क्या उसके अशोभन क्रूर कार्यसे रुष्ट होकर विवेकी अपना आर्यधर्म भुला दे? नहीं! महात्माजोने कहा कि बदलेसे द्वेष नहीं मिटता, बल्कि प्रेम और क्षमासे द्वेषका अन्त किया जा सकता है! भ० महावीरनेभी कहा था कि 'शान्तिसे क्रोधको जीतो।' (उवसमेण हणे कोह)। इसतरह हम पाते हैं कि म० गांधीद्वारा भ० महावीरके उपदिष्ट सिद्धांतोंकाही प्रसार हुआ था।

म० गांधी खानपानमें पूर्ण शाकाहारी और दिवाभोजी तो थेही; पर परीक्षाके समयमेंभी वह उसपर दृढ रहे। एक बार उनके पुत्र मणिलालजीको तीव्र ज्वर हुआ और डाक्टरने मुर्गीके अंडेका शोरवा एकमात्र औषधि निर्धारित की! औषधिरूपमें एक अबोध बच्चेको अडेका शोरवा देनेमें डाक्टरने कोई हर्ज न समझा और गाधीजीसे जोर देकर कहा कि दीजिये उसे। हिन्दू घरोंमें आये दिन ऐसा होता है। किन्तु म० जीको डाक्टरकी यह बात नहीं रुची। पुत्र मोहमें वह स्वधर्मसे विचलित नहीं हुये। शोरवा नहीं दिया, बल्कि पानीका इलाज किया। मणिलालजी अच्छे हो गये। इस दृढतासे वह खानपानमे अहिंसाका ध्यान रखते थे।

यद्यपि म० जी अपनेको 'वैष्णव' कहते थे, क्योंकि वह जन्मतः वैष्णव थे; पर वह वैष्णवका बडा व्यापक अर्थ करते थे, जिसके कारण कहना होगा कि वह सम्प्रदाय और जातिकी सीमासे ऊपर उठ गये थे। वे गुणके पुजारी थे। इसी लिये तो उन्होने हरिजन उद्धारकी बात कही और भगी वस्तीमें ठहरे। भ० महावीरके इस उपदेशको उन्होने मूर्तिमान् बनाया था कि ऊंची जातिमें जन्म लेनेसे कोई ऊंचा नहीं होता। मनुष्य अपने कर्मसे ब्राह्मण होता है, कर्मसे क्षत्रिय होता है, कर्मसे वैश्य होता है और कर्मसे शूद्र होता है।

जैनोकी तरहही म० जी प्रत्येक जीवको ईश्वररूप मानते थे। वह ईश्वरको मानव हृदयमें विराजमान बताते थे। उन्होने स्पष्ट कहा था कि "मेरा ईश्वर तो सत्य और प्रेम है। नीति और सदाचार ईश्वर है, निर्भयता ईश्वर है, ईश्वर प्रकाश और जीवनका मूल है। ईश्वर अन्तरात्मा है। ईश्वरके उतनेही नाम है जितने पृथ्वीपर प्राणी हैं और इसलिये हम उसे बिना नामकाभी कहते हैं और चूंकि उसके अनन्त रूप है इस लिये हम उसे अरूपभी कहते है।" (नवजीवन, ५.३.२५) श्री समन्तभद्राचार्यजीने अहिंसाकोही परमब्रह्म घोषित किया था।

जैनधर्ममे सत्य-अहिंसादि व्रतोके साथ सल्लेखना व्रतका विशेष महत्व है। सल्लेखना व्रत समतासे मरनेकी कलाको सीखना है—नश्वर देह और शाश्वत आत्माको पहिचानना है। अतएव उपसर्ग होने परभी—युद्धमे शत्रुसे मर्माहत होने परभी समतापूर्वक मरनेकी कलाको सीख लेना सल्लेखना है। म० गाधीने इस तत्वको माना था और स्पष्ट कहा था कि "मरनेका इल्म सीखनेके बादही धर्ममें ताकत पैदा होती है। धर्मके वृक्षको मरनेवालेही सींचते हैं। बहादुर लोग मरते मरतेभी मारनेवालोंकी शिकायत नही करेंगे। न उन्हें सजा दिलवानेकी बात सोचेंगे, क्योंकि मारनेवाले सजासे छूट जानेवाले नहीं है। हम तो मरते वक्तभी सबका, मारनेवालोकाभी भला चाहनेकी कोशिश करते हुये

मरेंगे।"[1] जो उन्होंने कहा, वह करके दिखा दिया—अपने हत्यारोंके प्रतिभी वह दयालु रहे। महान् थे वह।

म० महावीरने जिस प्रकार अहिंसाको परम धर्म माना और लोक जीवनमें उसको प्रतिष्ठापित किया, उसी प्रकार उनके पश्चात् म० गांधीने अहिंसाके प्रयोगोंको मानवी जीवनमें सफल बनाया। उन्होंने स्पष्ट घोषित किया कि "कुछ लोग तलवारसे हिन्दूधर्मको बचानेकी बात करते हैं। वे तलवार लेकर कवायद करते हैं। यह सब क्यों? मारनेके लिये। इस तरह हिन्दूधर्म बढनेवाले नहीं हैं। सत्यसेही धर्म बढता है। "'सत्यान्नास्ति परोधर्म' और 'अहिंसा परमो धर्मः' भी हिन्दूधर्मने सिखाया है[2]।"

म० महावीरको म० गांधीने अहिंसाका महान् उपदेशक माना और उनके अनन्यभक्त कवि राजचंद्रजीसे धर्मतत्वको समझ कर जीवन सफल बनाया और भारतवासियोंको आत्मस्वातंत्र्य-भोगका सुख सुलभ कराया। हमारा कर्तव्य है कि सत्य और अहिंसाको जगमें सजीव बनावें।

गुञ्जरित होगा अहिंसक वीरके सन्देशका रव!

(रचयिता: श्री० कल्याणकुमार जैन, 'शशि')

१

विश्वके हित वह रहा हो
प्रेमका अविश्रान्त निर्झर
रोम रोम स्वतंत्र हो बन्दी
न हो जीवन हृदय स्वर!

२

एक्यता समता क्षमा
सौहार्द्र जागे उत्तरोत्तर
शान्ति जननी शुद्ध हार्दिकता
बहे जगमें निरन्तर!

३

विश्व रक्षाके लिये
अन्तर सदा हो प्रोत्साहित
हो धरामय घोर हिंसा
भावना होकर पराजित!

४

आज हिंसा रह गई
बुझते प्रदीपोंका उजाला
विश्वमें होगा अहिंसा
सत्यका फिर बोलबाला!

५

फिर वहायेगा निरर्थक रक्त
मानव का न मानव
गुञ्जरित होगा अहिंसक
वीरके संदेशका रव!

६

जग-जलानेके लिये
कोई न फिर दीपक जलेगा
अमर जीवन दीप जल कर
विश्वमें तमहर बनेगा!

७

आज हिंसा दानवोंके केन्द्रमें भीषण प्रलय हो!
विश्वके हित 'वीर' के सन्देशकी जगमें विजयहो!!

१-२. "विश्ववाणी"—श्रद्धाञ्जलिअङ्क, पृष्ठ १९२-१९३.

ज्ञातृ-पुत्र महावीरकी जन्मभूमि वैशाली।

(ले० महापंडित श्री० राहुल सांकृत्यायनजी, प्रयाग)

[प्रस्तुत लेखमें महापंडित राहुल सांकृत्यायनने जो प्रकाश भगवान् महावीर के जन्म स्थानके विषयमें डाला है, उस पर जैनोंको विशेष ध्यान देना उचित है। मुजफ्फरपुर जिलेका वसाढ नामक ग्रामही प्राचीन वैशाली और कुंडग्राम प्रमाणित हुआ है। वसाढकी खुदाईसे ऐसे चिन्ह मिले हैं, जिनसे सिद्ध है कि वैशाली वहीं पर आवाद थी। चीनसे जो यात्री आये उन्होंनेभी अपने यात्रावृत्तोंमें इसी स्थान पर वैशालीकी स्थिति सूचित की है। जैन शास्त्रोंसेभी यह सिद्ध होता है कि वैशालीके पासही भगवान् महावीरकी जन्मभूमि कुंडग्राम अवस्थित थी। वसाढके खण्डहरोंमें वैशाली, कुंडग्राम और वनीय ग्रामके स्मृति-चिन्ह रूप अवशेष वसाढ, वसुकुंड और वनिया, नामके ग्राम मिलते हैं। जैनशास्त्रोंके निम्न लिखित अवतरणोंसे वैशाली और कुंडग्राम विदेह देशमें अवस्थित प्रमाणित होते हैं।

" तएण से कूणिएराया . . . . वसमाणे वसमाणे अंगजण वयस्स मज्झ मज्झेण जेणेव विदेहे जणवए जेणेव वेसाली नयरी तेणेव पहारेत्थ गमणाए। —निरयावलियाओ।

इससे सिद्ध है कि अंग देश (विहार प्रान्तका भागलपुर जिला) से चल कर विदेह देशमें पहुँचा जाता था जहां वैशाली अवस्थित थी। ' हरिवंश पुराण ' सेभी स्पष्ट है कि कुडग्राम विदेह देशमें था और वहीं राजा चेटककी राजधानी वैशाली थी। (विदेह इति विख्यातः स्वर्ग खंडसमः प्रियः। . . . . . सुखांभः कुडमाभाति नाम्रा कुंडपुरं पुरं। . . . . . . चेतश्चेटक राजस्य यास्ताः सप्तशरीरजाः अतिस्नेहा कुलं चक्रुस्तावाद्या प्रियकारिणीं। इत्यादि) श्रीपूज्यपाद आचार्यभी कुंडपुरको विदेह देशमें बताते हैं (भारतवास्ये विदेह कुडपुरे) इन और ऐसे अन्य उल्लेखोंसे वैशाली और कुडग्रामका विदेह देशमें अवस्थित होना स्पष्ट है। विहारवासियोंने वसाढको भगवान महावीरकी जन्मभूमि मान कर उसका उद्धारकार्य प्रारम्भ कर दिया है और महावीर जयन्तीके दिन वहां उत्सवभी मनाया जाता है। किन्तु खेद है कि जैनी अभीतक यहभी निश्चित नहीं कर सके हैं कि भगवान महावीरकी जन्मभूमि कहॉपर है? राजगृह और नालन्दाके खडहरोंके पास वसा हुआ वडागांव नामक स्थान कदापि भगवान महावीरका जन्मस्थान नहीं हो सकता है। अतः जैनोंको चाहिये कि वसाढमेंही भगवान महावीरके जन्मस्थान तीर्थकी स्थापना करें। महापडित राहुलजीके कथनको उन्हें व्यवहारिक रूप देना उचित है। —का० प्र०]

ईसा पूर्व पांचवीं छटी शताब्दिमें वैशालीका गणराज्य बहुतही शक्तिशाली राष्ट्र था। वह उत्तरीय भारतके मगध, कौसल, वत्स और अवन्तीके विशाल राज्योंसे शक्तिमें समकक्षता करता था। समय आया, जब राजतन्त्रके प्राबल्यके सामने गणों (प्रजातन्त्रों) का विनाश हुआ; यद्यपि ये काम होनेमें शताब्दियां लगीं और भारतका अन्तिम गण-तन्त्र यौधेय ई० चौथी शताब्दिके अन्तमें लुप्त हुआ। अपने जीवनकी पिछली तीन शताब्दियोंमें यौधेय गणका वही उच्च स्थान था, जोकि अपने समयके वैशालीके गणतन्त्रका था। गुप्तों द्वारा यौधेय गणका जब उच्छेद हुआ, वीर यौधेय अपने नगरों अग्रेया, ओस, खण्डिल आदि से निकलकर जहा तहा विखर गए, और अग्रवाल, खण्डेलवाल,

औसवाल, बर्न-वाल, रोहतगी (रस्तोगी) आदि नामोंसे प्राख्यात हुए। आजभी यौधेय (हरियाना) की भूमिसे निकलीं इन जातियोंमे ज्ञातृ-पुत्र महावीरकी शिक्षाका आचरण या धर्मके रूपमें अस्तित्व पाया जाता है। महावीर एक बलशाली जनसत्ताक गणमें पैदा हुए और दूसरे गणसे निकले लोगोंमें आज उनका धर्म सुरक्षित है। सोलह शताब्दियो तक निरकुश स्वदेशी विदेशी राजाओके जूयेके नीचे दबता पिसता भारत आज फिर एक विशाल प्रजातन्त्रके रूपमें परिणत हो रहा है। गण-तत्री धर्म-वाले हम बौद्धों और जैनियोके लिए यह अभिमानकी बात है।

यह आकस्मिक बात नहीं है, कि बुद्ध और महावीरको जन्म देनेवाले राजतन्त्र नहीं, प्रजा-तन्त्र थे। बुद्ध शाक्योके प्रजातन्त्रमे पैदा हुए, और महावीर वैशालीके लिच्छवियोके प्रजातन्त्रमे! लेकिन यह कितने आश्चर्यकी बात है, कि महावीरके अनुयायी आज उनकी जन्मभूमिको भूल गए, और वह उसे लिछुवार (मुगेर जिला) में ले गए। लिछुवार अंग देशमे है, लेकिन जैन ग्रन्थोंके अनुसार महावीरको वैशालिक कहा गया। "विदेह जच्चे, विदेह सुडमाले" का वचन बतलाता है, कि उनका जन्म विदेह देशमें हुआ था। विदेह और वृजि (वैशाली वाला प्रदेश) आपसमें वैसाही सम्बन्ध रखते थे, जैसा कोसल और शाक्य। एकबार कोसलराज प्रसेनजितने बुद्धसे कहा था "भगवानभी कोसलक हैं और मैंभी कौसलक हू." वस्तुतः गंगा-गण्डकी (तत्कालीन मही) कोसी और हिमालयके बीचके सुन्दर उर्वर समतल भूमिका नाम विदेह था। हां, भाषाकी दृष्टिसे एक होते हुयेभी किन्ही राजनैतिक कारणोंसे इस भूमिका वह भाग जो आज मुगेर और भागलपुर जिलोंके गगाके उत्तरीय अशके रूपमे परिणत हो गए है–को अगुत्तराय (आप=गगाके उत्तर वाला अंग) कहा जाता था। यही प्रदेश गुप्तकालमें तीर भुक्ति (नदियोके तीर वाली भुक्ति=सूबा) कहा जाने लगा, जिसकाही अपभ्रश आजका तिर्हुत शब्द है। विदेहकी राजधानी मिथला नगरी थी। काशी था देशका नाम, किन्तु पीछे उसकी राजधानी बराणसी (बराणस, बनारस) का पर्याय वाची बन गया। यही बात विदेहके साथ उलटी तौरसे हुई और वहां राजधानी मिथिलाके नामने सारे देशको अपना नाम दे दिया। इसी विशाल विदेह भूमिका पश्चिमी भाग था लिच्छवि गणका वृजि देश, जिसकी राजधानी थी वैशाली। इस प्रकार ज्ञातृपुत्र महावीर 'वैशालिक' भी थे, 'वेदेहिक' भी थे।

भगवान महावीरको ज्ञातृ-पुत्र या ज्ञातृ-सन्तान कहा गया है। पालीमें ज्ञातृका रूप 'नात' बन गया है। नातिका (ज्ञातृका) नामका एक महा ग्राम वैशाली प्रजातन्त्रमें था। वैशाली (बसाढ) और उसके आसपास अबभी एक प्रभावशाली जाति रहती है, जिसे जथारिया कहते हैं। यह भूमिहार या पछिमा ब्राह्मण जातिकी एक शाखा है। जहां छपरा, गोरखपुर, बलिया आदि जिलोंमें भूमिहारके लिए ब्राह्मणका प्रयोग आश्चर्यके साथ सुना जाता था, वहां दरभगा, भागलपुर आदिके मैथिल ब्राह्मण भूमिहार ब्राह्मणोंको पछिमा ब्राह्मणही नहीं कहते, बल्कि उनके साथ रोटी बेटीके सैकडों उदाहरण मिल सकते है। जथरिया शब्द ज्ञातृसे अपभ्रश होकर बना है। इसके सिद्ध करनेके लिए बहुत परिश्रमकी आवश्यकता नहीं–ज्ञातृसे ज्ञातर फिर जातर–उपरान्त जतरिया, जथरिया। लेकिन कितने जथरियो और उनसेभी अधिक भूमि-हारोकी इस पर घोर आपत्ति है। वह इसलिए, कि आज

के जथरिया भूमिहार होनेसे जब कि ब्राह्मण होनेका दावा करते हैं, वहां प्राचीन ज्ञातृ क्षत्रिय थे। उनके ध्यानमे नहीं आता कि ऐसाभी समय था, जब कि आर्योंमें ब्राह्मण-क्षत्रियका भेद न था। एकही पिताके दो पुत्रोंमें एक राष्ट्ररक्षक खड्गहस्त क्षत्रिय होता और दूसरा देव अर्चक स्रुवाधारी ब्राह्मण। वस्तुतः ईसा पूर्व पन्द्रहवीं सदीमे कुरु पाञ्चालकी भूमिमें ब्राह्मण क्षत्रिय भेदका बीजारोपण हुआ। यही दोनों जनपद थे, जिन्होंने सर्व प्रथम राजतन्त्रको स्वीकार किया। प्रजातन्त्रोंने बहुत पीछे तक इन भेदोंको स्वीकार नहीं किया, न ब्राह्मणोंकी प्रधानता तथा उनके जाति श्रेष्ट होनेकोही। ज्ञातृ उसी तरहका प्रजातन्त्रीय आर्य थे। आयुध जीवी आर्य होनेसे उन्हें क्षत्रियभी कहा जाने लगा था, किन्तु वे वस्तुतः उन आर्योका प्रातिनिधित्व करते थे, जिनमें ब्राह्मण क्षत्रियका भेद न हो पाया था। इसलिए जथरियोको ज्ञातृ कहे जानेसे एक सीडीनीचे उतरनेका भय नहीं होना चाहिए। फिर प्रजातन्त्रीय भारतमें तो वह भय औरभी अनावश्यक है जब कि हमें निश्चित जान पडता है, कि आगे सभीकी रोटी बेटी एक होने जा रही है।[1]

जथरिया तरुणोमें तो कितने स्वीकार करने लगे हैं, कि भ० महावीर उन्हींके वंशके थे। लेकिन हमारे जैन भाई तो अबभी इसे माननेके लिए तैयार नहीं हैं, कि वैशाली (बसाढ) ही वह नगरी थी जिसके उपनगर कुण्डग्राममें वर्द्धमानने जन्म लिया था! जिन्होंने मानव दुर्वृत्तियों पर जय प्राप्त कर 'जिन्' बन-अपनी महती वीरताके लिए महावीर नाम पा प्रसिद्ध हुए। यह बडे आश्चर्य की बात है कि जैन परम्परामें भ० महावीरके निर्वाण स्थान और जन्म स्थान दोनोंको भुला कर उनकी जगह नये स्थानोको स्वीकार किया। कुण्ड ग्रामको वैशाली और विदेहसे हटा कर अगमें (लिछुआर) और निर्वाण स्थान मल्लोंकी पावा (जो पडरौनाके पास पपौर हो सकती है) से हटा कर मगधके आधुनिक स्थान पावापुरीमे ले गए।

वैशालीके निवासी जागृत हुए हैं। भारतीय प्रजातन्त्रमें अपने समयके अत्यन्त बलशाली वैशाली प्रजातन्त्रके ऐतिहासिक गौरवको फिरसे सजीव रुपमें हमारे सामने लानेके लिये वह प्रयत्न कर रहे हैं। पाच वर्षसे वे महावीर जयन्तीका मेला मनाने लगे हैं, और चैत मासके शुक्ल पक्षीय त्रयोदशीको हजारो नर नारी वहा इकट्ठा हो अपने पुण्य इतिहासके प्रति श्रद्धा प्रसून अर्पित करते हैं। भारतीय प्रजातन्त्रोंमें यही एक प्रजातन्त्र था, जिसकी शासन व्यवस्था और पार्लामेन्टरी कार्यवाही हमें मालूम हे, क्योकि बुद्ध इस शासन प्रणालीसे इतने प्रभावित हुए थे, कि अपने सघके नियमोंके बनानेमे उन्होंने वैशाली व्यवस्थाका आश्रय लिया था।

जिस तरह बुद्धकी जन्मभूमि लुम्बिनीको अशोकसे लेकर आज तकके बौद्ध न भुलासके, उसी तरह जैन बन्धुओंको महावीरकी जन्मभूमि वैशालीको भुलाना नहीं चाहिए।

---

१. यह भविष्य बतायेगा। —का० प्र०

भगवान् महावीरकी निर्वाण-भूमि पावाकी स्थिति।

(ले० डॉ० राजवली पाण्डेय, एम ए., डी. लिट्.. काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)

[भ० महावीरके निर्वाणक्षेत्र पावाके विषयमें जैनेतर विद्वानोंके विभिन्न अभिमत प्रगट हो रहे है। प्रो० राजबलिजीका प्रस्तुत लेखभी उस दिशामें एक उल्लेखनीय नमूना है। विद्वानोंके यह अभिमत विचारणीय अवश्य हैं, परंतु प्रकृत विषयके निर्णायक नहीं माने जा सकते। जबतक अनुमानित स्थानों पर खननकार्य न हो और उससे कोई ऐसा पुष्ट प्रमाण उपलब्ध न हो जिससे यह सिद्ध होवे कि पावा वहाही थी, तबतक जैन मान्यताको अविश्वनीय नहीं ठहराया जा सकता। जैनी राजगृह और नालन्दाके खंड-हरोंसे कुछ दूर पर अवस्थित पावापुरको भ० महावीरका निर्वाणक्षेत्र कई सौ वर्षोंसे मानते आ रहे हैं। खेद है, जैनोंने वहांके पुरातन चिन्होंको मिटाकर नये नये मंदिर निर्माण कर दिये है। इस लिये विद्वानोंको शंका होती है। किन्तु डॉ० जैकोबी और डॉ० लाहाने इस स्थानकोही पावा माना था। बौद्ध ग्रन्थ 'अट्ठकथा' (पपञ्चसूदनी ३, १, ४) में लिखा है कि जब भ० महावीर नालन्दामें थे, तब वह अस्वस्थ हो गये थे और उनके शिष्य उन्हें पावा ले गये थे। जहा पहुंच कर वह थोडे दिनों पश्चात् दिवंगत हो गये'। बौद्ध ग्रन्थके इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि पावा पहुचनेके पहले भगवान् नालन्दामें थे। अतः वह वहांसे बहुत दूर न जाकर निकटके नगरमेंही गये जंचते है। वर्तमान पावा नालन्दाके पास है। अतः इस पावापुरको प्राचीन पावा मानना कुछ अप्राकृत नहीं भासता। —का० प्र०]

इस बातको सभी प्राचीन लेखक और आधुनिक ऐतिहासिक मानते है कि भगवान् महावीरका निर्वाण पावा (अपापा) नगरीमें हुआ था। श्रद्धालु जैन आजकल जिस स्थानको उनकी निर्वाण-भूमि समझ कर तीर्थयात्रा करने जाते हैं वह पटना जिलान्तर्गत राजगिर (राजगृह) के पास है। प्रस्तुत लेखकके मतमें आधुनिक पावाकी प्रतिष्ठा भावनाप्रसूत, पीछे स्थानान्तरित और कल्पित है। वास्तविक पावा उससे भिन्न और दूरस्थ थी।

मूल ग्रंथोंमें भगवान् महावीरके निर्वाणके सम्बन्धमें निम्नलिखित वर्णन मिलते है :—

(१) जैन कल्पसूत्र और परिशिष्टपर्वनके अनुसार भगवान् महावीरका देहावसान मल्लोंकी राजधानी पावामें हुआ था। मल्लोंकी नव शाखाओं (मल्लकि) ने निर्वाणस्थान पर दीपक जला कर प्रकाशोत्सव मनाया।

(२) बौद्ध ग्रथ मज्झिम-निकायमें यह उल्लेख है कि जिस समय भगवान् बुद्ध शाक्य देशके सामग्राममे विहार करते थे उस समय निगठ नातपुत्त (ज्ञातृपुत्र) अभी अभी पावामें दिवगत हुये थे (पासादिक सुत्तान्त)।

(३) बौद्ध ग्रथ अट्ठकथासेभी इस बातकी पुष्टि होती है कि, मरनेके समय भगवान् महावीर नालन्दासे पावा चले आये थे।

ऊपरके वर्णनोंसे नीचे लिखे निष्कर्ष निकलते हैं :—

(१) जिस पावामें भगवान् महावीरका निर्वाण हुआ था वह मल्लोंकी राजधानी थी।

(२) उपर्युक्त पावा शाक्य देशके निकट थी; दूसरे वर्णनसे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है।

(३) जिस तरह भगवान् बुद्ध निर्वाणके पूर्व राजगृहसे चल कर कुशीनगर पहुँचे थे उसी तरह भगवान् महावीरभी नालन्दासे चल कर पावा आये थे। ऐसा जान पडता है कि मल्ल-राष्ट्रसे दोनो महापुरुषोंका घनिष्ठ स्नेह था; इसी लिये दोनोंने मल्लोंकी राजधानियाँ कुशीनगर और पावाको अपने निर्वाणके लिये चुना।

अब प्रश्न यह है कि मल्लोंकी राजधानी पावा कहाँ पर स्थित थी। यह निश्चित है कि बौद्ध साहित्यमें जिन गणतन्त्रोंका वर्णन मिलता है उनमेसे पावाके मल्लोकाभी एक गणतत्र था। मल्लोंकी दो मुख्य शाखाये थीं—(१) कुशीनगर (कुसीनारा) के मल्ल और (२) पावा (अपापा) के मल्ल। मल्लोकी नव छोटी छोटी शाखाओकाभी वर्णन मिलता है जिनको मल्लकि (लघुवाचक) कहते थे। इनके सभी वर्णनोसे यही निष्कर्ष निकलता है कि मल्लोंकी सभी शाखाये निकटस्थ, पडोसी, और एकही सघमें सघटित थी। अतः मल्लोकी दूसरी प्रमुख शाखाकी राजधानी पहली प्रमुख शाखाकी राजधानी कुशीनगरके पास होनी चाहिये। अब यह निर्विवाद रूपसे सिद्ध हो गया है कि कुशीनगर देवरिया जिलान्तर्गत (गोरखपुर जिलासे निकला हुआ एक नया जिला) कसया नामक कसबेके पास अनुरुधवाके दूहों पर स्थित था। बौद्धकालीन गणतत्र बडे बडे राज्य नहीं थे। गण-राज्योंमें उनकी राजधानी और उसके पडोसका प्रदेश सम्मिलित होता था। ये यूनानके नगर-राष्ट्रोंसे संभवतः कुछ बडे थे। इस परिस्थितिमे पावा कुशीनगरसे बहुत दूर न हो कर उसके पासही कहीं स्थित होनी चाहिये।

बौद्ध साहित्यमें पावाकी स्थिति और दिशाके सम्बन्धमे निम्नलिखित उल्लेख मिलते हैं :—

(१) प्रसिद्ध बौद्ध ग्रथ परिनिब्बाण-सुत्तान्तमे परिनिर्वाणके पूर्व भगवान् बुद्धकी राजगृहसे कुशीनगर तककी यात्राके मार्ग और चारिका (भ्रमण) का विस्तृत वर्णन मिलता है। इसके अनु-सार भगवान् बुद्ध राजगृहसे नालन्दा, नालन्दासे पाटलिपुत्र, पाटलिपुत्रसे कोटिग्राम, कोटिग्रामसे नादिका, नादिकासे वैशाली, वैशालीसे भण्डुग्राम, भण्डुग्रामसे हस्तिग्राम, हस्तिग्रामसे अम्बग्राम, अम्ब-ग्रामसे जम्बुग्राम, जम्बुग्रामसे भोगनगर, भोगनगरसे पावा और पावासे कुशीनगर गये। इस यात्रा-क्रममें पावा भोगनगर और कुशीनगरके बीचमें आती है। एक बात और ध्यान देनेकी है। भगवान् बुद्ध रक्तातिसारसे पीडित होते हुयेभी पावासे कुशीनगर पैदल एक दिनमें विश्राम करते हुये पहुँच गये थे। अतएव पावा कुशीनगरसे एक दिनकी हलकी यात्राकी दूरी पर स्थित होनी चाहिये।

(२) दूसरे बौद्धग्रन्थ चुल्लनिद्देसके सिंङ्गियसुत्तमेंभी एक यात्राका वर्णन आता है। इसके अनुसार हेमक, नन्द, दूभय आदि जटिल साधु अलकसे चले थे और उनके मार्गमें क्रमशः निम्न-लिखित नगर पडे :—

डॉ० राजबली पाण्डेय।

कोसम्बिञ्चापि साकेतं सावत्थि च पुरुत्तमं।
सेतब्यं कपिलवत्थुं कुसिनारञ्च मंदिरं॥
पावञ्च भोगनगरं वेसालिमागमं पुरं।

ऊपरके अवतरणसेभी स्पष्ट है कि वैशालीकी ओरसे पावानगरी भोगनगर और कुशीनगरके बीचमें पडती थी।

इन सब बातोंको ध्यानमें रख कर जो सडक कुशीनगरसे वैशालीकी ओर जाती है उसी पर पावानगरीको ढूँढना चाहिये। इसी रास्ते पर कुशीनगरसे लगभग ९ मीलकी दूरी पर पूर्व-दक्षिण दिशामें सठियाँव फाजिलनगरके अवशेष (डेढ मील विस्तृत) हैं। ये अवशेष भोगनगर (वर्तमान बदराँव) और कुशीनगरके बीचमें पडते है। महापरिनिव्वाण-सुत्तान्तमें यहभी दिया हुआ है कि पावा और कुशीनगरके बीच दो नदियाँ पडती थी। ये नदियाँ शुन्या अथवा सोना और घाघी (प्राचीन ककुत्था) के रूपमें अबभी वर्तमान हैं। कार्लायल नामक पुरातत्त्वविद्ने १८७५-७६ में गोरखपुर जिलेका पुरातात्त्विक निरीक्षण किया था। उसनेभी साहित्यिक वर्णन और भौगोलिक स्थितिके आधारपर इन्हीं सठियाँव—फाजिलनगरके अवशेषों पर प्राचीन पावानगरीकी स्थिति निश्चित कीथी। अतः सभी स्थितियो पर विचार करते हुये पावानगरीकी स्थिति यहीं निश्चित जान पडती है। फाजिलनगर नाम नया है और यह नाम मुसलिम शासनके समय पडा था। यहाँ एक टीले पर एक मुसलमान साधुकी समाधि है। परन्तु इसके पासहीमें पुराने विहारोंके भग्नावशेष और जैन मूर्तियोंके टुकडे पाये गये हैं जो इस बातकी ओर संकेत करते है कि इस स्थानका सम्बन्ध बौद्ध और जैन दोनों धर्मोंसे था। और इससे लगा हुआ एक विस्तृत नगर था। दुर्भाग्यवश यहाँ खनन-कार्य अभी बिल्कुल नही हुआ है। खोदाई होने पर इस स्थानका इतिहास और स्पष्ट हो जायेगा।

कुछ विद्वानोंने पावाकी स्थिति अन्यत्र निश्चित करनेकी चेष्टा की है। कनिंगहमने पावाको वर्तमान पडरौना (देवरिया जिलेमेंही) और महापण्डित राहुल सांकृतायनने पपउर (रामकोला स्टेशनके पास) से मिलानेका प्रयास किया था। इस अभिन्नतामें थोडेसे शब्द साम्यके अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं। ये दोनों स्थान कुशीनगरसे पश्चिमोत्तर कपिलवस्तु और वहाँसे श्रावस्ती जानेवाले मार्गपर स्थित हैं, जो वैशाली जानेवाले मार्गकी ठीक उलटी दिशामें हैं। अतः पडरौना और पपउर किसी तरहभी पावा नहीं हो सकते। काशीप्रसाद जायसवालने अपने हिन्दू पॉलिटी नामक ग्रन्थमें, प्राचीन राज्योंकी स्थिति और भूगोल पर ध्यान न देते हुये, मल्लोंके राज्यको कुशीनगरसे पटना तक विस्तृत और वर्तमान पावाकोही अस्पष्ट रूपसे प्राचीन मल्लोंकी राजधानी पावा मान लिया था। यह मत सर्वथा भ्रान्त था। ग्रन्थके दूसरे सस्करणमें उन्होंने इस मतका परित्याग कर दिया।

वर्तमान पावाको मल्लोंकी राजधानी और भगवान् महावीरकी निर्वाणभूमि माननेमें कई प्रबल आपत्तियाँ हैं:

(१) भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर दोनोंके समकालीन मगधके राजा बिम्बिसार और अजातशत्रु थे। मगध गंगाके दक्षिण सम्पूर्ण दक्षिणी विहार पर विस्तृत था। उस समय उसकी राजधानी पाटलिपुत्र नहीं, अपितु राजगृह थी। अजातशत्रु बडाही महत्त्वाकांक्षी, साम्राज्यवादी और गणतंत्रोंका शत्रु था। उसने गगाके उत्तरमें स्थित वज्जिसघ पर आक्रमण कर १० वर्षके युद्धके बाद उसको परास्त किया। इस युद्धमें वज्जिसघकी ओरसे मल्लभी लडे थे। अतः राजगृहसे सटी पावापुरी का होना राजनैतिक दृष्टिसे विल्कुल असभव था। मगध और काशी दोनो पर अजातशत्रुका शासन था। अतः गंगाके दक्षिणमें मल्लोंका राज्य किसी प्रकारभी नहीं हो सकता था।

(२) महापरिनिव्वाण-सुत्तान्तसे तत्कालीन भूगोल और उस समयके मार्गोंकी दिशायें स्पष्ट मालूम होती हैं। राजगृह (दक्षिण विहार) से चल कर मार्ग गंगाको पाटलिपुत्र पर पार करता था और इसके बाद वैशाली (मुजफ्फरपुर उत्तर बिहार) पहुँचता था। यहाँसे पश्चिमोत्तरमें चल कर भोगनगर और कुशीनगरके बीचमे उसी मार्ग पर पावानगरी पडती थी। भगवान् बुद्ध बीमारीकी अवस्थामेभी पावासे चल कर एक दिनमें कुशीनगर पहुँचे थे; अतः पावा कुशीनगरके पास होनी चाहिये। राजगृह कुशीनगरसे लगभग १०० मील दूर है; इस लिये इसके पास पावा नहीं हो सकती। लिच्छवियोके बाद पावाके मल्लोमेही भगवान् महावीरका अधिक आदर था। अतः वे नालन्दा छोड कर इसी मार्गसे पावामे अपना शरीर छोडनेके लिये गये थे। अतः वास्तविक पावाको दक्षिण विहारमे नालन्दाके पास खोजना व्यर्थ है। आजकलकी कल्पित पावापुरी नालन्दा-राजगृहके बीच बडगाँवमे है। संभव है भगवान् महावीरकी चारिकासे वह स्थान कभी पवित्र हुआ हो, अथवा उनकी अंतिम यात्रा यहाँसे प्रारम्भ हुई हो, और वास्तविक पावाके मुसलमानो द्वारा ध्वस्त होने पर, पीछेसे उसको निर्वाणभूमिका महत्त्व मिल गया हो।

(३) वर्तमान पावापुरीमें प्राचीन नगर अथवा धर्मस्थानके कोई अवशेष नहीं मिलते हैं। वर्तमान मंदिर आधुनिक हैं। यह बात इस स्थानकी प्राचीनतामें सन्देह उत्पन्न करती है। वर्तमान पावा सभवतः चौदहवीं शताब्दीमें स्थानान्तरित हुई। जैन जनताने प्रारम्भमें मुसलिम आतंक और पीछे अपने अज्ञानके कारण वास्तविक पावाका परित्याग करके नवीन पावाकी कल्पना की। किन्तु भय और कल्पना वास्तविकताको ढक नहीं सकते। वास्तविक पावा सठियाँव-फाजिलनगरके खंड-हरोंमें अबभी सोयी पडी है।

भ० महावीरका निर्वाणोत्सव और दीपमालिका !

(ले० श्री. प्रो० परशुराम कृष्ण गोडे, एम्. ए., क्यूरेटर भाण्डारकर ओ. रि. इंस्टीट्यूट, पूना)

[श्री. प्रो. परशुराम कृष्ण गोडे, एम्. ए. ने दीपमालिका त्यौहारके विषयमें उल्लेखनीय गवेषणाकी है और अपने शोध-परिणामोंको वह समय-समय पर अंग्रेजीकी विविध शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित करते रहे हैं। प्रस्तुत लेखमें उनकी अबतककी शोधका परिचय और परिणामका सार उपस्थित किया जा रहा है। पाठकगण देखेंगे कि दीपावली विषयक भारतीय साहित्यमें सर्वप्राचीन लिखित साक्षी 'कल्पसूत्र' की है, जिसे श्वेताम्बर जैनी सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्यके गुरु भद्रबाहु आचार्य द्वारा रचा गया बताते हैं। उसमें भ० महावीरके निर्वाणोपलक्षमें लिच्छवि-मल्लकि आदि राजाओं द्वारा दीपमालिका मनानेका उल्लेख है। श्री जिनसेनाचार्यजीनेभी 'हरिवंशपुराण' (शक स० ७०५) में यही लिखा है और इस निर्वाण दीपोत्सवके कारण भारतमें 'दीपालिका' (दिवाली) त्यौहार प्रचलित हुआ बताया है।[१] इसी बातको श्री गुणभद्राचार्यने 'उत्तरपुराण' (१६ पर्व) में दुहराया है।[२] अतः जैनमान्यताके अनुसार दीपमालिका या दिवालीका त्यौहार भ० महावीरके निर्वाणोत्सवका प्रतीक ठहरता है। साहित्यिक उल्लेखोंमे यही सर्वप्राचीन है। यक्षरात्रि, सुखरात्रि, दीपालिका आदि रूपमें संभवतः वीरनिर्वाण-दीपोत्सव उपरान्त कालमें परिवर्तित किया जाकर माना जाने लगा। विद्वानोंको इस विषयमे शोध करके वस्तुस्थिति स्थापित करना अपेक्षित है। —का॰ प्र॰]

मानवके सामाजिक और राष्ट्रीय जीवनमे त्यौहारोंका प्रभाव अनूठा है, किन्तु उनके उद्गमका इतिहास कल्पनाके आलोकमें छिपा रहता है। भारतमें अनेक मत-मतान्तर है और अनेक धार्मिक एवं अन्य त्यौहारभी हैं। किन्तु उनका परिचय ऐतिहासिक नही, बल्कि वर्णनात्मक मिलता है। श्रीऋग्वेदीनें मराठी भाषामे "आर्यांच्या सणाचा इतिहास" नामक पुस्तक ३७० पृष्ठोमें लिखी है,

---

१. चतुर्थकालेर्धचतुर्थमासकैर्विहीनताविश्चतुरब्दशेषके।
सकार्तिके स्वातिषु कृष्णभूतसुप्रभात सध्यासमये स्वभावतः ॥ १६ ॥

अघातिकर्माणि निरुद्धयोगको विधूय घातीं घनवद्विबंधनः।
विबंधनस्थानमवाप शंकरो निरंतरायोह सुखानुबंधनं ॥ १७ ॥

ज्वलत्प्रदीपालिकया प्रवृद्धया सुरासुरैः दीपितया प्रदीप्तया।
तदास्म पावा नगरी समंततः प्रदीपिताकाशतला प्रकाशते ॥ १८ ॥

ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादरात्प्रसिद्ध दीपालिकयात्र भारते।
समुद्यतः पूजयितुं जिनेश्वरं जिनेंद्रनिर्वाण विभूति भक्तिभाक् ॥ २१ ॥

—हरिवंश पुराण, षट्षष्ठितमः सर्गः

२. 'उत्तरपुराण' में केवल देवेन्द्रोंद्वारा निर्वाणोत्सव मनाने का उल्लेख है।

परंतु उसमें भी हिन्दू त्योहारोंका ऐतिहासिक विवेचन नहीं मिलता। 'ऋग्वेदी 'ने भारतीय त्योहारोंका निम्न प्रकार वर्गीकरण किया हैं :—

(१) ऋतु अपेक्षित त्योहार : सवत्सर प्रतिपदा, अक्षयतृतीया, चातुर्मास, श्रावणी, नारली पौर्णिमा, बिजयादशमी, दीपावली, धात्रीपूजन, मकरसंक्रांति, बसंतपंचमी, होली व शिमगा।

(२) ऐतिहासिक त्योहार : श्रीरामनवमी, परशुरामजयंती, दशहरा, कृष्णजन्माष्टमी, व वामनद्वादशी।

(३) शैव त्योहार : त्रिपुरी पौर्णिमा, महाशिवरात्रि।

(४) वैष्णव त्योहार : नृसिंहजयन्ती, महाएकादशी, अनंतचर्तुदशी, वैकुठचर्तुदशी, व दोलोत्सव।

(५) कौटुम्बिक त्योहार : बटसावित्री, मगलागौरी, पिठोरी अमावस्या, हरितालिका, व ऋषिपंचमी।

(६) शाक्त त्योहार : गौरी उत्सव, ज्येष्ठा गौरी, ललिता पंचमी, सरस्वती, देवी नवरात्र, व चंपाषष्ठी।

(७) सौर त्योहार : रथसप्तमी।

(८) गाणपत्य त्योहार : गणेशचतुर्थी।

इन त्योहारोमें श्रीऋग्वेदीने बौद्ध और जैन त्योहारोंकी गणना नहीं की है। बौद्धोमें वैशाखी-पूर्णिमाकी विशेप मान्यता है। जैनोके प्रमुख पर्व और त्यौहार निम्न प्रकार हैं :—

(१) श्रीमहावीर जयन्ती (चैत्र शु० त्रयोदशी), (२) अक्षयतृतीया, (३) श्रुत-पंचमी–ज्येष्ठ शु० ५, (४) श्रावणी प्रतिपदा–वीरशासन जयंती, (५) रक्षाबन्धन–श्रावणी-पूर्णिमा, (६) पर्यूषण-पर्व (भाद्रवमास), (७) क्षमावणी–अश्विन प्रतिपदा, (८) बीर-निर्वाण–दीपमालिका, (९) अष्टान्हिकापर्व (कार्तिक-फाल्गुण-आषाढ), (१०) ऋषभ-निर्वाण, (११) बसंतपञ्चमी आदि.

प्रस्तुत लेखमे दीपमालिका त्यौहारके विषयमें ऐतिहासिक शोधकी दृष्टिसे विचार करना अभीष्ट है। दीपमालिका त्यौहार जैनीभी मानते हैं और वैष्णवादि हिन्दूभी। इस त्यौहारमें जैनी और हिन्दू प्रायः एक समान रीति-रूप बरतते हैं। अतः हमारे सम्मुख दो प्रश्न उपस्थित होते हैं। पहला प्रश्न तो यह कि जैन और हिन्दू दिवालीमेंसे कौन प्राचीन है? और दूसरा प्रश्न यह है कि क्या यह मानना ठीक है कि प्राचीन दिवालीका प्रभाव अर्वाचीन पर पडा है? इन प्रश्नोका समाधान ऐतिहासिक साक्षीके आधारसेही किया जा सकता है। अतएव दिवाली त्यौहारके उद्भम और विकासका इतिहास ढूढना आवश्यक है।

यूं तो दिवालीके त्यौहारकी उत्पत्तिके विषयमें अनेक जनश्रुतियां मिलती हैं, परंतु उनकी पुष्टि किसी लिखित अथवा उत्कीर्ण साक्षीसे होना आवश्यक है। श्री. बी. ए. गुप्तेने दिवाली विषयक लगभग आधीदर्जन जनश्रुतियोंका उल्लेख एक लेखमें किया है।[1] उसका निष्कर्ष दिवालीकी उत्पत्ति निम्नालिखित छै रूपमे व्यक्त करता है :—

(१) ऋतुपरिवर्तनके उपलक्षमे यह त्यौहार चला।

(२) शालि-धान्यकी फसलका अन्त होता इस कारण मनाया गया।

(३) दूसरी फसलके लिये खाद डालकर खेत तैयार करनेका समय-प्रतीक।

(४) सूर्यके तुला राशि युक्त होनेके उपलक्षमें।

(५) रामचन्द्रजीके राज्याभिषेककी स्मृतिमें।

(६) विक्रमादित्यके सवत्-प्रवर्तनका दिवस होने रूपमें।

इन जनश्रुतियोंमें अन्तिम दोका ऐतिहासिक महत्व है। शेष जनश्रुतियां ऋतुपरिवर्तन जनित कृषिसम्बन्धी महत्वको प्रगट करती हैं। (किन्तु उस अवसर पर दीपोत्सवका कारण अस्पष्ट है। होलीभी ऋतुसम्बन्धी त्यौहार है, परतु उस पर अथवा ऐसे .अन्य त्यौहारों पर दीपमालिका नही होती। –सं०) इन जनश्रुतियोंकी पुष्टि ऐतिहासिक आधारसे किये जानेकी आवश्यकता है। राम चन्द्रजीके राज्याभिषेक अथवा विक्रम-सवत्-प्रवर्तनके उपलक्षमे दिवालीकी मान्यता कबसे हुई, यह पता लगाना शेष है। हॉप्किन्स सा० (Hopkins) ने आधुनिक हिन्दू त्यौहारोमें दिवाली, होली, मकरसक्रान्ति आदिको गिना है; परन्तु इनका उद्गम कब और कैसे हुआ, इस पर वह चुप हैं।[2] किन्तु वह 'दिवाली' को आधुनिक (नवीन) त्यौहार बताते हैं।

श्री० मॉर्गरेट स्टीवेन्सनने जैन दिवालीका परिचय निम्न प्रकार 'इन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन ऐड ईथिक्स' (भा० ५ पृ० ८७५-८७९) मे लिखा है :—

"पर्यूषणके उपरान्त जैनोका दूसरा पवित्र त्यौहार दिवाली है। पर्यूषण जैनोंकी अहिंसा भावनाका प्रतीक है और दिवाली जैनोंकी वणिकवृत्तिमें धनके महत्वको लिये हुये है। जैनी दिवाली को मनानेके लिये एक विशेष कारण उपस्थित करते हैं, जो प्रायः लक्ष्मीपूजाका हिन्दू त्यौहार प्रतीत होता है। जैनी कहते हैं कि जब भ० महावीरका निर्वाण हुआ तो उनका निर्वाणोत्सव अठारह लिच्छवि-मल्लकि एव अन्य राजाओंने यह कहते हुये मनाया कि 'ज्ञानप्रकाश लुप्त हो गया है। अतः आओ भौतिक (दीपो) का प्रकाश फैलायें।' (कल्पसूत्र, SBE., भा० २२ पृ० २६६) जैनी दिवाली चार दिनोंतक मनाते हैं, जो प्रायः अक्तूबर या नवम्बरमें पडती है। श्वेताम्बर जैनोंमें पहले धनतेरसके दिन लक्ष्मी देवीके सम्मानमे रत्नाभूषणोंको सुसज्जित किया जाता है। दूसरा दिन

---

१. इंडियन ऐन्टीक्वेरी, भा० ३२, पृष्ठ २३७-२३९ (मई १९०३)।

२. ईन्साइक्लोपेडिया ऑव रिलीजन ऐंड ईथिक्स, (१९१२) भा० ५ पृ० ८६७-८७१।

'काली चौदस' कहलाता है। इस दिन स्त्रियां पक्वान्न और मिष्टान्न बना कर भूत-प्रेतादिके कोपको शमन करनेके लिये चढातीं हैं और निकटके चौराहे पर रख आती हैं। तीसरा दिन अमावस इस त्यौहारका प्रमुख दिवस है। इस दिनही भ० महावीरने मोक्ष-गमन किया और इन्द्रभूति गौतमने कैवल्य- (-लक्ष्मी) प्राप्त की थी। इस दिनही रातको जैनी वहांपूजा करते और दीपमालिका मनाते हैं। अमावसके प्रातःहीं तीनों सम्प्रदायोंके जैनी अपने २ मंदिरों, उपाश्रयों, अथवा स्थानकोंमें जाते हैं। वहा जो साधुमहाराज अथवा साध्वी देवी उपस्थित होते हैं, उनके मुखसे भ० महावीरका जीवनवृत्तान्त सुनते हें और सामायिक, गीत और भजन गाते है। भक्तवत्सल वहां ठहर कर प्रोषध करते हैं। शेष अपने घरोंको लौट जाते और वर्षभरके हिसाब-किताबका चिट्ठा तैयार करते हैं। सायंकालको वे एक ब्राह्मणको बुला कर शारदा-पूजा करवाते हैं, क्योंकि जैनोंमें ब्राह्मण अबभी प्रोहितका काम करते हें। जैनी अपनी बहिया एक चौकी पर रख देते हैं। ब्राह्मण आता है और यजमानके माथे पर टीका कर देता है और उनकी कलम और बहीके आदि पृष्ठको चरच देता है। तब वह बहीके आदि पृष्ठ पर शब्द 'श्री' ५, ७ या ८ बार लिखता है। अब बही पर पुरानेसे पुराने सिक्केको रखते हें, जो लक्ष्मीका प्रतीक होता है। यह क्रियाहीं 'लक्ष्मीपूजा' है। वर्षभर यह सिक्का बडी सार-संभालसे रक्खा जाता है, क्योंकि उसे सौभाग्यवर्द्धक माना जाता है। दूसरी दिवाली पर वही सिक्का फिर पूजाके लिये काममे लिया जाता है। इस प्रकार किन्ही जैन घरोंमे बडे पुराने २ सिक्के मिलते हैं। बही पर एक पान, सुपारी, अक्षत आदिभी रक्खे जाते है। कपूर जला कर जैनी उनकी आरती करता है और रोरीको बहियों पर छिडक कर पूजा समाप्त करता है। तब पुरोहित और उपस्थित जैनी मिष्टान्न खाते हैं। कई घटें बहियां खुली रक्खी रहती हैं। उपरान्त जैन उन्हें 'लक्ष-लाभ, लक्ष-लाभ' कहते हुये बन्द करके रख देते हैं। चौथा दिन कार्तिक शुक्ला प्रतिपदाका नव-वर्षका पहला दिन माना जाता है। इस दिन जैन परस्पर एक दूसरेसे मिल कर अभिवादन करते हैं और अपने व्यापारिक वर्षका प्रारभ करते हैं। इसी दिन अपने मिलनेवालोंको दिवाली-पूजनके मंगलपत्र लिखते हैं।" [१]

---

१. सं० नोट—मूलतः दिवाली निर्वाण उत्सब है, परंतु इन्द्रभूति गौतम द्वारा कैवल्यविभूतिकी प्राप्तिके उपलक्षमें दिवालीको लक्ष्मी (= धन) पूजाका त्यौहारभी माना गया है। एक जैनके निकट सबसे बडी विभूति और महालक्ष्मी केवलज्ञानकी प्राप्ति है। व्यवहारमें धन ही लक्ष्मी है। अतः व्यवहार-रत जैनों द्वारा अध्यात्मलक्ष्मीको गौण करके भौतिक लक्ष्मीकी पूजाका समावेश दिवाली-पूजनमें किया जाना स्वाभाविक है। उत्तर भारतमे गुजरातसे भिन्न रूपमें दिवाली मनाई जाती है। धनतेरस तो ठीक एक ही रूपमें मनाई जाती है, परतु दूसरे दिनको जैन 'काली चौदस' नहीं कहते; वल्कि 'निर्वाण चौदस' कहते हैं। इस दिन सायकालको कुछ दीपक जलाकर घरके मुख्य द्वार पर रक्खे जाते है और उनको जल-मिष्टान्न चढाते हैं। उनमेंसे बडे दीपकको जलता हुआ घरमें वापस ले जाते है और उसे इस तरह संभाल कर रखते है कि वह रात भर जलता रहे। इसे 'यमका दिया' कहते हैं। भ० महावीरने यम अर्थात् मृत्युको जीत लिया था। उस विजयका प्रतीक वह दीप है। अमावसके प्रातः जैन नर-नारी मदिरोंमें जाकर महावीर निर्वाणपूजा करते और धर्मश्रवण करते हैं। कोई २ उपवासभी रखते है। पूजामें लाड़

(आगेके पृष्ठ पर देखो)

इस प्रकार जैन दिवालीका उद्गम भ० महावीरके निर्वाणोत्सवसे प्रगट होता है और उनका निर्वाणकाल ई० पूर्व ५२८-५२७ माना जाता है। अतएव जैन दिवाली २४०० वर्षो इतनी प्राचीन ठहरती है। अब प्रश्न यह है कि क्या हिन्दू दिवालीभी इतनी प्राचीन है? क्या उसके उद्गम का आदिस्रोत इतिहासमे प्रमाणित किया जा सकता है? इन प्रश्नोका उत्तर शास्त्रीय उल्लेखोंके आधारसे देनेके लियेही हमें प्रस्तुत लेख लिखना अभीष्ट है। अतएव शास्त्रीय साक्षीके आधारसे जितनी प्राचीनता हम खोज सके हैं, यहां उपस्थित करते है। शेष कार्य अन्य शोधकों पर हम छोडते है। वे आगे खोज करें और ठीक निर्णय दें, यह वांछनीय है।

हिन्दू दिवालीके विषयमें श्री० मार्गरेट स्टीवेन्सनने जो कुछ लिखा है, उससे स्पष्ट है कि हिन्दूभी दिवालीका त्यौहार चार दिनोतक मनाते हैं। पहला दिन धनतेरसका बहुतही पवित्र माना जाता है। इस दिन सभी शुभकार्य किये जाते हैं। देना-लेना चुकता कर दिया जाता है। घरोंकी लिपाई पुताई हो जाती है। पुराने बरतन बदल कर नये कर लिये जाते है। लडके गोधूलिवेला पर गउओके मध्य जा कर लकडीमें बधी सफेद धज्जियोंको जिन्हे 'भबुडा' कहते हैं, घुमाते हैं। गउये चौंक कर धूल उडाती है। वह धूल बालकोंके शरीर पर पडती है तो बहुत शुभ माना जाता है[१]। इस दिनभी घरोमें रोशनी की जाती है। दूसरा दिन 'रूप-चतुर्दशी' कहलाता है। इस दिन सब लोग लडके उठ कर खूब नहाते-धोते और अच्छे कपडे पहनते हैं। फिर वे मित्रोंके यहां जा कर जलपान करते और खुशियां मनाते है। किन्तु चौदसकी रात्रिको वह 'काल रात्रि' कहते है। लोगोंकी धारणा है कि इस दिन दुष्ट प्रेतात्मायें लोगोंको सताती है। वे टोटके करके चौराहे पर रखते हैं, हनूमानजीपर तेल व सिंदूर चढाते है। चढे हुये तेलका काजल पारकर आंखोमें डालते हैं और तब अपनेको प्रेतात्माओंसे सुरक्षित समझते है। कोई २ मंत्र साधनाभी करते हैं। कोली-भील आदि लोग महाकाली-भैरवी आदि देवीको बलि चढाते है। किन्तु तीसरा दिन विशेष महत्वका समझा जाता है। इस दिन लडके-लडकियां बहुत तडके उठकर अच्छे कपडे पहनते और पटाखे छुडानेमें मग्न हो जाते हैं। इस दिन गीले कंडेमें गन्नेकी पोई घुरस कर वे दीवट बनाते हैं और उसपर जलता हुआ दीवा रखकर वे घर-घर तेल मांगते जाते है। इस दीपकके प्रकाशसे वे अपने मृत पूर्वजोंको प्रकाश पहुचता समझते हैं। इसी दिन शामको बही-पूजन किया जाता है और बडे २ दीपक जलाकर रोशनी की जाती है। पुरोहित आकर यह पूजन करता है और अन्तमें मिष्टान्न खाया जाता है और मित्रोंको भेजा जाता है। इस समय पटाखे छोडे जाते हैं। बहियें रात-

---

(पीछे पृष्ठसे चालू)

चढानेकी प्रथाभी कुछ समयसे चल पडी है। सायंकालको मंदिर और घरोंमें दीपक जलाये जाते है तथा बहीपूजन किया जाता है। इधर कोई पुरोहित नहीं बुलाते—सब लोग स्वयं पूजा करते है। उच्चासन पर जैनशास्त्र विराजमान करते है, जो ज्ञानलक्ष्मी माने जाते है। उसके नीचे वही और सिक्के रख कर पूजा करते हैं। पश्चात् आरती करके बहियोंमें 'श्री महावीराय नमः' और 'श्री केवलज्ञानलक्ष्मी नमः' लिख कर पूजन करनेका उल्लेख तिथिवार सहित करते हैं। मिष्टान्नभी बांटते हैं। —का० प्र०

१. उत्तर भारतमें यह क्रिया नहीं की जाती है। —का० प्र०

भर खुली रक्खीं रहतीं हैं और उनके पास एक दीपक जलता रहता है। प्रातः पुरोहित आता है, जिससे यजमान कहता है " लक्ष लाभ "। पुरोहित कहता है कि " सवालक्ष लाभ हो!" और वहियें बद कर देता है। रातभर घरमें सब लोग जागरण करते हैं और प्रातः उठकर मंगलकामना करते हैं। इस प्रकार हिन्दू दिवाली मनाई जाती है[१]। इस वर्णनको देखकर देशके भिन्न भागोंमें दिवाली मनानेका अन्तर सरलतापूर्वक जाना जा सकता है।

श्यामदेशमेंभी दिवाली मनाई जाती है। अमावास्याको वासोंमें लटका कर दीपक रात भर जलाये जाते हैं और चतुर्दशी, अमावस्या एवं प्रतिपदाके दिन नदियोंमें जलते हुये दीपक बहाये जाते हैं। इन दिनों आतिशबाजीभी छोडी जाती है। किन्तु श्याममे इस त्यौहारकी उत्पत्ति कैसे हुई, यह अज्ञात है[२]!

' मराठा क्रॉनीकल ' मे महदजी सिंधिया (१७७४-१७८५ ई०) के विवरणमें लिखा है कि कोटामें दिवाली चार दिन मनाई जाती थी। कोटा नरेश " दारूची लंका " (आतिशबाजीकी लंका) बनवा कर उसमें हनुमान द्वारा आग लगवाते थे। पूनामे पेशवाकी आज्ञासे महदजीने पार्वती पर्वत पर यह उत्सव रचाया था।[३] सभवतः तभीसे दक्षिणमें दिवाली पर पटाखे छोडनेकी प्रथा चली है।

दिवाली-उत्सवका सचित्र चित्रण जैन ' कल्पसूत्र ' में मिलता है, जिसे प्रो० ब्राउनने वाशिंगटनमें (१९३४) छपवाया था। इस चित्रमें एक चदोवाके नीचे तीन पुरुष हाथोंमें मशाल लिये अंकित है, जो सभवतः लिच्छवि, मल्ल और वैदेहिक राजाओंके द्योतक हैं। उसके नीचे ' दीवाली ' लिखा हुआ है। यह चित्र १६ वीं शताब्दीका अनुमान किया गया है।[४]

शास्त्रीय उल्लेखो पर विचार करनेसे हमको ' कल्पसूत्र ' के पश्चात् दिवालीका उल्लेख ' कामसूत्र ' (सन् ५०-४००) मे ' यक्षरात्रि ' के नामसे मिलता है, क्योंकि श्री० हेमचन्द्राचार्यने दीवालीकाही अपर नाम ' जक्खरत्ती ' (यक्षरात्रि) लिखा है। यशोधरने अपनी टीकामें ' यक्षरात्रि ' को ' सुखरात्रि ' लिखा है।[५]

---

१. *Stevenson*, Rites of the Twice-Born, (Religious Quest of India Series), pp. 335-340.

' उत्तर भारत ' में धनतेरसको रोशनी नहीं की जाती। पटाखे तो किसी दिन नहीं छोडे जाते। लोग मिलनेभी नहीं जाते। चौदसको भूत-प्रेतके शमनके लिये कोई क्रिया नहीं करते। न लडके तेल मांगने जाते हैं। लडकोंकी ' टेसू ' प्रथा दिवालीसे पहले होती है। कई दिनोंतक लडके मनुष्याकार दीवट पर दीपक रख कर घर-घर पैसे मांगते हैं। दिवाली पर टेसूका जल प्रवाह कर दिया जाता है। जैनी इस प्रथाको नहीं मानते हैं। का० प्र०

२. *Gerini*, Siamese Festivals and Fasts, pp. 885-890 (ERE, V)

३. पेशव्याची बखर by K V. Sohoni, ed. K. N. Sane, Poona p 149.

४. *Brown*, Miniature Paintings of the Jaina Kalpasutra, p. 40-Plate 25.

५. Annals of Bhandarkara Oriental Research Instt., Vol. XXVI, p. 253.

२. कन्नौजके सम्राट् श्रीहर्ष (सन् ६०६-६४८) ने 'नागानन्द' नामक एक नाटक रचा था। उसमें शरत्समयमें 'दीपप्रतिपदुत्सव' मनानेका उल्लेख है। उस समय इस उत्सव पर वर-वधूको नववस्त्र भेंट करनेकी प्रथा थी। आजकलभी विवाहके पश्चात् पहली दिवाली पर दामादको दावत और आभूषण भेंट करनेकी प्रथा कहीं-कहीं पर है।[१]

३. 'नीलमतपुराण' की रचना काश्मीरमें सन ५०० से ८०० ई. के मध्य हुईथी। इस पुराणमें दिवाली उत्सवकी प्रमुख बातें इस प्रकार लिखीं हैं।— (१) चहुं ओर दीपोंका जलाना, (२) कंडील-ध्वजादि लटकाना, (३) ब्राह्मणों और सम्बन्धियों सहित भोजन करना, (४) सगीत और द्यूतरमण, (५) स्त्रियोंकी संगतिमें रात्रि जागरण, (६) मूल्यमई रत्नाभूषण और वस्त्र धारण करना, (७) मित्रों, सम्बन्धियों, ब्राह्मणों और नौकरोंको नये वस्त्र भेंट करना। (कार्तिक अमायां दीपमाला वर्णनम्).[२]

४. 'आदित्यपुराण' (१००० ई.) मे कार्तिक कृष्ण अमावस्या को लक्ष्मी पूजन करना और दिनमें 'सुख सुप्तिका व्रत' मनाने का विधान है। रातको दीपक जलाने, ज्योनार करने और नये वस्त्रोंको भेंट करनाभी लिखा है। किन्तु आजकल 'सुखसुप्तिकाव्रत' दाक्षिणमें आश्विन अमावस्याको मनाया जाता है।[३]

५. हिन्दू 'पद्म पुराण' में 'चैत्रप्रतिपत्' की तरह 'कार्तिक प्रतिपत्' पर स्नान, दिव्य-नीराजन, गोमहिष्यादि भूषण एवं ब्राह्मण भोजनका विधान हैं। ब्रह्माको इसदिन गुड, दीप व नए वस्त्र चढाकर पूजनाभी आवश्यक है। 'भविष्यपुराण' और बाराहपुराणमेंभी ऐसाही विधान है। 'ब्रह्मपुराण' और 'भविष्य-पुराणमें' कार्तिक शु. प्रतिपद्के प्रातः दो घडी दिन चढने पर नारी नीराजन और शामको मङ्गल मालिका मनाने का विधान है। 'देवी पुराण'मेंभी यही उल्लेख है। 'ब्रह्मपुराण'में लिखा है कि पार्वतीजीने इस दिन द्यूत क्रीडामें शङ्करजीको जीत लिया था। इसलिये अन्यलोकभी द्यूत क्रीडा, गीतवाद्य, बन्धुभोजन, दीपमालादि करें।[४]

६. 'बामनपुराण'में इसका उल्लेख 'वीर प्रतिपदा' नामसे हुआ है।[५]

७. जैनाचार्य सोमदेवसूरिने मान्यखेट (मलखेढ) के राष्ट्रकूट-सम्राट् कृष्ण तृतीयके शासनकाल (सन. ९५९ ई.) में 'यशस्तिलकचम्पू' ग्रंथ रचा था। उसमें दीपोत्सवके सम्बन्धमें निम्नलिखित बातोंका उल्लेख किया है: (१) घरोंकी लिपाई पुताई कराकर श्वेतध्वजादिसे अलंकृत

---

१. Ibid. २. Ibid, p. 254.

३. Journal of the Jha Institute, Allahabad, Vol. III, pt. 2, p. 210.

४. Bhāratīya Vidyā, March 1947, pp 60-61.

हिन्दू पुराणोंके वर्णन बहुधा अध्यात्म रहस्यके रूपकोंमें होते हैं। क्या पार्वतीका शङ्करजीको द्यूत-क्रीडामें जीतनेका अर्थ आसुरी-सहारक-वृत्ति पर अहिंसक-वृत्तिकी विजय (मुक्तिका) द्योतक है? —सं०

५. Ibid, p. 62.

करना, (२) स्त्री संगतिमें आमोद प्रमोद मनाना, (३) गीतवाद्य, (४) द्यूत, (५) घरोंकी छतोंपर दीप-पंक्तियां प्रज्वलित करना, (सूनासूकसूचितावसरा दीपोत्सवश्रिष्ट)[1]

८. श्रीपति ज्योतिषाचार्यने अपनी 'ज्योतिष रत्नमाला' की मराठी टीकामें दिवालीका उल्लेख किया है।

९. अल्बेरूनीने अपनी 'तहकीक-इ-हिन्द' नामक पुस्तक (सन् १०३० ई०) में दिवालीका विवरण लिखा है; जिसकी मुख्य बातें यह हैं: (१) नाम 'दीवाली', (२) चमकीली भडकीली पोशाक, (३) पान-सुपारी भेंट करना, (४) आमोद प्रमोद मनाना, (५) मंदिरोंमें जाना और दान देना, (६) रातमें सर्वत्र दीपक जलाना, (७) आजके दिन विष्णु-पत्नी लक्ष्मीको बालीके बन्दीगृहसे मुक्ति मिली थी, (८) सौभाग्य सूचक त्यौहार।

१०. श्री हेमचन्द्राचार्यने 'देशी नाममाला' ग्रथमे (१०८८-११७२) 'जक्खरत्ती' (यक्षरात्रि) को दिवाली या दीपालिका बताया है.

११. पुरुषोत्तमदेवनेभी 'त्रिकाण्डशेष'मे 'यक्षरात्रि'को दीपाली (१-१-१०८) कहा है। यह उल्लेख सन् ११५८ ई. से पहले का है।

१२. मुस्लिम लेखक मुलतान-वासी अब्दुल रहमान अपने अपभ्रंशभाषाके ग्रंथ 'संदेश-रासक' (सन् ११००-१२०० ई.)में दीपावलीका उल्लेख निम्नप्रकार किया है:—

'दिंतिय णिसि दीवालिय दीवय
णवससिरेहसरिस करि लीअय।
मंडिय भुवण तरूण जोइक्खिहिं
महिलिय दिंति सलाइय अक्खिहिं॥ १७६॥'

भावार्थ — महिलाजन नव-शशि रेखाके सदृश दीप-पंक्तियोंसे अपने घर रातको प्रदीप्त करतीं हैं और इन दीपोंका काजल पारकर वे आंखेंमे लगाती हैं।

(१३) महाराष्ट्रीय सन्त ज्ञानेश्वर (१२९० ई.)ने 'दिवाली' का उल्लेख अपनी ज्ञानेश्वरीमे किया है। दिवालीके प्रकाशकी उपमा उन्होंने अध्यात्म-ज्ञान-प्रकाशसे की है।

(१४) चक्रधर (१२५०)ने 'लीलाचरित्र' मराठी-महानुभावमें दिवाली वर्णन सम्बन्धी यह विशेषतायें लिखी हैं: (१) उनके शिष्य गोसावियों द्वारा बहु-जल एकत्र करके स्नान करना, (२) स्नानके पहले तैल मर्दन करना, (३) चक्रधरकी नारी-शिष्याओं द्वारा गोसावियोंकी आरती (वोवाळणी) उतारना; (४) यमद्वितीयाको मोदक लाडू-सेवादिकी ज्योनार करना। यह सत लोगोंकी दिवाली थी।

१५. हेमाद्रि (१२६० ई.) अपनी 'चतुर्वर्णचिन्तामणि' (व्रतखंड)में यमद्वितियाका

---

१. Annals of the Bhandarkara Or. Res. Instt., XXXVI, p. 254.

उल्लेख करता है कि इसदिन यमकी बहन यमुनाने अपने भाईको भोजन कराया था। तभीसे यह भाई-बहनका त्यौहार हो गया।

१६. मेरुतुङ्ग (१३०५ ई.) ने 'प्रबन्धचिन्तामणि' में लिखा है कि गुजरातके शासक सिद्धराजके समकालीन कोल्हापूरके राजा ने दिवाली उत्सव मनाया। उसमें यह विशेषतायें थीः (१) कोल्हापुरकी कुलदेवी महालक्ष्मीकी पूजा राजाकी रानियोंने की, (२) सिद्धराजके एक राजकर्मचारीने महालक्ष्मीके स्वार्णभूषण-रत्न और कपूर दिवालीकी रातको चढाये और (३) एक मंत्रयुक्त वस्त्रभी चढाया![१]

१७. माधवाचार्य कृत 'कालनिर्णय' (१३५०) में त्रयोदशीको कुबेर पूजाका उल्लेख है। ("त्रयोदशी धन्याध्यक्षः कुबेरः पित्रते कलाम्।")

१८. सन् १४२० या १४२१ ई. में इटलीसे निकोलोइ कोन्टि (Nicoloi Conte) नामक यात्री विजयनगर आया था। उसने दिवालीको मंदिरोंके भीतर और बाहर छतोंपर दीपक दिन रात जलते हुए देखे थे।

१९. 'आकाशभैरवकल्प' (सन् १४५०-१६०० ई.)में दिवालीका वर्णन है। राजाके लिये नरकचतुर्दशी और कार्तिक शुक्ल प्रतिपद् मनानेका विधान उसमें है। नरकचतुर्दशीकी विशेषतायें इसप्रकार लिखीं हैः (१) यह साम्राज्य दिवस है। अतः इसदिन राजाओंको विजय, सन्तान, सुख-वैभव प्राप्त होते हैं; (२) प्रातःस्नान, (३) पुरोहित व ब्राह्मणोंकी पूजा; (४) स्नानसमय रानी राजाके तैल मर्दन करे और मल्ल गर्म पानीसे मङ्गलस्नान करावें; (५) राजा कुलदेवताकी पूजा करके तीन दीपक जळावे; (६) तब राजा अस्थानकूढ (दरबार) को वस्त्र-शस्त्रसे सुसज्जत होकर जावे और राजसिंहासनपर दरबारियों सहित बैठे। उनका मुजरा ले और उन्हें पुरस्कृत करे। ताम्बूल वितरणके साथ यह उत्सव समाप्त करे; (७) उपरान्त राजा अन्तःपुरमें जावे, तब रानियों व परिजनों सहित भोजन करें; (८) शामको अपने अधीन राजाओ सहित बाणविद्याका कौशल देखकर नाट्य शालामें नाटक देखे; (९) तब अन्तः पुरमें जाकर भोजन करे और रात्रि पट्टमहिषीकी संगतिमें वितावे। दीपावली अर्थात् कार्तिक शुक्ल प्रतिपदके दिन पूर्ववत् (१) स्नानादि करे, (२) भास्कर (सूर्य) को पूजे; (३) लक्ष्मीनारायणको लक्ष्मीकी स्थिरताके लिये तीन दीपक चढावे, (३) पूर्ववत् राजदरबार लगावे, (४) अन्तःपुरमें साम्राज्य लक्ष्मीकी पूजा करे, (५) मध्यान्ह विश्रामके पश्चात् मल्लयुद्धादि देखे, (६) सारे नगरमें दीपमालिका करावे; (७) राजकर्मचारियोंको ताम्बूल और वस्त्र उनके श्रमके उपलक्ष्में भेंट करे; (८) समग्र दीपनिकल महालक्ष्मीको भेंट करे; (९) विरोचनके पुत्र और प्रल्हादके पौत्र बलीकी पूजा करे, (१०) ब्राह्मणादिको स्वर्णदान।

२०. नृसिंह कृत 'काळनिर्णय दीपिका विवरण' (१४०९) में धनद या श्रीद अर्थात् यक्षराज या कुबेरका सम्बन्ध प्रतिपदसे बताया है।

---

१. नं. ८ से १६ तकके उल्लेखोंका विशद विवरण "Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute" Vol. XXVI के पृ० २६१-२६२ पर पढना चाहिये।

२१. रीवाके बघेल नरेश वीरभद्रने स्वरचित 'कंदर्पचूडामणिमें' यक्षरात्रिको सुखरात्रि बताया है।

२२. 'आईन-इ-अकबरी' में अबुलफजल (१५९० ई.) ने दिवालीके वर्णनमें लिखा है कि दिवाली वैश्योंका सबसे बडा त्यौहार है। इसदिन दीपक जला कर खूब रोशनीकी जाती है। तिथि कार्तिक शु. १२ व कृष्णा १५ बतानेमें कुछ मतभेद है। जुआ खेला जाता है।

२३. भट्टोजि दीक्षित 'कालनिर्णय संक्षेप' (१५६०-१६२०) में, कमलाकरभट्ट 'निर्णयसिंधु' (१६१२) में और दिवाकर काल 'कालनिर्णय चंद्रिका' में दीपावली विषयक अनेक उल्लेख करते हैं।

२४. दिवालीका उल्लेख अंग्रेज लेखकोंने (१६१३-१८८३) भी किया है, जिसमें निम्न विशेषतायें गिनाई हैं: (१) आमोद प्रमोद सहित ज्योनार, (२) विष्णुके सन्मानका त्यौहार, (३) भेंट सम्बन्धी जनोंको देना, (४) बनियोंकी दिवाली, (५) ऋतु विषयक महान् त्यौहार, (६) आतिशबाजी (१८२०), (७) लक्ष्मीकी पूजा, (८) नदियोंमें दीपक प्रवाह, (९) बनारसकी जोरदार दिवाली, (१८८८). (Hobson-Jobson, London, 1903, pp. 208-309).

२५. बाबापाध्ये ने 'धर्मसिन्धु' में लक्ष्मीपूजाके पश्चात् कार्तिक शुक्ल प्रतिपत्को कुबेर पूजा करना लिखा है। (१७६०-१८०६ ई.).[1]

सन् १८०० के लगभग कुबेरपूजाकाभी उल्लेख दिवालीपर मिलता है। हमारे विचारसे यह कुबेर पूजा 'बाराहपुराण' गत यक्षार्चाकाही दूसरा रूप है; जो वैष्णवोंकी लक्ष्मीपूजाके कारण गौण होगई है।[2]

दक्षिण भारतमें दीपावलीके प्रातः पत्नी पतिको तैल स्नान कराती है — नवूढा पत्नीके लिये यह अत्यन्तावश्यक है। विवाहके पश्चात् पहली दिवालीपर दामाद अपने परिजन सहित पत्नीगृह इस उद्देश्यसे आता है। उस समय कन्याका पिता उन्हें भोजन कराता और वस्त्रभूषण भेंट करता है। बहूका श्वसुर उसे साडी और आभूषण देता है। दीपावलीको प्रातः स्नान करके हरकोई अपने मित्रोंके घर जाकर पूछते है कि उन्होंने गङ्गा स्नान किया या नहीं! आगुन्तकका सत्कार ताम्बूल, मेवा-मिष्टान्नसे किया जाता है![3]

इलोराकी गुफाओं (न. १४-१५-१६ एव २१) में राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण प्रथम

---

१. नं. १७ से २५ तकके उल्लेखोंके लिये "Annals" का उल्लेखित स्थान एवं 'भारतीय विद्या' (मार्च १९४७) पृ० ६६ देखना चाहिये।

२. भारतीय विद्या, मार्च १९४७, पृ. ६२-६४में विशेष देखो.

३. वही, पृ. ६९ देखो.

(सन् ७५७-७७२) की खुदवाये हुये ऐसे शिलाङ्कित चित्र हैं, जिनमें शिव पार्वतीके जुआ खेलनेका दृश्य अङ्कित है। किन्तु उनका सम्बन्ध दिवालीसे स्पष्ट नहीं है।[1]

इस प्रकार अबतकके अध्ययनका सार पाठकोंके सम्मुख है। इससे स्पष्ट है कि यद्यपि जैन 'कल्पसूत्र'में भ. महावीरके निर्वाणोत्सवोपलक्षमें लिच्छवि-मल्लिक आदि राजाओं द्वारा दीपोत्सव मनानेका उल्लेख है; परतु जैनेतर साहित्यमें दिवालीका प्राचीन नाम यक्षरात्रि मिलता है। कालक्रमानुसार उसका नाम बदलकर दिवाली हुआ निम्नप्रकार अनुमानित है:—

यक्षरात्रि	सुखरात्रि	सुखसुतिका	जक्खरत्ती (यक्षरात्रि)	= दीपाली
सन् १०० से ४०० के मध्य यक्षरात्रि। (कामसूत्र)	कामसूत्रके टीकाकार यशोधरके समयमें सुखरात्रि।	सन् ५९० से ८०० के मध्य सुखसुतिका। (नीलमत पुराण आदि) (हर्षने दीप-प्रतिपदुत्सव लिखा है)	सन् १०८८—११७२ 'देशी नाममाला' में हेमचन्द्र	११००—११५९ के मध्यसे 'दीपाली' नाम हुआ। (पुरुषोत्तमदेव)

इतना होते हुयेभी हम अपने मूल प्रश्नोंको खुला छोड रहे हैं। इसका कारण यह है कि अभी अध्ययन करनेके लिये बहुत गुंजाइश है। जैन-दिवालीका अध्ययन जैन ग्रन्थोंमें करना शेष है। समय २ पर दिवालीका रूप जैनोंमें क्या रहा, यह जानना आवश्यक है। पूर्ण अध्ययनके पश्चात्ही किसी निष्कर्षपर पहुंचा जा सकता है अतएव विद्वानोंको इस विषयमें और अध्ययन करना उचित है। इति शम्.

---

1. जर्नल ऑव दी झा इंस्टीटयूट, आलाहाबाद, भा. ३ खंड २ प. २१४-२१५.

Mahāvīra : His Life and Work*

BY DR. BOOL CHAND, M. A., Ph. D., BOMBAY

[श्री० डॉ० बूलचन्दजीने इस लेखमें भ० महावीरकी जीवनझांकीका मार्मिक दिग्दर्शन कराया है। उनका लिखना है कि भ० महावीरका जन्म और लालनपालन एक जनतंत्रवादी समाजमें हुआ था; जिसमें गहरी मानसिक उथलपुथल मची हुई थी। प्रचलित रूढियोंके प्रति लोगोंको असतोष था और सैद्धान्तिक मतभेद मस्तिष्कको सशङ्क बनाये हुये था। तोभी उससमयके समाज पर तीर्थंकर पार्श्वकी धर्मपरम्पराका विशेष प्रभाव पड़ा हुआ था। इस प्रकारके वातावरणमें तीस वर्षके युवक महावीरने साधु होना निश्चित किया था। बारह वर्षकी घोर तपस्या और साधनाके पश्चात् महावीर पूर्ण ज्ञानी हुये—उनकी दया लोककल्याणके लिये अविरल धारामें बही—इसलिये वह तीर्थंकर कहलाये। संघ व्यवस्था महावीरकी अपूर्व थी, जिसमें मुनि-आर्यिका-श्रावक-श्राविका सम्मिलित थे। गृहस्थोंकोभी उनके संघमें सन्माननीय स्थान प्राप्त था। महावीरके संघका द्वार प्रत्येक प्राणीके लिये खुला हुआ था। गुणोंकी मान्यता थी उसमें। मिथ्या आचारविचारको उसमें स्थान नहीं था। ईश्वरको सृष्टिका कर्त्ता—हर्ता कोई नहीं मानता था। मानव स्वयं अपने भाग्यका निर्माता और भोक्ता था। पशुयज्ञका स्थान मानवीय वासनामय पाशविकताको अन्त करनेमें परिणत हुआ था। महावीरका जीवन पार्थिवताके ह्रास और आत्माके विकासका प्रतीक था। महावीरने कमजोरके शोषणके लिये शक्तिसचय करनेको प्रोत्साहन नहीं दिया। उन्होंने समाजमें ऊंच-नीचके भेदभावका, आर्थिक सघर्षका और राजनैतिक दासताका अन्त किया था। जैनधर्मके रूपमें उन्होंने लोकको एक आध्यात्मिक जनतंत्रवाद भेट किया था। उनका सदेश लोकभाषामें था। उसमें किसी मध्यस्थकी आवश्यकता न थी। लोक सीधे उनकी बात सुनता, समझता और मानता था। मुक्तिके द्वार दीनदलित और हीन-मलीन, सबके लिये उन्होंने खोले थे। देवताभी मानवके सामने हीन घोषित किये गये। आत्माका पूर्ण विकास मानवही कर सकता है। चारित्रकी आधारशिला अहिंसा बनी थी। जो जितना अहिंसक था उतनाही अधिक चारित्रवान था वह। जैनधर्मके मूलस्रोतका आभास श्रमण साहित्यमें मिलता है, जिसका विकास वैदिक साहित्यके साथ साथ हुआ। डॉ० विंटरनीजने उसकी विशेषतायें बताई थी कि उसमें जाति व आश्रम व्यवस्थाकी उपेक्षा है, उसके वीर केवल देवता या ऋषि न होकर राजा, वणिक या शूद्रतक हुए है। काव्याधार ब्राह्मणोंकी कथावार्ता न होकर प्रचलित कथासाहित्य रहा है। ससारके दुख शोकका चित्रण उसमें खूब है और अहिंसा-दयाका प्रतिपादनभी अश्रुतपूर्व है। सांख्ययोगके अनुरूप जैनधर्मही प्राचीन धर्म है, जिसके द्वारा बौद्धिक क्रान्ति हुई, जिसने वैदिक क्रियाके मार्गमें अर्गलाका काम किया। ब्राह्मण और श्रमण परम्पराओंका यह सघर्ष बराबर चलता रहा है। महावीर और गोशाल दो पृथक धर्मप्रवर्तक थे। उनमें गुरू-शिष्यका सम्बन्ध नहीं था। गोशालने आजीविक सम्प्रदाय चलाया था। वह नियतिवादी था। जैनधर्ममें ज्ञान, कर्मसिद्धांत, और सयम-तपका निराला निरूपण हुआ है। शरीरकी दासता

---

* This forms the concluding chapter in a book entitled "Mahāvīra : His Life and Teachings" by Dr. Bool Chand. The book is now in the Press.

और मोहके लिये जैनधर्ममें स्थान नहीं है। जैनधर्म जहां एक ओर अकारण दूसरे पर आक्रमण करनेका निषेध करता है वहां दूसरी ओर कायरतासे दूर रहनेकाभी उपदेश देता है। शान्तिपूर्वक आत्मविकास करते हुये स्वयं जीयो और दूसरोंको जीवित रहने देनेमें सहायक बनो, यह उसका संदेश है। अहिंसाही परम धर्म है। मारनेकी अपेक्षा सत्यके आधार पर स्वय मर जानेमें बहुत बहादुरी है। महावीरने ससार छोडा, साधनाकी और फिर वह संसारके बीच आकर धर्मोपदेशक बने। लोक उनका अनुयायी हुआ। ग्यारह बडे ब्राह्मण नेतागण उनके पहले शिष्य–गणधरादि हुये। इन्द्रभूति गौतम महावीरजीके प्रधान गणधर थे। अनेक असख्यात प्रश्नोत्तर उनके हुए थे। उन्होंने इन्द्रभूतिसे कहा, "तुम तो महासमुद्रके पार पहुचे-से हुये हो। अब किनारे पर क्यों मढरा रहे हो? जल्दीसे उस पार पहुंचो। हे गौतम! एक क्षणके लियेभी प्रमादी न बनो!" इस प्रकार महावीर केवळ आदर्शवादी नहीं थे। वह सत्यके हामी कर्मवादी थे। रागद्वेषको जीत कर आत्म-स्वातंत्र्य पानेके लिये उन्होंने हरकिसीको उत्साहित किया। —का० प्र०]

Born and brought up in a Society informed with democratic ethos and in an age of great intellectual stir, social dissatisfaction, philosophical doubt and religious confusion, and deeply influenced by the ethical tradition of Pārśva, Mahāvīra chose, when he was thirty, the life of an ascetic seeking after truth and enlightenment. After twelve years of penance and suffering and rigorous practice of spiritual detachment, he attained such knowledge as was perfect and absolute, and developed such compassion for the afflicted world and strove so much for its redemption that he came to be regarded Tīrthankara. Mahāvīra showed wonderful ability in the organisation of his Sangha which consisted of the ascetic as well as the layman, men as well as women. He did not consider the layman as incapable of sipiritual uplift, and, therefore, accorded an honourable place to him in the Sangha. The layman is as important a limb of the Sangha as the ascetic, and it is incumbent upon both to cooperate and push the Sangha forward towards spiritual uplift. Mahāvīra's Sangha was open to all irrespective of caste, colour and sex. Merit and not birth was the determinant of status in society. Ability and not sex was regarded as the criterion of admission into the higher order. Superstitions, ritualism, and belief in the capacity of gods to help man were discarded. The existence of God as the Creater of the world was denied, and man was held responsible for his own fortune as well as misfortune, freedom as well as bondage. Sacrifice of the animal was replaced by the sacrifice of the brute self. Mahāvīra's life is a symbol of the mortification of the flesh for the development of the Spirit. It is spiritual joy, and not heavenly pleasure, that is worth pursuit. Mahāvīra did not encourage acquisition of supernormal powers for the victimization of the weak. He prohibited the use of such powers even for self-protection. He disparaged social inquity, economic rivalry and political enslavement. Mahāvīra took it upon himself to work out and propagate a veritable spiritual democracy in the form of Jainism. He delivered his message in the tongue of the people. He did not like the aritstocratic

aloofness and mystifying secrecy of the Brahmanical thinkers in matters religious and philosophical. There was no need of interpreters of the tongue of gods. There can be no mediator between man and God. Mahāvīra popularized philosophy and religion and threw open the portals of heaven to the down-trodden and the weak, the humble and the lowly. To him spirituality was not the property of the privileged few, but a valued possession of each and all. It is only in the form of human being that the spirit can realise itself. Gods are inferior to the man of conduct. They symbolise only a stage in the development of the spirit. The final development, however, is possible only in the human form. The idea of an over-free omnipotent Creator God and His incarnation is exploded as a myth, and the responsibility of creation is put on the shoulders of those who inhabit and enjoy it. Conduct is judged by the spiritual law of ahimsa, perfect and absolute. The means are not justified by the end. It is perhaps with reference to these revolutionary ideals that a modern critic informed with the faith in merciful God, has characterized Jainism as 'a religion in which the chief points insisted upon, are that one should deny God, worship man and nourish vermin'. Philosophy, with Mahāvīra, is not an intellectual system based on data supplied by psychological analysis, or a metaphysical speculation based on scientific investigation, but an all comprehensive view based on spiritual realization, wherein all other views find proper justification. These are, in brief the general features of the message of Lord Mahāvīra.

The roots of Jainism can be traced out in that floating mass of Śramana literature which developed side by side with the ancient Vedic, and had, according to Dr. Maurice Winternitz, the following characteristic features: It disregards the system of castes and ashramas; its heroes are, as a rule, not gods and Rishis, but kings or merchants or even Shudras. The subjects of poetry taken up by it are not Brahmanic myths and legends, but popular tales, fairy stories, fables and parables. It likes to insist on the misery and suffering of Samsāra, and it teaches a morality of compassion and Ahimsā, quite distinct from the ethics of Brahmanism with its ideals of the great sacrificer and generous supporter of the priests and its strict adherence to the caste system'. 'Jainism together with Sānkhya-Yoga', accordig to the Dr. Hermann Jacobi, 'is the earliest representative of that mental revolution which brought about the close of the Vedic and inaugurated the new period of Indian culture which has lasted through the middle ages almost down to the present time'. We can clearly discern in the formative period, nay, throughout the development, of our culture, two distinct ferces, perpetually struggling for supermacy and evolving a more and more rational culture Of these two forces, one attracts us to the spiritual life by insisting on misery and suffering, while the other strives to keep us attached to the duties and responsibilties of social life. The advent of Mahāvīra and the Buddha represents a period of supremacy of the former over the latter. This period was, of course, preceded by a long period of

philosophical ferment and religious unrest. There was strenuous search for the ideal. Two distinct ways of thought, Brahmanic and Śramanic, were struggling for supremacy and were influencing each other. It was impossible that one should supersede the other. But they evolved a system which had a strong note of asceticism and was predominantly Śramanic. This was embodied in the 'Catuiyāma dharma of Pārśva, and finally developed by Mahāvīra into what is called Jainism. Buddhism too is a similar, though decidely a later, growth with a wonderfully rational outlook. The investigations about the antiquity of Jainism are by no means complete. We look to an intenser research for more enlightenment.

We have shown elsewhere the untenability of the fanciful opinion of some scholars that Mahāvīra was a disciple of Gośāl's for some time. Our conclusion is that Mahāvīra and Gośāla did not have a teacher and disciple relationship at all. Mahāvīra and Gośāla were just two associated in a common concern, two Sādhakas who lived together for six years in asceticism. Later on there sprang up accute differences of opinion between the two. They separated from each other and became irreconcilable opponents, fighting out their differences generally through their followers. After six months from the separation with Mahāvīra, it is said, Gośāla acquired supernormal powers, proclaimed himself a Jina, and founded the order of the Ājīvikas. It is also probable that the order of the Ājīvikas was already there and Gośāla only assumed its leadership proclaiming himself the last Jina. The implication of the doctrine of 'seven reanimations' advocated by Gośāla is not very clear; possibly Gośāla referred to the six past leaders of the order, and considered himself to be the seventh and the last. The problem is to be studied afresh, and there is every possibility of fruitful result. There is, however, no ambiguity about the central doctrine of Gośāla. He was an uncompromising fatalist. For him there was no such thing as freedom of will, all things being caused by destiny which was unalterably fixed. This contrasts strongly with Mahāvīra's ideal of *nirvāṇa* as something to be achieved by toil and labour, and not something to be presented by destiny in due course. There is neither scope nor necessity for voluntary efforts in the system of Gośāla. We do not know whether the Ajivika order survived him for long in its original shape, although a reference to the Ajivika order is found in an inscription of so late as the thirteenth century A. D.

The Jaina doctrine of knowledge is assuredly a valuable contribution to the epistemological thought. Knowledge is inherent is soul and depends for its expression upon the disentanglement of the soul from the forces that vitiate its intrinsic capacities. The Kaśāyas of attachment and aversion are held responsible for the obstruction of the capacity to know, and it is by the total destruction of these Kaśāyas that the soul achieves 'the blaze of omniscience.' Absolute annihilation of knowledge is impossible, and the knowledge is at its minimum in the one-sensed organism. Perfection is achieved

not by adding one knowledge to another, but by removing the cause of imperfection, which consists in the Kaśāyas. Ignorance is only an incidental effect of a more fundamental cause, namely, the Karma that blurs the right intuition.

The Karma-doctrine is another glorious achievement of the Jain thinkers. Karma is a substantive force, a sort of infra-atomic particles which have the peculiar property of developing the effects of merit and demerit. 'As heat can unite with iron and water with milk, so Karma unites with the soul'. Life is a struggle between spirit and matter. The material body is to be subdued by the spiritual self. Samsāra consists in spirit subdued by matter. Evolution means evolution of the spirit followed, as a matter of necessity, by the evolution of the body. The body is the instrument of expression, and so the perfection of the spirit is synchronized with the perfection of the body. What controls the universe is the law of Karma. The world is made, not by gods and angels, but by the Karma of the spirits. The history of man is determined by his own voluntary choice. Man enters the world of his own creation and fashions it according to his own designs. He can transcend the inherited limitations by his will and action, and become the architect of his own future. The theory of fourteen states in the ascent to the state of final liberation is the logical consummation of the doctrine of Karma.

Indian religions lay stress on asceticism and life of negation, and Jainism does so in a special measure. Jainism prescribes even the abandonment of the body in case it fails to fulfil the demand of the spirit. This exposes Jainism to the charge that its ethics is negative and passive. The Jaina ethics will not plead guilty to this charge. The motive behind ethical practices is that of purging the soul of selfish impulses so that it may realize itself. Spiritual strenuousness, meditation, the freeing of the mind from hatred, anger and lust are emphasized. What appears to be passivity is intense concentration of consciousness where the soul lays hold immediately upon itself. Life affirmation is fraught with more dangers and pitfalls than those of life negation. If affirmation leads to progress, negation certainly leads to peace. World has suffered more at the hands of the progress-loving peoples than at the hands of the peace-loving nations. Jainism discourages aggressiveness, but never supports cowardice. Peaceful courting of death without hatred for the murderers is more praiseworthy than violent defence. The law of non-violence is regarded as the supreme law. Justice itself is judged by this law. Consistent application of this universal law of non-violence in practical life exposed Jainism to the ridicule of those who were satisfied merely with the theoretical extolling of the law. Its appeal to the rational minds, however, was great and gradually it gripped a considerable portion of the populace.

Mahāvīra left the world, realised the truth, and came back to the world to preach it. There was immediate response from the people and he got disciples and followers. Eleven learned Brahmins were the first to accept his discipleship and became ascetics. They were the heads of ganas of ascetics, and as such were called ganadharas. They remained faithful to their teacher throughout their lives. Indrabhūti Gautama was the eldest disciple of Mahāvīra. He was very fond of his Master, and had numerous intersting dialogues with him. Mahāvīra was never tired of answering questions and problems of various types, scientific, ethical, metaphysical, and religious. He had broad outlook and scientific accuracy. His answers were never vague or mystifying. He had firm conviction and resolute will. His tolerance was infinite. He would never surrender a single point in argument about spiritual conviction and ethical conduct. Right conduct is conduct according to right conviction. Right conviction is conviction based on spiritual realisation. A man of right conviction and right conduct has fear from none and tolerance for all Mahāvīra always surrendered his body, but never his spirit. Retention of the spirit demands surrender of the body. Suffering and penance are the conditions of freedom. Mahāvīra was a cold realist. He had not faith in warm idealism. He had immense faith in human nature, but he always insisted on vigilance against indolence, physical, moral and spiritual. He is reported to have once exhorted his favourite disciple Indrabhuti Gautama to always retain strenuousness in the following words ; 'You have well nigh crossed the great ocean. Why do you loiter on the shore ? Make haste to pass on the other side Do not be indolent, O Gautama, for a single moment.' Inward strenuousness and affirmation of spirit is sometimes associated with outward passivity and negation of life. This is not ununderstandable. Life is an evil so long as it is rooted in desires. Negation of life rooted in desires is not an unsocial act. It is but reinstatement of the society in harmony with the laws of the spirit. It is self-contradiction on the surface for the sake of self-realisation in the depth. In this sense, individualism is not incompatible with social progress. Mahāvīra was never indifferent to the well-being of his Sangha. He worked strenuously for it and took interest in the minutest details of the organisation. One is amazed to find in him this rare combination of absolute negation of desires and immense interest in action. Mahāvīra was neither a 'delicate mystic' nor an 'energetic prophet'. He was a thoroughgoing rationalist who would base his action on his conviction, unmindful of the context of established custom or inherited tradition. This is the keynote of the personality of Lord Mahāvīra.

The Last Teacher.

By Śrī W. George Trott, Bovingdon (England)

[श्री० जार्ज ट्रॉट सा० अंग्रेज भव्य विचारक है। उन्होंने विवेकसे प्रेरित होकर जैनधर्म धारण किया है। इस लेखमें उन्होंने अपनी दृष्टिसे अन्तिम तीर्थंकरका चित्रण किया है। वह लिखते हैं कि परमात्मा महावीरने शरीर-बन्धनसे मुक्ति पाई थी। मुक्तिमार्ग सर्वश्रेष्ठ विज्ञान है। सुन्दरतम कला है वह और उससे सबही आशायें और आकाक्षायें पूरी होती है। किन्तु आज लोक बुराईमें फसा है और मिथ्या विचारधारामें पग रहा है। मुक्तिमार्गकी सुध किसीको नहीं है। जबतक लोककी यह मिथ्या स्थिति रहेगी, सुखशान्ति वहां नही हो सकेगी। अतएव इस स्थितिको बदलना आवश्यक है। राजनैतिक चालोंसे उसको बदलनेके प्रयत्न विफल होंगे। सबही राजनीतीज्ञों और विशेषतः स्वतंत्र भारतके नवयुवकोंका कर्तव्य है कि वह भ० महावीरप्रणीत अहिंसासे अपनी राजनीतिको अनुप्राणित करें। तबही लोकमें सयम, समता, मतसहिष्णुता, दया आदि भावनायें जागृत होंगी, और उनसे लोक सुखी होगा। भ० महावीरके महान् आत्मबलसे लोकको समता, शान्ति, सुख और दयाका परिज्ञान हुआ था। भ० पार्श्वनाथके उपरान्त अन्तिम तीर्थंकरसे उसने ज्ञाननेत्र पाये थे। फलतः दारिद्र्य, दुख, भय, शोक, अज्ञान, ईर्ष्या, वासना–सबही दुर्भावोंका अन्त हुआ था। महावीरकी महान् आत्माके दिव्य प्रदेशोंका प्रभाव लोकमें कार्यकारी था। तीर्थंकर भगवान्‌का साक्षात् बता देता है: 'सुख कहां है?' उनके उपदेशसे मुक्तिमार्ग बनता है। मानवहितकी वह सबसे बडी देन है। अल्पकालमें हम सब एक दिन ऐहिक लीला समाप्त करेंगे और दूसरा जन्म पायेंगे। यह जन्म-मरणका चक्र चलता रहता है। इसका अन्त उस क्षणसे प्रारंभ होता है जिसमें व्यक्ति मुक्तिमार्गमें श्रद्धा लाता, उसका ज्ञान पाता और आचरण करता है। यह मानव जन्म पुण्य योगसे मिला है–सौभाग्यसे सत्यके दर्शन हुए है। इस अवसरको चूके तो लाखों वर्षोंतक रुलना है। इसे कलपर टालना ठीक नहीं। भ० महावीरका जन्म सन् ५९९ ई० पू० हुआ। तीस वर्षके जब हुए तब उन्होंने घर छोडा–साधु हुये। बारह वर्षोंतक तप तपा और केवली हुये। लोकशिक्षक होकर महावीरने ३० वर्षोंतक धर्मोपदेश दिया। उन्होंने कहा: अहिंसा परम धर्म है। जीवोंकी रक्षा करना मानवका कर्तव्य है। मानवको लडना है तो वासनासे लडे और कषायोंको जीते। का० प्र०]

Liberation of the soul from the shackles of the body was accomplished by the supreme Lord Mahāvīra, the last of the twenty-four world teachers of Jainism. The way of liberation is the greatest of all sciences, the finest of all arts, the attainment of every hope, and the fulfilment of all ambitions. Because the world is evil and the hearts of men are shrouded by wrong thinking and wrong ideals, there is no place for the science of Liberation. Until that place is found and acknowledged, mankind will be unhappy and continue to live in misery, surrounded on all sides by suspicion and fear.

This unhappy state of affairs need not continue. Everywhere men are striving–through political action–to change the face of the world. I say this to all men of politics, particularly to the young men of free India, that *your* political theory–no matter how perfect or logical it may appear–is empty and

without merit unless it has behind it the teaching of ahimsā laid down by the omniscient Lord Mahāvīra.

The aim of politics, as indeed with all right human aims, is the well-being and happiness of every member of the community. People cannot be contented, either in themselves or with each other, unless they possess the habit of mind which exercises forbearance, trust, mercy, tolerance and the like. Where do we find these qualities? Only in the soul which is fortified by religion and the true spirit of ahimsā.

The Lord Mahāvīra, by his great power and soul-force, inspired the souls of entire provinces to heights of pure love, peace, understanding and joy unknown in this world since the days of the preceding Tirthankara, Lord Pārshvanātha. Poverty, fear, mis-understandings, envy, lust were all swept away by the awesome vibrations of his magnetic soul. The sight of the Tirthankara is a sufficient answer to the question-where is happiness? His teachings constitute the way of Liberation, and are the greatest of all contributions to human welfare. His footprints-for all to follow-lead to Nirvāna, where the soul lives eternally in perfection of joy, perception, knowledge and power.

In a comparatively few years time, the writer of these words and all who read them, will be gone from this world, to be born again somewhere, and again to die. And so it will go on, life after life, endless unless, we make up our minds to believe in the way of Liberation, to learn and acquire knowledge of it, and then to take action to carry out the eternal principles. This opportunity may not come our way again for thousands of lives, may be for millions of years, because remember the soul is eternal. Only in a rare human incaranation does one come across the truth, and even then, many are the difficulties which beset our faith and practice. Even tomorrow may be too late.

Lord Mahāvīra was born in 599 B.C At the age of thirty years he abandoned the life of the world and became an ascetic. Twelve years later the flood of omnicience swept away for ever the bonds of karma, and his soul perceived all things in space and time.

During the thirty years following, when Mahāvīra was a world-teacher, he proclaimed the truth that man is the master of his own destiny-the Jina or conqueror. To refrain from killing and injuring is the only true religion. The foes to be conquered are the four passions of anger, pride, deceit and greed, which are present in the soul. The greatest gift that man can make to his fellow-men and the lower creatures is the gift of protection and safety, that they shall come and go without harm or interference.

To cease causing injury or death to living creatures-this is ahimsā, the highest religion. Ahimsā is the way of liberation.

Socialism And Śrī Vīra

By Syt. Harisatya Bhattāchārya M. A., B. L.; Ph. D., Howrah

[आजकल सामाजिक विषमता ठौर ठौर पर दिख रही है। डॉ० हरिसत्य भट्टाचार्यजीने उस विषमताका कारण आर्थिक असमीकरण वताया है, जो मानवकी असतोष वृत्तिसे उत्पन्न हुआ है। आजका सघर्ष धनिकवर्ग और दरिद्र नारायणके मध्यका है। विनाशसे बचनेके लिये मानवको आर्थिक असमीकरणका अन्त करना होगा। एक ऐसे मानव समाजका निर्माण आवश्यक है, जिसमें गरीबसे गरीबकोभी जीवननिर्वाहकी वस्तुयें सुगमतासे मिल सकें। डॉ० सा० उस मनोवृत्तिका विरोध करते है जिसमें बलात् धनिकोंकी सम्पत्ति छीननेका विधान है। यह तो सीधी लूट हुई। लूटसे स्थाई शान्ति स्थापित नही हो सकती। इस मनोवृत्तिका सुसस्कृत रूप साम्यवाद है, जिसके अनुसार सम्पत्तिका राष्ट्रीयकरण होना उचित है। सब सम्पत्ति सरकारको होगी और सरकार उसका समतुल्य वितरण कर देगी। यूरूपके कतिपय देशोंमें ऐसा हुआ है। परतु इससेभी समस्या हल नहीं हुई है। उन देशोंके मानवोंका असतोष मिटा नहीं है। व्यक्तिगत आकाक्षाओंका होना मानवके लिये स्वाभाविक है। उसकी इच्छा और आवश्यकताको व्यक्ति स्वयही ठीकसे समझ पाता है। अतः मानवप्रकृति अपनी इस स्वेच्छावृत्तिमें बाहरका हस्तक्षेप स्वीकार नहीं कर सकती। इसी लिये आर्थिक राष्ट्रीयकरणसेभी मानवका असतोष नहीं मिटा है। डॉ० सा० पूछते हैं कि आखिर इस असतोषको मेटनेका उपाय क्या है? और स्वयही उत्तर देते है कि तीर्थंकर महावीरकी जीवनघटनाओंमे यह उत्तर अन्तर्हित है। वीर जन्मसेही सतोषी थे-दूसरेकी चीज हडपनेसे वह दूर थे। गृहत्यागी होनेके एक वर्ष पहलेसे उन्होंने स्वेच्छासे अपनी धनसम्पत्ति बांटना शुरू की थी और दीक्षा समय अपने तनके कपडेभी दूसरोंको दे डाले। केवलज्ञानी होने पर तो वीरको वस्त्र और आहार दोनोंही अनावश्यक हो गये। वह पूर्ण संतोषी जो बने थे। अतः वीरके आदर्शका अनुकरण करनेसे मानव संतोषी हो सकता है। उसका हृदय परिवर्तन आवश्यक है। प्रत्येक मानव अपनी आकाक्षाओंको जीते और जो उसके जीवननिर्वाहके लिये आवश्यक हो, वहही वह अपने पास रक्खे-अधिक संग्रह न करे। उसके संतोषसे समिष्टि सतुष्ट होगी और तब मानव सुखी होगा। अतः महावीरका अपरिग्रहवादही लोकको सुखी बना सकता है। —का० प्र०]

The problem of problems today is how to stop the struggle between the rich and the needy. This problem is troubling and tormenting the leaders of society in every country. On the one hand, we have the wealthy section; people of this section have plenty of food, clothing and lodging; enough of provision for the future and bank balances to meet any eventualities Yet are they hardly contented, they are struggling hard to augment and increase what they have had,-struggling restlessly, never caring to think where they would stop. On the other hand, there is the sweating mass, toiling and moiling for scanty meals, hardly sufficient for keeping their bodies and souls together. In winter they have no warm clothes; in summer, they have got to submit the oppressive heat; and in the rainy season, showers and thunder play ruthlessly

on their bare heads. There is, again, a third class of men, the so-called middle class people, whose lives are a continuous tale of woe and discontent; in society, they have got to put up the appearance of the wealthy section of the community, whereas, in reality, they are as poor, if not poorer than the labour class. The condition of a middle class man,—a 'Bhādra-lok' as he is ordinarily called,-is really a miserable one, in as much as in addition to all the difficulties of a work-man, he has to struggle hard ceaselessly, for passing for what he is not.

Really it is a strange time, we are living in !

Is then the world leading towards a ruin? The answer is assuredly 'Yes',-if a solution of the *inequalities* is not to be found and worked out as soon as possible. There can be no difference of opinion about this that the solution lies in the establishment of a social order in which articles of livelihood will not be beyond the reach of any of the meanest in any way. In other words, the state of the society should be made such that the poor in it would not be deprived of their meals and other necessaries of life.

The extreme revolutionary view in this connection has been that the needy and the hungry,-the exploted mass,-should openly rise up and snatch away the riches of the rich, by force. This may be one way of doing away with the inequality of the wealth-distribution; but this would be temporary solution after all and can only establish a reign of terror.

A more reasoned-out and circumspent suggestion has been to vest all wealth in the state. It is said that if this measure be fully worked out, it would take away the excess wealth from the hands of the rich and distribute it among all the people equally and in accordance with their needs, irrespective of their ranks, status and tradition. This is not the place to make a critical examination of this view. This suggestion is said to have been acutally worked out in some of the present day European countries, though the considered opinion of many is that even in those countries, the carrying out of the measure has not yet reached compeletion, but is still in the stage of experimentation.

One thing that is often urged against the above measure is the apprehension that it would blow out all feelings of individual freedom. In a country in which the state determines what one is to do or not to do or how much one is to get, the individual has not liberty of action. And a man deprived of his freedom of choice and action is in no way better than a conscious automation.

The question thus recurs,-How to let the poor live and yet, not to *interfere* with any one's liberty?

One of the founders of the present day socialism suggested that every man at a certain stage of his life should say it to himself,-"Here I will stop; that which I have already earned is enough and I shall not try to get more."

This suggestion is certainly good. If followed, it will stop wealth from going into the hands of those who have already got much of it and afford opportunities for earning it to those who have real needs of it In a word, this suggestion leads to a solution of the acute economic problem which faces the human societies of to-day The difficulty, however, in the way of this undoubtedly salutary suggestion is that an ordinary man will not halt from his money-making pursuits, if State interference or any pressure of the sort from outside be not brought to bear upon him

What, then, is the way?

We think that the life of the great Jaina Teacher, Śrī Vīra will show us the way, where the heretofore suggested ways have seemed to be either no ways or but incomplete ways And here my Jaina friends will kindly pardon me, if I refrain from looking upon the events of the Arhant's life from the usual religious standpoint but view them in a firmly social and economic perspective.

The remarkable points in Śrī *Vīra's* life are (i) that he from his very childhood was of an extremely unaggressive and non-acquiring disposition; (ii) that for one full year before his renunciation of the world, he was giving away all his wealth and that at the time of his taking to an ascetic life, he distributed the very clothes and ornaments which he had on his body, and (iii) that when he attained the final self-realisation he went on without any food or clothing whatsoever (as the Digambaras say) or atleast reduced the claims of flesh to their minimum point (as the Śwetāmbaras say) The first of the above points in Śrī Vīra's life is the sought-for clue to the possibility of a sensible man's refraining from further acquisition of wealth at a certain stage of his life. If a socialist-minded man is to stop from money-making pursuits and if the state-interference or out-side pressure in this matter is undesirable,-then the urge must come from within. For the socialistic self-control, the background of non-avaricious disposition is psychologically necessary. This spirit of renunciation was a marked trait in young Śrī Vīra's character and made it possible for Him not only not to hanker after worldly possessions but to give away even what he had,-as noted above as the second remarkable act in His life. That first point in Śrī Vīra's life, viz., a non-aggressive disposition from his childhood not only prepared the way for his later liberal acts but saved his freedom and this is the most important thing here to note: He gave away all that he did not want, not because he was compelled to do so by any out-side authorities but because of his own free will and choice The life of Shrī Vīra thus teaches us a lesson which the modern Socialism would profit by always remembering,-that in order that a human being may valuntarily consent to and work for an equal distribution of wealth, his character and not merely the external atmosphere and the outside circumstances surrounding him,-should be built up in an appropriate manner.

The second and the third points in Śrī Vīra's life which we have described above illustrate the socialist ideal and attitude as brought into actual practice. Indeed, they do, so in a far more thorough and positive way than the conduct of a confirmed socialist of today. The latter would be satisfied with an equal distribution of the necessaries of life among the members of his society and he has always a lurking desire in his mind for getting more, provided the social distribution made it possible. But Śrī Vīra's act, conduct and practice went much farther than that. He actually gave away all that he had, keeping nothing for himself; he reduced his necessaries to their barest minimum, - in the words of Thomas Carlyle, made his, " claim, of wages a Zero " literally. And he banished from his mind all traces of the desire to earn or get possessed of more. Thus it may be said that if the motto of the socialist is to ' live and let live ' to Śrī Vīra the idea of preserving his own life was perfectly foreign and the question of letting all beings (" the whole sentiment creation "—I. P. Mill) was the sole and the all important one.

This practice of absolute renunciation, as we find in Śrī Vīra's life, should not be thought of, as of no practical utility. To us it appears that this spirit of renunciation is the indispensable pre-condition of the realisation of the socialist ideal. It is true that the people of this matercalistic age would not be able to practice renunciation to the extent and in the manner, done by Śrī Vīra. But unquestionably, He is the transcendant ideal, to be followed as much faithfully and as much closely as possible. It is undeniable that some amount of renunciation or ' Aparigraha ', as it is called in the Jain Ethics, should be the fundamental principle of all socialist philosophy and ' Bhogopabhoga Parimāna ' or the progressive minimisation of one's needs as well as ' Digvrata ' or systematic limiting of one's spirit of activities are the basis of the socialistic course of conduct. Śrī Vīra's life shows the fundamental principle upon which socialism is to be founded and the way in which its aim and ideal can be progressively worked out.

Lord Mahāvīra.

By L. A. Phaltane, Esqr. B. A., LL. B., Pleader, Islampur (Satara).

[प्रस्तुत लेखमें श्री फलटणेजीने भ० महावीरके जीवनकी विवेचना अपने दृष्टिकोणसे की है। महापुरुषकी सार्थकता लोकपर उसके प्रभावसेही आकी जाती है। जगतीमें हिंसा और अहिंसाका संघर्ष बराबर चलता रहता है। जब हिंसाके राज्यमें दुखशोक बड जाते है, तब महापुरुष लोकमें चमकते हैं। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवने पहले-पहले अयोध्यामें अहिंसा धर्मका प्रचार किया था। उपरान्त अन्य तीर्थंकरोंनेभी उसका प्रचार किया और वह दूर देशोंमें फैला। क्रमशः जैन धर्मका केन्द्र पूर्वभारत — बिहार और बंगाल हुआ। तीर्थंकर पार्श्वके पहलेसे वह इस प्रदेशमेंभी हतप्रभ हुआ। हिंसाकी मान्यता लोगोंमें बढी। बनारसमेंभी हिंसामत फैला पार्श्वको नगर बाहर कमठ हिंसक नागयज्ञ करता हुआ मिला — पार्श्वने उन दोनो नागोंको बचा दिया था। साधारणतः वे नाग पशु पर्यायके सर्प माने जाते है। हमारे विचारसे वे नागलोकके मानव थे — तभी तो वे पार्श्व उपसर्गको मेंटनेके लिये आये थे। यह हिंसामत बौद्ध और जैन शास्त्रोंमें "मार" नामसे अभिहित हुआ है। भ. पार्श्वने इस हिंसाके मतपर विजय पाई थी, इसलिये ही वह "मारजित्" कहलाये थे। पार्श्वतीर्थंकरके पश्चात् कुछ काल बीतनेपर यह हिंसामत फिर जोर पकड गया। बुद्ध एव अन्य मत प्रवर्तक उससे मोर्चा लेनेको आगे आये — किन्तु वे आपसमेंही तर्क-वितर्क करनेमें जुटे रहे। लोकमें अज्ञान और असतोष बढता रहा। इस दयनीय लोकस्थितिमें भ. महावीरका जन्म हुआ। मानवसमाजका आमूलचूल सुधार करनेके लिये वह मुनि हुये और बारह वर्षोंकी साधनामें उन्होंने घोर तपस्या की। वह सर्वज्ञ हुये। कैसी थी वह तपस्या? कुछ ज्ञात नही! भ. महावीरको उनके निकटतम शिष्य गणधरभी पूरी तरह समझ नहीं पाये थे। अतः बाह्य वातावरणसे इस प्रश्नका उत्तर पानेका प्रयास उपेक्षणीय नहीं! क्या महावीरका सदेश आत्मस्वातन्त्र्य या आध्यात्मिक मुक्ति तक सीमित था अथवा जीवनकी अन्य अपेक्षाओंके लियेभी वह उपयोगी था? क्या महावीरने तत्कालीन समाजका लौकिक और पारलौकिक समन्वय किया था? यदि किया था तो किस रूपमें? इन प्रश्नोका उत्तर अभी तक कहींसे नहीं मिला है। महापुरुषोंको समझना सुगम नहीं। उनके एक गुणपर मोहित होकर मानव अन्य गुणोंको नहीं देखता। अतः उनका सूक्ष्म अध्ययन अपेक्षित है। महावीरके उपरान्तकालमें अनेक मंदिर, विहार, स्तूप, मूर्तिया अद्भुत कलाके बने जिनको देखतेही बनता है। और विविध विषयोंपर उच्चकोटिका साहित्यभी रचागया। देशमें बडे २ राजा महाराजा और सेठसाहूकार हुये जिन्होंने भारतका नाम विदेशोंमें चमकाया। लोक भारतवर्षको आदर्श देश मानकर यहाकी यात्रा करनेको लालायित हुये। देश खूब समृद्धिशाली हुआ! पूर्व-महावीरका भारत ऐसा नहीं था। पहलेकी कोई मार्मिक साहित्यरचना और मोहन कला नहीं दिखती। यह सब महावीरके सदेशकी विशालता और उपयोगिताको सिद्ध करती है। जो मत तब चले उनमें जैन और बौद्धही शेष है। दोनोंमें साम्यभी है। सातवी शतीसे इनमेंभी सघर्ष चला था। अतः महावीरने जीवनके किसी पहलूको अछूता नहीं छोडा था – वह मानवसमाजका सर्वतोभद्र हित साधनेके लिये अवतरे थे। खेद है कि उनके ऋषिशिष्योंने आध्यात्मिक शिक्षाके अतिरिक्त उनकी अन्य शिक्षाओंको सुरक्षित नहीं रक्खा–अन्य शिक्षायें लुप्त हो गई। इलोरा आदिस्थानोंमें गुफाओंकी दीवारोंपर मानव जीवनकी जो लीलायें उत्कीर्णकी हुई मिलती हैं उनसे स्पष्ट है कि मानवकी

सामाजिक, शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति और विकासका रूप भ. महावीरकी शिक्षानुसार क्या हो सकता है? उनमें मानव पूर्ण विकसित हुआ है। महावीरकी शिक्षा निस्सन्देह मानवजीवनकी प्रत्येक दशाका सत्य चित्रण करके उसे विकासोन्मुखी बनाती थी। महावीरने स्याद्वादसिद्धांतसे जीवनका सर्वाङ्गी विकास करनेका उपाय बताया था। वह अहिंसाके महान् उपदेशक थे। उन्होंने मानव मानव, मानव तिर्यञ्च और मानव-अजीवके सम्पर्क-सम्बन्धका विज्ञान निर्धारित किया था। भ० ऋषभदेवकी तरह उन्होंने अपने चहुं ओरके क्षेत्रका अध्ययन किया था। फोनेसिया, मेसोपोटेमिया, चीन आदि देशोंके ज्ञान-विज्ञानको जाना था और इस विशाल अध्ययनके पश्चात् उन्होंने मानवको महान् ज्ञान दिया और रत्नत्रय धर्म भेट किया : सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र मुक्तिका मार्ग है। उससे लौकिक सिद्धि और आत्ममुक्ति मानवको मिलती है। महावीरका यह विशालरूप है। वह एक धर्मनेताहीं नहीं बल्कि लोकके महान् नेता थे, जिन्होंने अपने विज्ञानसे सबको उन्नत बनाया। —का. प्र.]

Harbingers of peace and happiness, restorer of harmony and goodwill in a place filled with insecurity, strife and violence and ameliorators of the disordered condition of the world may be the discription of the great men like Lord Mahāvīra and Bhagwān Buddha who were the greatest personages in India about twenty five hundred years ago. In this article I propose to write as to what I think about the teachings and works of Lord Mahāvīra, the propounder of the Jain religion.

The nature and extent of greatness or otherwise of a personage is to be measured from the influence he exercises and the print he creates upon the people of his times and leaves behind him upon the succeeding generations. A great man is he who is able to transform the whole face of the society and mould the same in the direction of the principles of his teaching. When the spirit of social life ebbs and the sands of sorrow and unhappiness begin to scorch the masses toiling in the sun and when the life of the society gets corroded by false and misleading ideas, then arises an occasion for the rise of a great man by whose advice, order and harmony are restored in the society.

The experience shows that the forces of violence and those of non-violence are in constant struggle with one another. The ascendency of the principle of non-violence ensures peace, prosperity and goodwill in the society, while the principle of violence, securing an upper hand brings bloodshed, poverty and insecurity of life. The principle of Ahinsā (non-violence) was first preached on the Indian soil in the city and province of Āyodhyā by Lord Rishabhadeva, the first Tīrthankara of the Jainas. Many Tīrthankaras who followed Him carried the message of love to countries far and wide. But the centre of Jaina religious activities gradually drifted towards eastern India (Pūrva Bharata) Bihar and Bengal. In this eastern part of India also the flame of Jainism had begun to burn with dim light for a very long period previous to Lord Pārshva During that period the religion of violence had gained so firm a ground on that part of the country, that that religion had

actually reached the city of Benares (Kāśī) where Lord Pārshvanātha was born. The story goes that while Prince Pārshvanāth was taking a stroll outside the town of Benares an ascetic named Kamatha was observed by Him ready with preparation to perform a Nāga sacrifice. The ascetic was called upon to open the bundle of wooden logs which he had brought for the sacrifice, where-upon it was found that the bundle contained two young Nāgas who were released by the Prince. The Jaina tradition asks us to believe that the two young Nāgas were two young serpents but it appears most probable that those two Nāgas must have been two children of Nāga tribe for later on when Lord Pārshvanāth entered upon a life of penance, these very Nāgas are said to have come to His rescue when He was being troubled by the ascetic named above. This cult of violence was called a religion of Māra in Jaina and Buddhistic scriptures and as Lord Pārshva secured a victory over the religion of violence He was called 'Mārajit' conqueror of Māra (मारजित् लोकजिज्जिनः Mārajillokajjit Jinah = 'Jina is a conqueror of Māra and a conqueror of the people,). Some years after Lord Pārshvanāth this religion of Māra again raised its head and began to gain ground on the Indian soil A re-action against this violence cult had already set in and about the time of Lord Mahāvīra there had arisen several teachers, who were doing their level best to combat the evil The Buddhistic records give us to understand that cowheads and shepherds were compelled to give their animals in hundreds to be slaughtered by the kings and chieftains in their sacrifices in the name of religion. The country was full of small petty states which were always on quarrelling terms with one another. Life had grown most unsecure and fraught with great difficulties and sense of despair was prevailing all over the country. At this chaotic juncture of time Lord Mahāvīra was born. He made a survey of His times , renounced his worldly life with a resolute purpose of modelling the whole society, went through a long period of twelve years penance, during which He performs great austerities which resulted in making Him a possessor of complete knowledge, power and bliss and then set out preaching. His Gospel to the world. So great were his austerities that he had conquered His passions and moved about without any garment on his person. What was the nature of His austerities and what were the particulars of His meditation or thinking, no religious book is able to say anything. Though His tenderness and compassion embraced all forms of life He was so grim and unapproachable that His word was taken as final, nobody questioning its correctness It appears that even His closest disciples the Ganadharas—who were considered the next in greatness to Him have not understood Him in all the details of His being Many times circumstances speak more eloquently than the books themselves, We have, therefore, to study the circumstances of His times and of the times after Him and form an idea for ourselves as to what must have been the full and true significance of His entire teaching

Was His preaching confined solely to the question of the emancipation of the soul ? or was it all-wide embracing all modes of life and forms of being ? Was He able to effect harmonies adjustment between temporal and spiritual upkeep of the society of His times ? and if so what was or must have been the form and method of His preaching ? Nobody has, upto now to my knowledge, tried to approach this subject in this way.

Greatmen, it is well said, are generally not understood. The various phases of their activities are so bright, dazzling, comprehensive and far-reaching that the ordinary man is unable to perceive, understand and digest all of them at once. Man's vision is dazzled even by one phase and the result is, that all other aspects pass away unnoticed Under such circumstances historical perview of their activities and their consequences become more effective and important.

Indian history stands divided in two big periods—one that passed before Lord Mahvāīra and the other that followed Him. Best carvings in hills and dales which baffle the understanding, skill and workmanship of the present day, stupas and monuments and images that mount into the air, and best literature on varied subjects, appeared in the latter period. Great emperors, warriors, merchants and religious men flourished in the latter period and raised the name of our country in the eyes of the foreigners making them look to Bhāratvarsha as an ideal land fit to be visited for both temporal and religious education. The country rolled in opulance owing to great commercial activities carried on in this country and abroad. Compared with the above what was there in India in pre-Mahāvaīra times. A long period preceding Mahāvīra time was a great void having no literature, no specimen of workmanship, no merchantile activities and no individual who could show his greatness or valour to the foreigner. Be it remembered that the sons of Magadha and Kalinga in post Mahāvīra time rose to greatness and ruled over India and outside countries securing permanent colonies for the Indians in countries outside the limits of Āryāvarta. Before Lord Mahāvīra began to preach his gospel several teachers had opened their schools and were trying to explain to their small clusters of students, their views as to how to solve the knotty problems of their times. But they proved at best debating societies providing an intellectual recreation to the participants. The names of all of them have fallen into back grounds and only two personages Bhagawā Buddha and Lord Mahāvīra came into prefront. It has to be remembered that Buddhism and Jainism, are not far removed from each other. Groundwork upon which they stand is the same. Really speaking Buddhism and Jainism worked hand-in-hand like sister religions practically upto the seventh century A. D. when animosity between them began to appear. The word Jina (जिन), is applied to both Buddha and Mahāvīra. Both of them are described as Mārajit (मारजित्). There are some minor differences between the preachings of two and those differences might be

attributed to imperfect understanding or sectarian bigotry of their disciples. All the above aspects have to be considered before forming an idea about the mission of Lord Mahāvīra. This shows that His teachings embraced all the activities of the life of the country temporal and spiritual. He infused into the society a new driving force, the result of which was that the whole country rose up, awakened as one man, possessed with all qualities necessary for making himself and others happy in all walks of life and beyond. Lord Mahāvīra and Buddha were the bearers of light which dispelled the darkness in India and elsewhere. It is a most unfortunate matter that His close disciples did not think it wise to reduce His teachings verbatim in His life time as Boswel had done in the case of Doctor Johnson The idea of reducing the teaching of the Lord to writing arose some generations after the final beatitude of the Lord, and those who set upon the writing of the teaching were ascetics whose goal was to secure emancipation of the soul. The other aspects of His teaching were lost sight of. Hence the tragedy

Cave-carvings of Ellora and other places have appeared in post-Mahāvīra time as a result of His teaching What should be the social, physical, mental and spiritual-development of man and in what way man should look upon himself and other creation, appear clear from the figures carved out in those carvings There the man appears as the best developed model figure becoming with strength, humility, grandeur and serenity, having all about him abundance of material property. This, the carvings say, was the teaching of Lord Mahāvīra. This may be described as an all embracing blissfulness, vigour and plenty The author of Suprabhāt-Stotra (सुप्रभात स्तोत्र) describes Lord Mahāvīra as Syādvādasūktimanidarpaṇa Vardhamāna (स्याद्वादसूक्तिमणि दर्पणवर्धमान) He was like a polished mirror explaining Syādvāda or the theory of allsidedness And unless the theory of Syādwāda of Lord Mahāvīra is understood in the above light it cannot be properly understood at all. 'Renunciation in plenty' or 'renunciation and fellowfeeling with an ability to create an atmosphere of plenty' was the essence of the teaching of the Lord. He directed the society which was rolling in hatred, violence and in self-killing activities towards non-violence, agricultural commercial pursuits, sculptural and literary arts and foreign religious and temporal activities with which the spiritual emancipation was beautifully combined.

It is said by many that Lord Mahāvīra was the greatest spokesman of the doctrine of Ahinsā This is true no doubt but what He primarly taught was how man was related to man, the sub-human, and the non-living world and how he should behave in order to entricate himself from the bondage of the non-soul, without causing any harm to the worldly things about him. There were several other thinkers in those days, who were trying to mould the society with varying success. But none of them appeared to have possessed any formula which would solve all problems of life and matter, maintaining complete consistency all over.

The most important principle taught by the Lord is contained in the following sūtra. जीवाजीवास्रवबंध संवरनिर्जरामोक्षास्तत्वम् । — तत्वार्थसूत्र. प्रथमोऽध्याय सूत्र ४

Jīvājīvāsrava bandha saṃvara nirjarā mokshāh tatvam.—Chapter I Sutra 4 Tatwārtha sūtra.

Meaning :— The truth lies in understanding how the non-living element enters into the living element, remains there, how the entrance is to be checked, how the non-living matter is to be purged and how the soul (living element) is to be made completely free.

This sūtra, if explained and understood in all its perspectives is capable of affording all solutions which would explain the relation between man and man, man and universe and the living and the non-living. To understand and to believe in the inter-dependance and nature of the living and non-living, as explained by the Syādvāda method of Lord Mahāvīra is called 'right faith' (Samyak-darshana सम्यग्दर्शन) according to Jainism, and to acquire correct knowledge based on right faith, and action or conduct according to that knowledge are respectively called 'right knowledge and right conduct' (सम्यग्ज्ञान and सम्यक्चारित्र्य Samyakajñyāna and Samyaka chāritrya). These three together lead one to liberation and save one from the sorrow of this sansāra. But the disciples, who were in close contact with the Lord, being the students for soul-emancipation only, these principles were construed in the light of renunciation only and were not used for the interpretation of the various knotty problems of actual life. Hence the present Jaina sages appear to be altogether aloof and hostile to social interests. In this way the best and the most enthusiastic brains of the society have fallen out of the society and have become of very little use for its guidance and for amelioration of its conditions.

The principles of Lord Mahāvīra as gathered from the effects of this teaching show that man was made the pivot round which the whole of His teaching was moving. The idea, which is governing the minds of other religionist that there is an unknown force or entity by whose favour or displeasure the whole universe is ruled, was unknown in His teaching. In addition to the school of ascetism there must have been started other schools which were intended to ensure the social upkeep solidarity and harmony but as no attempts were made to reduce the teachings with regard to these other schools we do not know anything about them in book-form.

On attaining proper or right knowledge (सम्यग्ज्ञान) (Samyakjñyāna) after completely mastering right faith and on right translation of the same into conduct concerning self and the society, the mind becomes full and endowed with qualities creating perfection in it and then the mind refrains or weans away from the tendency of causing injury to another and this is called the

vow of Ahimsā or non-violence, which is the first of the five vows according to Jainism. The remaining four vows namely the vow of truth, the vow of non-stealing, the vow of celibacy and the vow of non-attachment to material things similarly arise and carry great weight in Jaina thought. Mere refraining from causing harm to another does not by itself, bestow any merit on the individual and this is made evident by the Shāstras which say Pramādāt-prānavyaparopanam himsā (प्रमादात्प्राणव्यपरोपणाहिंसा.) Violence is that which is caused by pramāda i. e. under the influence of passion or negligence.

This would indicate what was originally conceived by the term Ahimsā or non-violence.

By application of the new method shown above we have been able to form some idea of the activities set in motion by the Lord for the readjustment and development of the society of His time : We have now to see what might have been the sources from which He might have collected the information necessary for the purpose of His activities, We think that the conditions of the province of Ayodhyā at the time when Lord Rishabhadeva inaugurated His reforms in that province were similar to the conditions obtaining just before Lord Mahāvīra started His mission. Achārya Jinasena says in his Mahāpurāna as to what was thought by Lord Rishabhadeva at that time :—

पूर्वापराविदेहेषु या स्थितिः समवस्थिता ।
साद्य प्रवर्तनीयात्र ततो जीवन्त्यमूः प्रजाः ॥

Purvāpara Videheshu yā sthitih samavasthitā
Sādya pravartnīyātra tato jivantyamūh prajāh.

Meaning :—' The condition or civilization which was existing in East and West Videh countries must be brought into existence in this country. Then alone will these people live Having thus Lord Rishabhadeva introduced into the country of Ayodhyā all the cultural reforms which were existing in Videha-kshetra Similar inference can be drawn as regards Lord Mahāvīrā also.

It is wellknown that long before the time of Lord Mahāvīra the Phœnicians of the west were great experts in merchantile activities and were carrying on a big caravan traffic from Egypt to the Indian border, where too they had a seat of their culture in Mahenjo-Daro and Harappa. The Egyptians and Mesapotemians were famous for their sculptural arts from very ancient times. The science of astrology had attained a very high stage of perfection in Mesapotemian provinces. Circumstances were happening in Persia and in the neighbouring countries to her west which culminated in esablishment of empires there. China had secured fame as a great industrial country. These circumstances must have been sufficient for the quick

understanding of Lord Mahāvīra. It appears that Lord Mahāvīra took advantage of all those happenings outside the borders of Āryāvarta and introduced them in this country adding to them His principles of Non-violence (Ahimsā), non-attachment (Aparigrapha) and Syādvāda and thus raised Āryāvarta far above the level of the adjoining countries. Unless this is so construed how can the long period of twelve years of His penance and austerities be explained? His disciples, being altogether ignorant of His previous preparation and what was going on outside this country looked upon Him with astonishment and wonder when they noticed the numerous activities emanating, as if, by magic from Him and in the midst of which He remained altogether unattached and took Him to be omniscient. He appeared to have discouraged the ancient and time-honoured system of yakshas and encouagred the orders of Shramanas and Yatis. The Shramanas were required to approach every layman who was to be actually taught by them by taking pains (shrama = to take pains) and Yatis were saddled with the duty of raising the standard of the householders (yat = to strive).

His emblem was lion. This was perhaps the indication that the non-violence which He preached was the non-violence of the brave and not of the coward.

It has already been remarked above that before Lord Mahāvīra and Gautama Buddha began their preaching, there had arisen several teachers who had their own schools. Each of those teachers had his theories about soul, God, matter, predestination etc. many of which looked most inconsistent and apparently mutually destructive. Gautama Buddha appeared to have got tired of the intricacies adn delicacies of those theories and exhorted his disciples not to worry about those theories and asked them to focus their attention on Man and on the question as to how Man can be made happier His was a religion of a kind of nescience. Lord Mahāvīra, on the other hand, approached those theories from the Syādwāda point of view and without destroying or ignoring any of them He collected together the best of them all and built his edifice of all-sided religion. He gave Syādwāda mode of reasoning to the world.

Full and complete knowledge based on right faith and translated into right conduct coupled, at the same time, with complete non-attachment to non-soul matters was considered by Lord Mahāvīra as a condition precedent for the final release of the soul from the bondage of worldly life: while notions regarding soul, matter, universe &c. appearing in the Buddhistic canons being dubious and uncertain, the Buddhist school does not appear to have considered that complete non-attachment to worldly matters was essential for the attainment of Nirwāna or final beatitude.

The Significance of the Name Mahāvīra.

By Śrī Kāmtā Prasāda Jain, M. R. A. S., Aliganj.

[प्रस्तुत लेखमें हमने यह निर्देश किया है कि यद्यपि अन्तिम तीर्थंकरका नाम वर्द्धमान था, परंतु उनकी प्रसिद्धि महावीरके नामसे हुई है। अतएव इसमें मुख्य कारण उनकी वीरवृत्ति ही थी। इन्द्रने उनके दर्शन करतेही 'वीर' कहा। चारण मुनियोंने 'सन्मति' कहकर पुकारा। सगमदेवने परीक्षा करके उनका नाम 'महावीर' रक्खा। रुद्रने उनको अतिवीर महावीर कहा। सगमदेव सर्परूपमें उनके समक्ष आया। दुनियाके लोग सर्पको कालस्वरूप मानते और उसे मारनेको दौडते हैं। सगमने सर्पका भयंकर रूप धारण करके युवकवीरके हृदय और शरीर दोनोंको टटोला—दोनोंको उसने अनुपम पाया। उनके हृदयमें सर्पको मारनेकी अनार्य भावना जागृत नहीं हुई ; प्रत्युत उस पशुके अन्तर्तलसे पाशविकताका अन्त करनेके लिये उन्होंने उसे वशमें किया था। इसलिये वह सर्वतोभद्र वीर थे और महावीर नामसे ठीक प्रसिद्ध हुए। तत्कालीन पशुताका उन्होंने अन्तकिया। वह सर्वश्रेष्ठ क्षमाशूर, तपशूर, दानशूर और युद्धशूर थे। कषायोंको जीतकर सफल जीवन विताना और पंडितमरणका वीरभाव उनके आदर्शसे प्रगट हुआ। —का. प्र.]

The last Tīrthankara of the Jainas is generally known by the name Mahāvīra. Few would suspect that Mahāvīra is not His name of birth. His parents, Ksatrīya Siddhārtha and Ksatriyānī Triśalā Priyakārinī fixed His name as Vardhamāna, because with his birth the wealth and prosperity, fame and merit of the Jñātra clan and of Kuṇḍagrāma increased.[1] He is called as Śramana Vardhamāna in canonical Jaina books.[2] Yet He earned the name Mahāvīra and came to be known as Tīrthankara Mahāvīra. Tradition however, makes it clear that his other names besides Vardhamāna, were Vīra, Mahāvīra and Ativīra-Mahāvīra. The Chārana ascetics gave Him the name of Sanmati, because they foresaw a great intelligence and Teacher of mankind in him, Whose mere look dispelled their doubt ond ignorance.[3] Indra, the celestial lord, was pleased to see the child Vardhamāna, in Whom he saw a true Hero and he called Him by the name of VĪRA.[4] Once Indra was praising the great courage of Vīra Vardhamāna, a celestial being namely Sangama, took fancy to test it. Prince Vardhamāna was playing with His companions in the royal grove. Sangama Deva appeared there with its superhuman powers in the form of a huge cobra. Companions of Vardhamāna took to their heels seeing it, but Vardhamāna was calm and quiet. He show-

1. *Aśaga-kavi*, Mahāvīra-caritra, Sarga XVII, Sl. 91 & Kalpasūtra, 32-80.
2. Kalpasūtra, 32-108 ; Uttara purāna, 74.276
3. तत्सदेहगतेताभ्या चारणाभ्या स्व भक्तितः। अस्त्वेष सन्मतिर्देवो भावीति समुदाहृतः ॥७४॥
२८३ ॥ —उत्तरपुराण,
4. Ibid, 74.276.

ed no tinge of fear. Cobra used its all ferocious strength to subdue the hero Vardhamāna, but it happened otherwise. Having been subdued by the great strength and courage of the Jñātra Prince, Sangama the celestial being appeared in its true form before Vardhamāna and paying homage to the Conqueror, called Him by the name of Mahāvīra (the Great Hero).[5]

In fact Prince Vardhamāna possessed an unique supreme personality.[6] A great scion of Jñātra Ksatriya clan, born among the free people of the great Vajjian republic, He was brave and virtuous, pious and chaste and cherished a very great tender regard for causing good and no harm to every living being. He saw around Him great wrongs in each and every walk of life and could not sit idle at home, enjoying sensual gratification. A youth of thirty as He was, He showed great courage in renouncing world[7] and He underwent all sorts of hardships and sufferings for full twelve years. Once He was standing silent merged in deep and pure meditation in the cemetry ground of Ujjain, the Rudra couple happened to pass by Him. Stark naked as He was, the couple took ill and caused all sorts of sufferings to Him, which He bore with unflinching courage, peace of mind and immense love His forbearance and love appealed to the heart of Rudra, the ferocious, who fell in His feet and begged pardon for his misdeed.[8] Nudity is garb of Nature. Passions make people sinful and they abhor nudity, hiding sins and shame in the deluding garbs of etiquette. Rudra's heart was not pure, but he took no time to make out his mistake and he paid homage to the great hero Vardhamāna. Out of gratitude and in order to declare in the world, the greatness of the hero, he called Vardhamāna by name Ativīra Mahāvīra (the Greatest Hero among the Great Heroes).[9] Such is the traditional account about the different names of the last Tīrthankara which is sufficient to satisfy a true believer. But the fact that the Lord came to be known singularly by the name of Mahāvīra must have a great significance hidden in it. So Let us try to have a glimpse of it.

We are told that Hero (VĪRA) He was, because He made one and all

---

5. 'विजृम्भमाणहर्षाम्भोनिधिः संगमकामरः । स्तुत्वा भगवान् महावीर हरिनाम चकार सः' ॥ २०५ ॥ ७४ ॥ उत्तरपुराण.

6. A reference of Varddhamāna's great personality is made in the famous inscription of Hāthīgumphā cave

7. Kalpasūtra, JS (SBE), *Pt.* I, pp. 260-262. & Uttarapurāṇa, Sarga 74.

8. " स्वयं स्खलयितुं चेतः समाधेरसमर्थकः ।
स महाति महावीराख्यां कृत्वा विविधाः स्तुतीः ॥ ३३६ ॥ ७४ ॥ उत्तरपुराण.
See also *Asaga-Kavi*, loc. cited; XVII, 126.

9. 'णिस्संसयकरो वीरो महावीरो जिणुत्तमो । राग-दोस-भयादीदो धम्मतित्थस्स कारओ ॥ १६ ॥' — जयधवला, पृ. ७३

free of fear and danger.[9] One cannot be the follower of Mahāvīra unless he becomes Niśśanka (fearless) and Nikkānchhī (conqueror of desires) to the best of one's ability.[10] But Varddhamāna was not only a hero, rather He was great hero among the heroes. Well, now let us see here, who should be styled a hero in the true sense? Generally courage, boldness and bravery for the right cause is passed for heroism Every nation have heroes,—heroes of war, science, patriotism and religious fervor. But the condition for being a true hero is to subdue and conquer one's own Self. In Indian Sanskrit literature four kinds of heroes are described, namely Heroes (1) of religion Dharmavīra, (2) heroes of compassion Dayāvīra, (3) heroes of genrosity Dānavīra and (4) heroes of battlefield : Yuddhavīra.[11] The Jainas also name four kinds of heroes, i. e those of compassion, penance, generosity and battlefield.[12] This classification is based on merit and the amount of bravery and selfdenial required in the performance of the right deed for the good of all. True heroism begins with Dharma or compassion, for heroism has been regarded as the generosity of the highest order. Prince Vardhamāna possessed a noble heart. He was courageous enough from very boyhood to speak truth, to stand by the side of just and to resist every temptation. Māra (cupid) aimed at Him his full-fledged arrows, but they were of no avail near Him. He became Mārajit, victorious over cupid and a great hero of Religion "Thus as hero at the head of a battle, He bore all hardships and remaining undisturbed, proceeded on the road to Deliverance. Understanding the truth and restraining the impulses for the purification of the Soul, He finally liberated."[13] Hence a great Ksamāśūra and Tapaśūra He was.

Undoubtedly Mahāvīra Vardhamāna figured as a supremely gifted Ksatriya Teacher and Leader of Thought, Who gathered unto Him many men and women and was honoured and worshipped by many hundreds and thousands of Śrāvakas or lay disciples.[14] He was acknowledged as 'a great guardian,' 'a great guide,' 'a great preacher,' 'a great pilot,' and 'a great ascetic.'[15] While He was on a touring visit to Rājagraha, Śrenika Bimbisāra, the renowned king of Magadha, paid a glowing tribute to Him, saying, that "You have made the best use of human birth, You have become a true Jina (Spiritual Conqueror). You are a Protector (of mankind at large), and of your relations, for, you have entered the path of the best Jinas." Forthwith the king together with his wives, servants and relations became a staunch

10 *Samantabhadra*, Ratnakarandaka

11 'स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धास्यात्।' — साहित्यदर्पण ३.

12. 'चत्तारिं सूरा प. त खंतिसूरे, तवसूरे, दाणसूरे, जुद्धसूरे।' — ठाणाग सुत्त.

13 Acārānga. I, 8, 9 (JS I, 87).

14. *B. C. Law*, Mahāvīra : His Life & Teachings, (London), pp. 18-19.

15. Uvāsaga-dasāo, Lecture *VII*

believer in the Law, with a pure mind.[16] Many other Rulers of India followed in his steps and became disciples of Mahāvīra.[17]

Mahāvīra Vardhamāna gave freedom of thought, speech and work to all, in a period when it was deemed impossible to even raise one's voice against the existing religious dogmas and rituals, howsoever absurd and intolerable were they. Mahāvīra set an example of spiritual heroism, which changed the very mode of life of mankind. Ahimsā replaced Himsā in every walk of life. So freedom taught by Mahāvīra was not confined to spiritual realm alone. As an omniscient profound teacher, Mahāvīra delivered discourses on every branch of knowledge and science. People of India particularly and the mankind in general, was greatly benefitted by His teachings and the Jaina canonical literature was so immense and varied that it satisfied people of every pursuasion. But pity is that most of it has been lost and with it the knowledge of secular sciences as taught by the Lord, have also gone into oblivion. However the mere list of their contents and the remaining portions of it are enough to prove that Tīrthankara Varddhamāna was a true and great hero of generosity, Dānaśūra.

As a Tīrthankara, He was naturally destinied to bestow security and refuge to one and all, who were fortunate to reach near Him. His mere contact wiped away every tinge of fear from the heart, which anticipates and heightens future evils. Thus the contact and company of Mahāvīra was a safeguard against evil and sin for men.

Fear is itself more than its pain and coward becomes a source of evils to others. Varddhamāna knew it well and He made it incumbent for His followers to become fearless, for they knew the true nature of Soul and other substances of the world. Soul is eternal, all-knowing, and blissful in essence. Then why man should be afraid of anything? Amālikrīdā incident of Varddhamāna's life, as narrated above earned Him the name of Mahāvīra. He was not afraid of the great cobra but never entertained a barbarian idea of killing it. Death personified, a cobra is regarded in general and tendency of average people is so full of cowardice and fear that they freely harbour the non-Aryan idea of killing it. But what right have they to snatch away the body and living vitality of snake-soul, which are as much dear to its self as they are dear to aggressive mind of man. The significance of this incident of conquering cobra is manifest itself, since it establishes obviously that Varddhamāna, even in His boyhood imbibed the spirit of and followed the Aryan Truth of Ahimsā (non-Injury); which imparts security and succour even to an alien foe in its highest aspect. Due to this unique significance of the Amālikrīdā incident, it has

16. *Shah*, Jainism in North India, p. 117.

17. See "Some Historical Jaina Kings & Heroes" by K. P. JAIN. (Delhi)

been given a prominent place in the Jaina literature and a stone plane depicting the scene of this incident belonging to Indo-Scythian period was unearthed from Kankālī Tīlā at Mathurā.[18] Thus Varddhamāna being an abode of all security and safety to one and all—man and animal alike, was rightly distinguished and named "Geratest Hero" Mahāvīra. To adore Him is to persevere to become a hero like Him. Let every human being be security for his own soul and that of others also. This Aryan idea will pave the way of Liberation and World-peace.

Jainism also possesses heroes of battlefield, *Yuddha-vīras*, but its heroes of battlefield are of another kind There had been kings and warriors of Jaina pursuasion, who gallantly fighting fell in battle. But they never fought aggressive battles and always tried to follow the principle of Forget and Forgive, which imparts spirit of Ahimsā. Thus 'the aim of the Jaina warrior was not the glory of battlefield, rather if they survived they went home, after accomplishing their duty but as leaders of the army and of their people and practised the life of a devotee.'[19] They knew well the teaching of Mahāvīra :—

"Though a man should conquer thousands and thousands of valiant foes, greater will be his victory, if he conquers nobody but himself."[20]

This is the right conquest and true victory. In this sense Varddhamāna has been glorified as a true hero and a leader in the battle.[21] He has been rightly compared with a warrior, when it is said that "Like a hero, a leader in the battle, or, in front-line, thus became thereby this Great Hero."[22] Varddhamāna fought a great battle which only very few are fortunate to fight out. He fought successfully with passions and karmas. "Making Faith His fortress, Penance and Selfcontrol the bolt of its gate, Patience its strong wall, so that guarded in three ways, it is impregnable; making zeal His bow, its string carefulness in walking and its top (where the string is fastened) content; He bent this bow with Truth, piercing with the arrow, Penance, (the foe's) mail Karman, He the sage, became victor in battle and got rid of Samsāra."[23] It was the highest victory and it bestowed immense joy and wealth imperishable on the conqueror.

---

18. No. 1115 of the Curzon Museum Maṭhurā.
19. *Otto Stein*, Vira, Vol. *XI*, p. 14.
20. Uttarādhyayana-sūtra, 34. 9.
21. संगामसीस, — आचाराङ्ग। १। ६। ४। ३।
22. 'सूरो संगामसिसे स। सवुडे तत्थसें महावीरे' १।९।३।१३ आचाराङ्ग.
23. Uttarādhyayana sūtra, (SBE.) 20-22. 9

Thus Varddhamāna becoming a great hero of bloodless alter of self-denial and sacrifice, never thought it proper to allow bloodshed, because non-harming, Ahiṃsā, is the very first principle of higher life and Aryan culture. Hero of battlefield though a hero is he, but of lowest order. His bravery is commendable in world only when it is not agreessive. Chandragupta, Asoka, Khārvela, Ravivarmā, Amoghavarsa, Kumārapāla and many other renowned kings of India were followers of Mahāvīra and they fought battles.[24] Yet they lived only like the Lord, to glorify the principle of Ahimsā. Great general Chamuṇḍa Rāya[25] fought no less than 84 battles for his king and country, yet he was ever vigilant of Ahimsā vow. He was so concentrated and serene in his thought that he always observed Jain vows even on battlefield and composed " Triṣasti-Śalākā-Puruṣa-Caritra", which narrates the pious deeds of Tīrthankaras and other great personages, during the disturbed moments of warfare. Perhaps for a modern mind this kind of heroism may not be comprehensible, but it is essential for freedom and prosperity of mankind, because it guarrantees security, peace and fearlessness to every living being. It requires no code, but mere change of heart. M. Gandhi was a living model of it.

Mahāvīra Varddhamāna set an example of highest and noblest type of heroism and so people remembered Him by the name Mahāvīra. His example exhorts us to love and serve all and to live a noble life of Aryan Ahimsā and help others in living to it. Likewise man should not fear to face the death and conquer its pain and agony. Death is only a passport to change the sojourn of a place to another region and it marks a stage in the progress of soul. For the development of soul-realisation the aspirant have to remain awake to real nature of substances while struggling with the agony of Death. Hence he should perform Sallekhanā, which is called Pandita-marana (wise death). As such nobody should be afraid of death. Sallekhanā vow of Mahāvīra teaches us to die in a befitting manner for the right cause through the right way.[26] Thousands of votaries have observed it and Vīrgals (epitaphs of heroes) are set in their sacred memory. Varddhamāna conquered Death and attained to Nirvāna, never to return in worldly life of bondage. Great Conqueror He was, so rightly He was named Mahāvīra. His great name inspires the devotee and he recites it with faith and joy every moment in the prescribed formula with the assurance of success :

" Om namo Bhagavao arahao ! sijjhau me bhagavai Mahāvijjā ! Vīre, Mahāvīre, Senavīre Vaddhamāna Vīre, jayante aparājie, Svāhā ! "

---

24. *K. P. JAIN*, Some Historical Jaina Kings and Heroes, pp. 11-17.
25. Ibid, p. 96-100
26. *C. R. Jāin*, Sannyāsa-Dharma, pp. 118-132.

Lord Mahāvīra—Varddhamāna

(FROM ASTROLOGICAL POINT OF VIEW)

By L. A. Phaltane, Esqr B. A., LL. B., Pleader, Islampur, Tal · Walwa

[श्री फलटणेजीने ज्योतिषविद्याके अभिज्ञानानुसार भ. महावीरका परिचय प्रस्तुत लेखमें कराया है। भगवान्‌की जन्मकुंडलीको उपस्थित करके उन्होंने भगवान्‌के व्यक्तित्वपर प्रकाश डाला है। किसी अवतारी पुरुषके होनेके लिये जो गृह योग ज्योतिर्ज्ञानसे अभीष्ट हैं, वह भगवान्‌की जन्मकुंडलीमें मिलते हैं। अतएव वह अवतारी महापुरुष थे। यद्यपि प्रसिद्धि म. बुद्धकी भी अत्यधिक है। इसपर जैन शास्त्र बताते हैं कि भ. महावीरके कालमें मिथ्या मत प्रचलित रहे; परन्तु वस्तुतः तीर्थंकर तो भ. महावीरही थे। भ० महावीरके विषयमें श्वेताम्बर जैनोंका मत है कि उनका विवाह हुआ था, किंतु भगवानकी जन्मपत्रिकामें गृहयोगोंकी जो स्थिति है उससे उनकी पत्नीका अभाव सिद्ध है। उसमें सातवें गृहमें राहु दो पापगृहोंसहित है। अत. भगवानके पत्नी हो नहीं सकती, जैसे कि दिगम्बर जैनोंकी मान्यता है। भ. महावीरने बारह वर्षके तपश्चरणकालमें दूर दूर देशोंमें विहार किया था, यह बातभी उनकी जन्मपत्रिकामें गृहयोगोंकी स्थितिसे सिद्ध है। सातवें गृहमें कन्याराशिका अस्तित्व दर्शन शास्त्रकी परिपूर्णता, लेखन शैलीकी विशिष्टता और ज्ञानार्जनके लिए विशद यात्रायें करनेका द्योतक है। नवें गृहमें चन्द्रकी स्थिति मानवके राजयोग और गुणको प्रगट करती है, मानो वह अंधकार नाशक ज्योत्सना हो। अन्य गृहस्थिति उनकी लोककल्याण भावना, सर्वज्ञता, और आप्तपनेको सिद्ध करती है। वह प्रफुल्लवदन थे और चन्द्रगुरु योगके भारी से भारी श्रेष्ठ अभयदानी थे। — का. प्र.]

It is my humble opinion that Lord Mahāvīra has not been properly understood even by the Jainas who profess themselves to be His devoted followers Bhagawāna Buddha was His contemporary and is said to have greater following than Mahāvīra This fact has induced many to think that the prime force that was at the root of the great upheaval that took place at that time must have been Bhagawan Buddha and not Lord Mahāvīra. Fortunately we have secured the horoscope of Lord Mahāvīra though not that of Bhagawān Buddha from which we can have some idea as to what the real things might have been. It is acknowledged by all that there can be only one Tirthankara or Avatāra at one time and in one locality though there may arise several personages calling themselves teachers of authority and wielding great influence over the masses. It behoves us therefore to study the horoscope of Lord Mahāvīra and to find out His real place at His times. His horoscope is as follows —
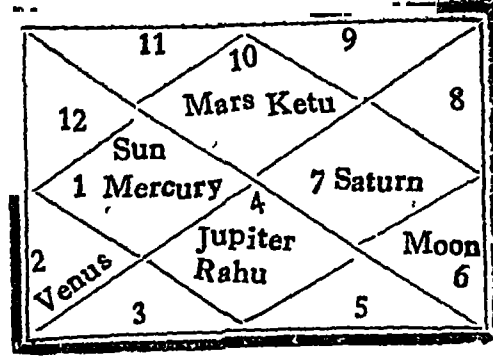
The following rule may be noted :—

त्रिकोणेसित वा देवेड्यः स्वोच्चकेंद्रगतः कर्जः ।
चर लग्ने यदा जन्म योगोऽयमवतारजः ॥

Trikone Sita vā devedyah swochchakendragatah Karjah.
Chara lagne Yadā Janma Yogoyamavatārajah.

Meaning :—

When Venus or Jupiter appears in the 5th or 9th house, when the full-fledged Saturn occupies one of the kendra places (1st, 4th, 7th or 10th) and when the birth occurs on Charalagna then arises the possibility of an Avatāra. All these circumstances are present in the horoscope of Lord Mahāvīra. This means that Lord Mahāvīra was an Avatāra or a Tīrthankara and if we keep in mind the rule that there cannot be more than one Tīrthankara or Aavatāra at one and the same time and in one locality, we must hold that no other person can claim to rise to the stature of a Tīrthankara at that time. The presence of large following is immaterial and such following with a contemporary of His does not detract any importance from Lord Mahāvīra. It is said by one of the Ācharya :—

— सन्मतिं मुक्त्वा शेषतीर्थंकरोदये ।
दुर्नयानामनुद्भूतिख्यापनं लक्ष्यतां स्फुटम् ॥

— Sanmatim muktvā Sheshatīrthankarodaye
Durnayānāmanudbhūtikhyāpanam Lakshyatām sphutam

Meaning :—

It should be noted that erring faiths did not arise at the time of the remaining Tīrthankara excepting Lord Mahāvīra.

In the case of Lord Mahāvīra there has arisen a point of great contest between different schools of Jainism. The Śvetāmbara Jains hold that Lord Mahāvīra was married and had a daughter from that marriage, while the Digambara school asserts with definiteness that Lord Mahāvīra was a bachelor and that there was a talk going on about His marriage, but actual marriage had not taken place. It is a serious question as to why there should be such a great difference between the two schools. We think it wise to approach

to the rules of astrology and apply them for the interpretation of the horoscope of the Lord. There are two rules one of which runs as under :—

पत्नीभावे यदा राहुः पापयुग्मेन वीक्षितः।
पत्नीयोगस्तदा न स्यात्..............

Patnībhāve Yadā Rāhuh pāpayugmena-vīkshitah
Patnīyogastadā na syāt.....

Meaning :— When the Rāhu appears in the seventh house and is aspected by two evil planets there is no possibility of a wife to the individual

In the horoscope in question Rāhu stands in the seventh house and is seen by two evil planets Saturn and Mars. It appears therefore that there cannot be any wife to Lord Mahāvīra.

In other places the rule appears in the following way :—

पत्नीभावे यदा राहुः पापयुग्मेन वीक्षितः।
पत्नी योगस्थिता तस्य भूताऽपि म्रियतेऽचिरात् ॥

Patnībhāve Yadā Rāhu pāpayugmena Vīkshitah
Patnī Yogasthitā tasya bhūtāpi mriyate chirāt

Meaning :— " when Rāhu stands in the seventh house and is aspected by two evil planets the wife of the individual remains in expectation and while in expectation she soon dies " This interpretation leads us to the belief that the version given by the Digambar school of Jainism is correct.

It has been propounded by me in another article that Lord Mahāvīra must have undertaken long travels during the long period of twelve years in which He observed great silence. Astrology tells us that Kanyā rāśi in the 9th house means perfection in philosophy, acquisition of great skill in writing and long travels with an object of learning and study The horoscope of the Lord contains Kanyā rāśi in the 9th house. This horoscope possesses moon in the 9th house. The rule in this respect runs thus :—

लाभे त्रिकोणेयदि शीतरश्मिः
करोत्यवश्यं क्षितिपालतुल्यम् ॥
कुलद्वयानंदकरं नरेंद्रं
जोत्स्ना हि दीपस्तमनाशकारी ॥ २३ ॥ मानसागरी

Lābhe trikone yadi shītarashmīh
Karotyavashyam Kshitipāla-tulyam
Kuladwayānandakaram narendram
Jyotsna hi deepastamanāshakārī

Meaning :—

The moon in the 11th and 5th and 9th houses makes a man like a king giving joy to both the families. He becomes like moonlight which dispels darkness.

The above two rules considered together show that the Lord Mahāvīra must have undertaken long travels for the sake of acquisition of knowledge, study of philosophy and understanding of cultural and ennobling activities. He moved about like a monarch giving joy to all and dispelling ignorancs with the light of knowledge.

The Mars in the Makara rāśi which stands in the 1st house (lagna) of His horoscope shows service to the world with complete negation of self interest and the existence of Ketu near Mars heightens that quality to the greatest extent.

Venus and moon standing 120 degrees apart in His horoscope show development of omniscience in Him ; make Him God in-carnate : a *Karma-yogi* and a possessor of Siddhis.

Possession of great vairāgya in Him is indicated by Saturn and Jupiter standing in His horoscope at a distance of 90 degrees from each other.

Generally people are indicated by the Moon which stands *in the bhāgya-sthān* i. e. the 9th house of the horoscope under question. *The moon is* the owner of the 7th house and from moon the Venus *is the 9th house i. e.* the 5th house of the horoscope. The 5th house is *indicative of sons* [illegible] occult learning. The Venus of Vrishabha rāśi shows *sculptural arts* [illegible] cultural activities which bring about harmonious *development of the* [illegible]. This circumstance accounts well for my proposition *that the arts of* [illegible] ture and science and tho cultural activities with *which the country* [illegible] flooded in post—Mahāvīra times, arose as a *consequence of the* [illegible] inaugurated by Lord Mahāvira.

What must have been the facial appearance of the Lord? The [illegible] says :—

प्रफुल्लवदनः श्रीमान् केंद्रे [illegible]

Prafullavadanah Shrīmān Kendre [illegible]

Meaning :—

When the Lord of the second house [illegible] the individual possesses a full blown [illegible] would show what was the facial appearance of Lord [illegible].

We shall fiinish this article [illegible] will throw great light on the [illegible]

चंद्रचूडो भवेद्योगो धर्मपो यदि केंद्रगः
योगेऽस्मिन्दानशीलश्च गुणपूर्णो भवेन्तरः ॥

Chandrachūdo bhavedyogo dharmapo yadi kendragah
Yogesmin dānashīlascha gunapūrno bhaventarah

Meaning :—

When the Lord of the 9th house occupies one of the kendra places that Yoga is called 'Chandrachūda' Yoga. In this Yoga a man becomes charitable and endowed with all qualities

This rule is applicable to the horoscope in question and explains the general qualities of the Lord.

विश्व विभूति भगवान महावीरकी जयन्ती !

(श्री० सुरेन्द्रसागरजी जैन, 'प्रचंडिया' साहित्यभूषण, कुरावली)

एक युगकी है बात—
देशभी यही
जल थल वायु अग्नि
और थी यही मही।
किन्तु समय और था,
वातावरण भिन्न था।
शासन देव 'पार्श्व' का
प्रचारित सद्धर्म पंथ
हो चला अवरोधित था
कुरीति कंटकोंसे अति !
सचमुच दीखती थी विषम गति ! !
धर्मकी महान क्षति ! ! !
धर्म कर्म यह था—
क्षुद्र निज हेत-हित
निपट विकट स्वार्थ प्रति
भोले मौन अज-यूथ
प्रखर कुठारसे
निर्दय प्रहारसे, वध कर देते थे
मानवकी संज्ञाधारी—
दानव-सी हत्यारी
प्रकृतिको धार कर
हिंसाको प्यार कर
उस कालकेही अपनेही पुरुषा वृन्द !
भोगनेको नाना भोग होकरके स्वच्छन्द!!
बननेको निर्द्वन्द्व ! ! !
क्षुद्र महाकाली देविकी यह थी उपासना!
छिपी हुयी जिसमे अदृष्ट क्षुद्र वासना ! !
अपना प्रकर्ष दृश्यमान करते थे जन—
दिखलाके पौरुषबल और निज प्रज्ञा
एक भोले जीवित पशुको
बनाते यज्ञका आज्य !
भोला निरीह पशु, इस विधि
करता प्राण त्याज्य ! !
खींच उसे डालते थे
कुंडमें मेधके
बल्लम सिरोहीसे अंग अंग बेधके।
यह था अश्वमेध !
यह था धर्म कर्म
यह था धर्म मर्म
और तो और अरे
अपने सुत रक्षणको
होगए इतने पतित थे
उस कालके मानव गण !
कृत्य, दुष्कृत्य करते थे प्रत्येक क्षण !
अपने समानही
संज्ञाधारी दीन हीन मानवको
महाकाल तृप्ति हित
बरबस झौंक देते थे
यज्ञकी हुताशनमें !
यह था उपाय एक
यह थी अटल टेक—
होगा बस नरमेध !

(पृ० १२८ पर देखो)

Date of the Nirvāna of Lord Mahāvīra

By M. Govind Pai

[श्री. म. गोविन्द पयने प्रस्तुत लेखमें भ. महावीरके निर्वाण कालतिथिपर उल्लेखनीय प्रकाश डाला है। बौद्धोंके पिटक ग्रन्थोके उल्लेखोंसे उन्होंने सिद्ध किया है कि भ. महावीर म. बुद्धसे आयुमें अधिक थे और म. बुद्धके जीवनकालमें भ. महावीरका निर्वाणकल्याणक घटित हुआ था। 'दीघनिकाय'के पासादिक सुत्तन्तसे यह बात प्रमाणित है। बर्माके बौद्धोंकी गणनानुसार म. बुद्धका जन्म ३० मार्च (शुक्रवार) ५८१ ई. पूर्वको, उनका गृहत्याग १८ जून (सोमवार) ५५३ ई० पूर्वको, उनका बोधिज्ञान ३ अप्रेल (बुधवार) ५४६ ई. पूर्वको एवं परिनिर्वाण ता. १५ अप्रेल (मंगलवार) ५०१ ई. पूर्वको हुआ था। बर्मावाले अपनी गणनानुसार बुद्धसंवत् २७ फरवारी ५४७ ई. पूर्वसे प्रारंभ करते है। अतः भ. महावीरका निर्वाण म. बुद्धके बोधिज्ञान और परिनिर्वाणके मध्यवर्त्ती काल अर्थात् ५४६ से ५०६ ई. पूर्वके मध्य घटित हुआ था। जैन ग्रंथोंसे स्पष्ट है कि भ. महावीरके निर्वाणसे ४२७ वर्ष पश्चात् विक्रम हुये थे। अतः भ. महावीरका निर्वाणकाल ५२७ ई० पूर्व मानना ठीक है। उसकी ठीक तिथि सोमवार ता. १३ सितम्बर ५२७ ई० पूर्व की रात्रि अथवा मंगलवार ता. १४ सितम्बर ५२७ ई. पूर्वका उषाकाल प्रमाणित होता है। भ. महावीरके जन्मकी ठीक तिथि फरवरी (सोमवार) ५९८ ई० पूर्व पयमहोदय सिद्ध करते हैं। उनका यह लेख विद्वज्जनोंके लिये विचारणीय है। — का. प्र.]

1

In the Pāli Būddhistic literature, where the name of Lord Mahāvıra is often[1] met with, he is mentioned as *Nıgaṇtha Nātaputta*,[2] ınasmuch he is the 24th Tīrthaṅkara of the Jainas, who in those early days of Jainism, were called *Nirgranthas* (Pāli *Nıgaṇṭha*), and a scion as well of the Jñāta or Jñātri (Pāli : *Nāta*) clan of the Kshatriyas. For instance, in the *Sabhiya Sutta* of the *Sutta Nipāta*—

एकं समयं भगवा राजगहे विहरति वेळुवने कलन्दकनिवापे। तेन खो पन समयेन सभियस्स परिब्बाजकस्स पुराणसालोहिताय देवताय पञ्हा उद्दिट्ठा होन्ति—यो ते सभिय समणो वा ब्राह्मणो वा इमे पञ्हे पुट्ठो ब्याकरोति, तस्स सन्तिके ब्रह्मचरियं चरेय्यासीति। अथ खो सभियो परिब्बाजको तस्सा देवताय सन्तिके ते पञ्हे उग्गहेत्वा, ये ते समण-ब्राह्मणा सघिनो गणिनो गणाचरिया ञाता यसस्सिनो

1. e. g. *Sabhiya Sutta*, *Sāmañyaphala Sutta*, *Upāli Sutta*, *Sāmagāma Sutta* *Mahāparinibbāna Sutta*, *Pāsādıka Suttanta*, *Saṁgītı Suttanta* ve.

2. Mahāvīra is spoken of as *Jñāta-putra* in several Jaina works as well. It is in fact one of his well-known names, e. g. Hēmacandra's *Abhidhānacıntāmaṇı:*

महावीरो वर्धमानो देवार्यो ज्ञातनन्दनः ॥ ३० ॥

तित्थकरा साधुसम्मता बहुजनस्स, सेय्यथीदं पूरणो कस्सपो, मक्खलि गोसालो, अजितो केसकंबली, पकुधो कच्छायनो, सजयो बेलट्ठिपुत्तो, निगण्ठो नातपुत्तो, ते उपसंकमित्वा ते पञ्हे पुच्छति। ते सभियेन परिब्बाजकेन पञ्हे पुट्ठा न संपायन्ति....... । अथ खो सभियस्स परिब्बाजकस्स एतद्होसि — अयऽपि समणो गोतमो सघी चेव गणी च गणाचरियो च ञातो यसस्सी तित्थकरो साधुसम्मतो बहुजनस्स, यन्नूनाह समण गोतम उपसकमित्वा इमे पञ्हे पुच्छेय्यऽति। अथ खो सभियस्स परिब्बाजकस्स एतदहोसि—येऽपि खो ते भोन्तो समण ब्राह्मणा जिण्णा बुद्धा महल्लका अद्धगता वयो अनुप्पत्ता थेरा रत्तञ्ञू चिरप्पब्बजिता सघिनो गणिनो गणाचरिया ञाता, यसस्सिनो तित्थकरा साधुसम्मता बहुजनस्स, सेय्यथीद पूरण कस्सपो. . पे .. निगण्ठो नातपुत्तो, तेऽपि मया पञ्हे पुट्ठो न सपायन्ति,......कि पन मे समणो गोतमो इमे पञ्हे पुट्ठो व्याकरिस्सति। समणो हि गोतमो दहरो चेव जातिया नवो च पब्बज्जायाति।

i. e. At one time *Bhagavā* i. e. Buddha was dwelling at Rājagṛha in Vēnuvana, in Kalandaka-nivāpa. At that time some questions were recited to Sabhiya, a wandering mendicant, by a deity who had in a former birth been a relation of his "He who, O Sabhiya, be it a Śramana or a Brāhmana, explains these questions to you when asked, near him you should live a religious life'. Then Sabhiya went to whatever Śramanas and Brāhmanas there were, who had an assembly of Bhiksus, and a crowd of followers, and were well-known teachers, famous leaders and were considered excellent by the multitude, such as (1) Pūrana Kassapa, (2) Makkhalī Gōsāla, (3) Ajita Kēśakambali, (4) Pakuddha Kacchāyana, (5) Sañjaya Belatthiputta and (6) Nigantha Nātaputta, i e. *Mahāvīra* and asked these questions. They, however, did not succeed in answering them...... .Then it struck Sabhiya: This Śramana Gāutama, i. e. *Buddha*, too has an assembly of Bhīksus and a crowd of followers, and is a well-known teacher, a famous leader, and is considered excellent by the multitude, surely I think I shall go to him and ask him these questions. Then again it struck Sabhiya: Whatever Śramanas and Brāhmans there are, are *decayed, old, aged, advanced in years having reached old age*, experienced elders, long ordained, having assemblies of Bhiksus, crowds of followers, being teachers well-known, famous leaders, considered excellent by the multitude, such as (1) Pūrana Kassapa ... ... and (6) Nigantha Nātaputta i. e. *Mahāvira*, and they, being asked questions by me, did not succeed in answering them ... ...I should like to know whether Śramana Gautama i. e. *Buddha*, will be able to explain them to me, for Śramana Gautama is both *young by birth* and *new in ascetic life*.

Thus it appears that Buddha and Mahāvīra were contemporaries for some or several years. And besides, since in that period of their contemporaneity Mahāvīra is said to have been old, aged and advanced in years, while at the same time Buddha is known to have been young by birth and new in ascetic life, Buddha would necessarily be much younger than Mahāvīra, younger in age as well as in asceticism, and therefore quite a junior contem-

porary of Mahāvīra. And further since Buddha is not only said to have been an ascetic, but has also been described in exactly the same terms as Mahāvīra, as having an assembly of Bhiksus and a crowd of followers, having been a well-known teacher, a famous leader, and having been considered excellent by the multitude, nay he has been clearly designated *Bhagavā* = Blessed one, which designation came to be invariably applied to him only after he had attained *Bōdhi* or perfect knowledge, it goes without saying that at that time Buddha had already attained enlightenment.

Again in the *Sāmagāma Sutta* of the Majjhima Nikāya as well as in the *Pāsādika Suttanta* of the Dīgha Nikāya, it is said —

एकं समयं भगवा सक्केसु विहरति...तेन खो पन समयेन निगण्ठो नातपुत्तो पावाय अधुना कालकतो होति।

i. e. when once Buddha was staying with the Śākyas..., Nigantha Nātaputta i. e. *Mahāvīra* had just departed his life in Pāva. From this statement it is manifest that Mahāvīra attained *Nirvāṇa* during the lifetime of Buddha, of course after the latter had attained enlightenment.

2

In Bigandet's[2] *Life of Gaudama* the chief events in Buddha's life have been chronicled in the era, said to have been founded by Eetzana, which is Burmese for Añjana, the Śākya king of Dēwaha, which is Burmese for Dēvadaha Country, and the maternal grandfather as well of Buddha, and the *tithis* i. e. the lunar days, the week-days as well as the constellations with which the moon was in combination on those days, have been recorded with reference to the different years of that era, which would seem to have been current at that ancient time. In a paper which I have contributed elsewhere in Kannaḍa,[3] I have formed out the exact equivalent English dates corresponding to each of those events. The chronological data as given in Bigandet's work as well as the corresponding English dates as I have found out,[4] are as follows —

(1) Friday the fullmoon day of the month Katson, which is Burmese for the Indian lunar month Vaiśākha, combined with the constellation Withaka, which is Burmese for the 16th lunar mansion Viśākhā, in the 68th year of the Eetzana era, on which Buddha was born[5] = Friday the 30th of March 581 B. C.

(2) Monday the fullmoon day in the month of July i. e. Āśāḍha,

3. *Prabuddha Karṇāṭāka*, a Kannaḍa Qarterly published by the Mysore University, Vol. XXVII (1945-46), no. 1 pp. 92-93.

4. My English article on the date of the *Pari-nirvāṇa* of Buddha is yet to be published.

5. *Bigandet* II, pp. 71-72,

combined with the constellation Ootharathan, which is Burmese for the 21st lunar mansion Uttarāsādhā, in the 96th year of that era, on which day Buddha departed from home and went into the solitude[6] = Monday the 18th of June 553 B. C.

(3) Wednesday the fullmoon day of Katson = Vaiśākha, combined with the constellation Withaka = Viśākhā, in the 103rd year of that era, when Buddha attained enlightenment[7] = Wednesday the 3rd of April 546 B. C

(4) Tuesday the fullmoon day of Katson = Vaiśākha combined with the constellation Withaka = Viśākhā, in its 148th year, when Buddha attained *Pari-nirvāṇa*[8] = Tuesday the 15th of April 501 B. C.

(5) and accordingly Sunday which was the 1st lunar day of the waxing moon of the month Tagoo i. e Burmese for the Indian month Caitra, on which the Eetzana era began [9] = Sunday the 17th of Feburary 648 B. C.

It is thus manifest that Mahāvīra departed his life within the 45 years that elapsed besween the year 546 B C. when Buddha attained enlightenment, and the year 501 B. C. when Buddha passed away.

3

In the following among perhaps several Jaina works we are told that the exact number of years that elasped between the *Nirvāṇa* of Mahāvīra and the establishment of the Vikrama are of 57 B. C. is 470 era—

(1) In the *Vicāra—Śreṇi* of Mērutunga Ācārya—

विक्कम रज्जारभा पुरओ सिरि वीर निव्वुई भणिया।
सुन्न मुणि वेय जुत्तो विक्कमकालाउ जिणकालो ॥

i. e. the Nirvāna of Śrī Mahāvīra occurred *śūnya* = O, *Muni* = and 7 *Veda* = 4, i. e. 470 years [10] before the commencement of the Vikrama era.

(2) In the *Pattāvali* of the *Tapā gaccha*—

श्री वीरात् ८४५ विक्रमात् ३७५ वलभीनगरी भगः।

---

6 *Ibid.* I, pp 62-63, II, p 72 Clearly the month here has been said to be July inasmuch as in later times Āsādha (in which month Buddha is positively known to have left home) usually synchronises with July.

7. *Ibid.* I, p 97, II, pp 72-73

8. *Ibid.* II, p. 69. 9. *Ibid* I, p 13

10. In order to arrive at the correct figure, the digits indicated by the natural objects, mentioned in the verse, will have to be reversed according to the rule अंकानां वामतो गतिः।

i. e. the city of Valabhī was destroyed in 845 years after (the *Nirvāṇa* of) Śrī Mahāvīra and 375 years after (the commencement of the era established by) Vikrama , Or in other words the Vikrama era commenced 470 years after the *Nirvāṇa* of Śrī Mahāvīra.

(3) In the *Paṭṭavalī* of the *Nandi saṅgha,* as well as in the *Vikramaprabandha*—

सत्तरि चतुसद जुत्तो जिणकाला विक्कमो हवइ जम्मो ।

i. e. Vikrama will be born, or in other words the Vikrama era will be established, 470 years after the *Nirvāṇa* of Mahāvīra.

These quotations suffice to prove that the Vikrama era of 57 B. C. commenced 470 years after the *Nirvaṇna* of Mahāvīra, wherefore the latter event would readily seem to have occurred in 527 B. C.

In several Jaina works on the other hand the *Nirvāṇa* of Mahāvīra has been refered to the Śālivāhana Śaka i. e. the Śālivāhana era, of 78 A. C., which is popularly, though of course wrongly, known as the Śaka era, and which is widely in vogue in southern India in much the same way as the Vikrama era is current in northern India. Some of the quotations from them are as follows —

(1) In the *Vicāra-Śreṇi* of Mērutuṅga Ācārya —

श्री वीरनिर्वृतेर्वर्षैः षड्भिः पञ्चोत्तरैः शतैः ।
शाक संवत्सरस्यैषा प्रवृत्तिर्भरतेऽभवत् ॥

i. e. 605 years after the *Nirvāṇa* of Śrī Mahāvīra, the Saka era became current in India.

(2) In *Titthōgālī Painnaya* —

पंच य मासा पंच य वासा छच्चेव होंति वास सया ।
परिणिव्वुअस्सऽरिहतो तो उप्पन्नो संगो राया ॥ ६२३ ॥

i. e. When 605 years and 5 month had elapsed from the *Nirvāṇa* of Mahāvīra, the Śaka king arose i. e. the Saka era was established.

(3) In *Tīlōya Pannatti* —

णिव्वाणे वीर जिणे छव्वास सदेसु पंच वरिसेसु ।
पण मासेसु गदेसु सजादो सग णिओ अहवा ॥ १४९९ ॥

i. e. When 605 years and 5 months had elapsed from the Nirvāna of Mahāvīra, the Śaka King however appeared i. e. the Śaka era came to be established.

(4) In the commentary *Dhavala Siddhānta* of Vīrasēna Ācārya —

पंचमासाहिय पंचुत्तर छस्सद वासाणि (६०५-६) हवंति एसो वीर जिणिंद णिव्वाणगद दिवसादो जाव सगकालस्स आदी होदि तावदिय-कालो ।

i. e. the Saka era commenced 605 years and 5 months after the *Nirvāṇa* of Lord Mahāvīra.

(5) In the *Harivamśa Purāna* (canto 60) of Jinasēna Ācārya—

वर्षाणा षट्शतीं त्यक्त्वा पंचाग्रां मासपञ्चकम्।
मुक्तिगते महावीरे शकराजस्ततोऽभवत्॥ ५४९॥

i. e. the Śaka king came to be, or in other words the Saka era was established, 605 years and 5 months after Mahāvīra had attained final emancipation.

(6) In fhe *Trilōka-sāra*[11] of Nēmicandra Ācārya—

पण छस्सय वस्स पण मास जुद गमिय वीर णिव्वुइदो।
सगराजो........................॥ ८५०॥

i. e. the Śaka king was, or the Saka era was founded, when 605 years and 5 months had elapsed after the *Nirvāna* of Mahāvīra.

From these quotations it appears that the *Nirvāṇa* of Mahāvīra occurred 605 years and 5 months before the Śaka era began. Now the Śaka era is known to have begun on the 1st lunar day of the bright fortnight of the month Caitra in the year 78 A. C. i e. on Tuesday the 3rd of March 78 A. C., so that the *Nirvāṇa* of Mahāvīra would seem to have occurred in September or October 527 B. C.

4

In Bhadrabāhu's *Kalpa-Sūtrā* (§ 123 and § 147) the time of Mahāvīra's *Nirvāṇa* is detailed as follows—

---

11. In his commentary to this verse Mādhavacandra Traividya, a disciple of Nēmicandra, says (*Māṇikacand Digambara Jaina grantha-mālā*. no 12 p. 341) श्री वीर निर्वृतेः सकाशात् पञ्चोत्तर षट्छत वर्षाणि६०५ पंचमास युतानि ५ गत्वा पश्चात् विक्रमांक शकराजा जायते = in 605 years and 5 months after the *Nirvāna* of Śrī Mahāvīra there will be the Śaka king Vikramānka. If this Vikramānka is the same as the Vikramāditya, the founder of the Vikrama era, as he appears to be, then Mādhavacandra cannot be right in that his identification is in utter disregard of the fact that king Vikramāditya is nowhere spoken of as a Śaka king, but is invariably known as *Śakāri*=the enemy of the Śakas, e g साहसांकः शकारिः स्याद्विक्रमादित्य इत्यपि (जटाधर), 'यो...शकेश्वरं जित्वा गृहीत्वोज्जयिनीं महाहवे...श्री विक्रमार्कः' (ज्योतिर्विदाभरण). And besides from all the so many other quotations given above, it is once for all obvious that the difference of 605 years and 5 months is definitely between the *Nirvāṇa* of Mahāvīra and the starting point of the Saka era, while between the *Nirvāṇa* of Mahāvīra and the beginning of the Vikrama era the difference is 470 years, wherefore also the word सगराजो in this verse can not mean otherwise than the founder of the Saka era. Consequently this curious explanation of Mādhavacandra will have to be duly rejected as erroneous.

तस्सणं अंतरावासस्स जे से वासाणं चउत्थे मासे सत्तमे पखे कत्तिअ वहुले तस्सणं कत्तिय वहुलस्स पन्नरसी पखेणं जा सा चरमा रयणी तं रयणि च्चण समणे भगव महावीरे पावाद...साइणा नक्खत्तेण...पच्चूसकाल समयंसि...कालगद...परिनिव्वुडे ।

i. e. Lord Mahāvīra attained *Nirvāṇa* in the city of Pāvā, when the moon was in combination with the constellation Svāti, the 15th lunar mansion, in the early hours of the morning of the night, which was the night of the 15th day of the dark fortnight, and the last night of that fortnight of the (*pūrṇamānta*) month Kārtika i. e. the night of the newmoon day of *pūrṇamānta* Kārtika (i. e. of the *amānta* month Āśvayuja), which was the 7th fortnight of the rainy season,[12] which was in its 4th month.

Similarly in the *Nirvāṇa-bhakti* of Pūjyapāda Ācārya—

पद्मवन दीर्घिकाकुल विविध द्रुमखंड मण्डिते रम्ये ।
पावानगरोद्याने व्युत्सर्गेण स्थितः स मुनिः ॥ १६ ॥

कार्तिक कृष्णस्यान्ते स्वातावृक्षे निहत्य कर्मरजः ।
अवशेष सप्रापद् व्यजरामरमक्षयं सौख्यम् ॥ १७ ॥

i. e. Mahāvīra attained *Nirvāṇa* in a garden in the city of Pāvā at the end of the dark fortnight i. e. on the new moon day, of the pūrnimānta month Kārtika (= the newmoon day of the *amānta* month Āśvayuja), when the moon was in conjunction with the constellation Svāti.

In the *Vardhamāna caritra* of Ācārya Sakalakīrti—

कार्तिकाख्ये शुभे मासे ह्यमावास्याभिधे तिथौ ।
स्वाति नामनि नक्षत्रे प्रभातसमये वरे ॥ ३३ ॥

i. e. Mahāvīra attained *Nirvāṇa* on the newmoon day of *pūrnimānta* Kārtika (= *amānta* Aśvayuja) when the moon was in conjunction with the asterism Svāti, at sunrise.

In the Kalyāna-mālā of Āśādhara—दर्शेवीरः = Mahāvīra attained *Nirvāṇa* on a newmoon day.

From these works, then Mahāvīra would seem to have passed away on the newmoon day of the *pūrnīmānta* month Kārtika (= the *amānlā* month

---

12. In ancient times the year was divided into 3 seasons of 4 months each: summer, rains and winter Of these the rainy season lasted from the 1st day of dark fortnight of the *pūrnimānta* month Śrāvana (i. e. of the *amānta* month Āsādha) to the fullmoon day of the month Kārtīka; and its 7th fortnight lasted from the 1st day of the dark fortnight of *pūrṇimānta* Kārtika (i. e. the 1st day of the dark fortnight of *amānta* Āśvayuja) to the new moon day of *pūrṇimānta* Kārtika (i. e. the new moon day of *amānta* Āśvayuja).

Āśvayuja), and the exact time of his final emancipation as specified particularly in the *Kalpasūtra*, would further seem to be the end of the last watch of the night of that day towards the early hours of the morning (पच्चूसकाल समयंसि) of the next day, which was the first day of the bright fortnight of (both *pūrṇimānta* and *amānta*) Kārtika.

From the following other Jaina works on the other hand, he would appear to have attained *Nirvāna* at the end of the night of the 14th day of the dark fortnight of *pūrṇimānta* Kārtika (= *amānta* Āśvayuja) i. e. exactly one day prior to the newmoon day particularized for that event in the afore-cited works. Thus (1) In the *Dhavala Siddhānta*—

पच्छा पावाणयरे कत्तिय मासे किण्ह चोद्दसिए।
सादीए रत्तीए सेस रय छेत्तु णिव्वाओ ॥

i. e. Mahāvīra attained *Nirvāṇa* in the city of Pāvā in the night of the 14th day of the dark half of *pūrnimāntā* Kārtika (= of *amānta* Āśvayujā) when the moon was in conjunction with the asterism Svāti.

(2) In the *Uttara Purāṇa* (*canto* 74) of Gunabhadra—

कृष्ण कार्तिक पक्षस्य चतुर्दश्या निशात्यये ॥ ५१० ॥

स्वातियोगे तृतीयेद्ध शुक्लध्यान परायणः ॥ ५११ ॥

गतः...........निर्वाण सर्ववाञ्छितम् ॥ ५१२ ॥

i. e Mahāvīra attained *Nirvāna* at the end of the night of the 14th day of the dark fortnight of *pūrnimānta* Kārtika (= of *amānta* Āśvayuja) when the moon was in conjunction with the constellation Svāti

(3) In the *Vardhamāna Caritra* (canto 18) of Asaga—

स्थित्वेन्दावपि कार्तिकासित चतुर्दश्या निशान्ते स्थिते।
स्वातौ सन्मतिरासशाद भगवान् सिद्धिं प्रसिद्धाश्रियम् ॥ ९८ ॥

i. e. Lord Mahāvīra attained *Nirvāna* at the end of the night of the 14th day of the dark half of *pūrnimānta* Kārtika (i e of *amānta* Āśvayuja), when the moon was in combination with the asterism Svāti.

(4) In the Prākrit *Harivamśa Purāna* of Ācārya Śrutakīrti—

कातिय मासहु किन्ह चउद्दसि साइ णखत्तु याम तुरिमइ णिंसि ॥

i. e. Mahāvīra passed away in the 4th watch of the night of the 14th day of the dark half of the *pūrnimanta* Kārtika (= of the *amānta* Āśvayuja), when the moon was in conjunction with the constellation Svāti.

There is thus an apparent discrepancy as to whether Mahāvīra attained *Nirvāṇa* in the night of the 14th day of the dark fortnight of the *pūrṇimānta* Kārtika (= of the *amānta* Āśvayuja) or in the night of the very next day i e,

of the new moon day of the same lunar month Bat the *Kalpa-sūtra*, which as need hardly be said, is the oldest of all the aforecited authorities, and therefore might well be looked upon as more authentic as well as more authoritative than the others, is explicit in its statement that the event occurred at most the end of the night of that new moon day, which is further emphasized as the last night of that fortnight, as it exactly was, towards the dawn of the next day. That newmoon day corresponds to Monday the 13th of September 527 B. C , and Mahāvīra passed away at the end of the night of that day, or to be quite faithful to the text, at the day break of the next day which was Tuesday the 14th of September 527 B. C. Further from our calculations it appears that on that newmoon day the moon was in conjunction with the asterism Svāti from a little after the sunset, and that phenomenon was current when Mahāvīra attained *Nirvāna* and continued for several hours thereafter, whereas throughout the night of the previous day i. e. the 14th day of that dark fortnight = Sunday the 12th of September 527 B. C , the moon was in conjuntion not with Svāti but with its anterior constellation Citrā Accordingly his *Nirvāṇa* may well be assigned to the last watch of the night of Monday the 13th of September 527 B. C., or to the daybreak of Tuesday the 14th of September 527 B. C

The time of the birth of Mahāvīra is thus recounted in the *Kalpa-sūtra*—

तेण कालेण तेण समएणं महावीरे जे से गिहाण पढमे मासे दुच्चे पक्खे चित्त सुद्धे तस्सणं चित्त सुद्धस्स तेरसी दिवसेण......पुव्वरत्तावर काल समयसि हत्थुत्तराहि नक्खत्तेण.........अरुग्ग दारयं पयाया ।

i. e. In the 2nd fortnight of the 1st month of summer,[13] on the 13th day of the bright fortnight of the month Caitra, in the middle of the night, while the moon was in conjunction with the asterism called Hastōttarā i. e. the constellation Uttara-Phālgunī, the 12th lunar mansion, (the mother of Mahāvīra) gave birth to a healthy boy child i. e. Mahāvīra.

The date details of the same event are mentioned as follows in the *Nirvāna-bhakti*—

चैत्र सित पक्ष फाल्गुनि शशाक योगे दिने त्रयोदश्याम् ।
जज्ञे स्वोच्चस्थेषु ग्रहेषु सौम्येषु शुभलग्ने ॥ ६ ॥

i. e. on the 13th day of the bright fort-night of the month Caitra, while the moon was in conjunction with the constellation (Uttara—) Phālgunī, Mahāvīra was born; as well as in the *Uttara Purāṇa* (canto 74)—

13. Of the (3 seasons into which the year was divided (fn. 12), the summer lasted from the 1st day of the dark fortnight the pūrnimānta month Caitra (= of the amānta month Phālguna to the fullmoon day of Āsādha ; and the 2nd fortnight of its 1st month lasted from the 1st day of both the pūrnimānta and the amānta Caitra to its fullmoon day.

नवमे मासि सम्पूर्णे चैत्रे मासि त्रयोदशी।
दिने शुक्ले शुभे योगे सत्यर्यमणि[14] नामनि ॥ २६२ ॥

.................महावीरोत्र जातवान् ॥ २६३ ॥

i. e. on the 13th day of the bright half of the month Caitra, Mahāvīra was born under the constellation, the presiding deity of which is Aryaman = the Sun, i e. the constellation Uttara Phālgunī.[14]

Now in the *Kalpa-sūtra* (§147) Mahāvīra is said to have lived 72 years on the whole—

बावत्तरि वासाइ सव्वाउयं पालइत्ता।

so that he had completed 71 years but had not yet completed the 72nd year when he died. And the same is said about the duration of his life in also the *Uttara Purāna* (canto 74)—

द्वासप्तति समाः किंचिद्नास्तस्यायुषः स्थितिः ॥ २८० ॥

i. e. his lifetime was a little less than 72 years

Accordingly he would seem to have been born in the middle of the night (as said in the *Kalpa-sūtra*) of Sunday the 26th February 598 B. C., when the moon was in conjunction with the constellation Uttara Phālgunī.

But in Asaga's *Vardhamāna Caritra* (canto 17) Mahāvīra is said to have been born on a monday at the end of the night of the 13th day of the bright half of Caitra, while the moon was in conjunction with the constellation Uttara Phālgunī.

चैत्रे जिनं सित तृतीयजया[15] निशान्ते
सोमान्हि चन्द्रमसि चोत्तरफाल्गुनिस्थे ॥ ५८ ॥

If this statement is well-founded, he would seem to have been born at almost about the day-break of Monday the 27th of February 598 B. C., when the moon was in conjunction with the constellation of Uttara Phālgunī.

---

14. Hēmacandra's *Abhidhāna-cintāmaṇi*:
फाल्गुनी...॥ सा तूत्तरार्यमदेवा... .. ॥ १११-११२)

15. तृतीय-जया is the 3rd *Jayā-tithi* of the lunar month i. e. *trayōdaśī* or the 13th lunar day of the month.

धर्म्म और सिद्धान्त !

" जैनं जयतु शासनं ! "

JAINA RELIGION AND PHILOSOPHY

‘ चक्रेण यः शत्रुभयंकरेण जित्वा नृपः सर्वं नरेन्द्रचक्रम् ।
समाधिचक्रेण पुनर्जिगाय महोदयो दुर्जय मोहचक्रम् ॥ ’

अर्थात् — ‘ जिस महाराजने शत्रुओंको भयदाई चक्रके प्रतापसे सर्वराजाओंके समूहको जीतकर, चक्रवर्ती पद प्राप्त किया था, पश्चात् साधुपदमे आत्मध्यानरूपी चक्रसे जिसका जीना कठिन है ऐसे मोहके चक्रको जीत करके महानता प्राप्त की ! ’

‘ यस्मिन्नभूद्राजनि राजचक्रं मुनौ दयादीधिति धर्मचक्रम् ।
पूज्ये मुहुः प्रांजलि देवचक्रं ध्यानोन्मुखे ध्वंसि कृतान्तचक्रम् ॥

अर्थात् — ‘ जिस भगवान्के आगे राज्यावस्थामे राजाओका समूह हाथोंको जोडे हुए सामने खडा रहता था; साधु अवस्थामे दयामई किरणोका धारी रत्नत्रयमई धर्मरूपचक्र वश हो गया । पूज्यनीय अर्हंत पदमे देवोका समूह वार वार हाथ जोडे हुए उपस्थित रहा तथा चौथे शुक्ल ध्यानको ध्याते हुए चार अघातिया कर्मोका समूह नाश होकर मोक्षरमा आपके सामने खडी हो गई । ”

जैन धर्मकी विशिष्टता !

(ले० श्री० प्रो० बलदेव उपाध्याय, एम. ए., साहित्याचार्य, काशी)

किसीभी धर्मकी विशिष्टता जाननेके लिये उसके आचारमार्गका अनुशीलन नितान्त आवश्यक है। आचार मार्गके प्रतिपादनमेही तो धर्मका धर्मत्व निविष्ट रहता है। आचारही प्रथम धर्म है — आचारः प्रथमो धर्मः। भारतवर्षकी पवित्र भूमिपर धर्मका दर्शनके साथ सामञ्जस्य सदासे पूर्णरूपसे स्थापित किया गया है। दर्शनका मूल्य है सैद्धान्तिक; धर्मका महत्व है व्यावहारिक। धर्म वही है जिससे लौकिक उन्नति तथा पारमार्थिक कल्याणकी सिद्धि हो। भारतके विद्वान् धर्मकी महत्ता केवल ऐहिक जीवनके लिएही नही मानते, प्रत्युत पारलौकिक कल्याणसे उसका सम्बन्ध है। महर्षि कणादके शब्दोमे धर्मका लक्षण है — यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। पाश्चात्य देशोमें धर्म और दर्शनमें पारस्परिक उग्र विरोध रहा है, वहाँ धर्म दर्शनका बाधक रहा है, साधक नहीं, विरोधी रहा है, सहायक नही। परन्तु भारतवर्षमे धर्म और दर्शनमें गहरी मैत्री रही है। दोनोका आविर्भाव इसी लिए हुआ है कि वे तीनों तापसे सन्तप्त जनताकी शान्तिके लिए, क्लेशबहुल संसारसे निवृत्ति पानेके लिए, आनन्दमय मोक्षकी सिद्धिके लिये, सुन्दर तथा निश्चित मार्गका उपदेश देते है। दर्शन 'सिद्धान्त' का साधक है, तो धर्म व्यवहारका प्रतिपादक है। धर्म और दर्शनमें खूब घनिष्ट सामञ्जस्य है — समन्वय है। बिना धार्मिक आचार द्वारा कार्यान्वित हुए दर्शनकी स्थिति निष्फल है और बिना दार्शनिक विचारके द्वारा परिपुष्ट किये धर्मकी सत्ता अप्रतिष्ठित है। धर्मके प्रासाद खडा करनेके लिए दर्शन नीव रखता है। धर्मके सहयोगसे भारतीय-दर्शनकी व्यापक व्यावहारिक दृष्टि है और दर्शनकी आधारशिला पर प्रतिष्ठित होनेके कारण भारतीय धर्म आध्यात्मिकतासे अनुप्रणित है तथा वह अपनेको तर्कहीन विचारो तथा विश्वासोसे बचानेमे समर्थ हुआ है। दुःखकी निवृत्तिकी खोजसे धर्म उत्पन्न होते है और दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्तिका एकमात्र उपाय यही दर्शन है। धर्म और दर्शनके इस मञ्जुल समन्वयकी भव्य झाँकी हमें जैनधर्ममें विशेषरूपसे दीख पडती है।

जैन धर्मकी महती विशिष्टता है — आचारपर विशेष आग्रह। धर्मके व्याख्याता तीर्थंकरके सामने सबसे महत्वपूर्ण समस्या है जगत्के दुःखका निवारण। जिधरभी दृष्टि डालिए उधरही दुःखोंका समुदाय तुमल तरगोके समान थपेडा मारकर हमारे जीवनसिन्धुको क्षुब्ध बनाये रहता है। इस दुःखक्षोभसे आत्माको बचानाही हमारे जीवनका लक्ष्य है। प्रत्येक प्राणीकी आत्मा अनन्तशक्ति, अनन्त ज्ञान, आदि महनीय गुणोसे विशिष्ट है। महावीर मनुष्यके स्वातन्त्र्यके उपासक है। जिसमे अनन्तवीर्य भरा हुआ है, भला वह किसीका दास बन सकता है? परन्तु मनुष्य जगती तलपर सर्वत्रही दास बना हुआ है, कहीं वह बाह्य प्रभुकी दासतामे आबद्ध है तो कहीं अपनी वासनाओकी आन्त-

रिक दासतामें जकडा हुआ है। इस दासतासे आत्माको उन्मुक्त करनाही जैन शास्त्रोंका उद्देश्य है। कर्मके कारणही जीवको बन्धन प्राप्त होता है। कर्मही दासताका कारण है। जैन धर्ममे कर्मका विवेचन बडाही सागोपाग है। समग्र कर्मका क्षय हो जानाही मोक्ष कहलाता है–**कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः** (तत्वार्थसूत्र १०।३) मोक्ष उत्पन्न होनेसे पहिले केवल–उपयोग (सर्वज्ञत्व–सर्वदर्शित्व) की उत्पत्ति जैन शास्त्रमें अनिवार्य मानी गई है। कैवल्यके प्रतिबन्धक चार प्रकारके कर्म होते हैं –– मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय तथा अन्तराय। इन सबमे मोह सबसे अधिक बलवान है। अतः उसके नाशके बादही अन्य कर्मोका नाश शक्य होता है। मोहके प्रभुत्वकी महिमा सब धर्मोमें स्वीकार की गई है। योगदर्शनमे पञ्चविध क्लेशोमें अविद्याही अन्य क्लेशोमे आदिमहै, अविद्यास्मिता राग-द्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः (योगसूत्र १२।३) अविद्याका अर्थ है –– अनित्य, अपवित्र, दुःख तथा अनात्ममें क्रमशः नित्य, पवित्र, सुख तथा आत्मबुद्धि रखना। पृथ्वी, आकाश तथा स्वर्गको नित्य-मानना, परमबीभत्स अपवित्र शरीरको पवित्र मानना, दुःखदायी जगत्के पदार्थोमे सुख मानना तथा शरीर, इन्द्रिय और मनको आत्मा मानना — अविद्याके प्रत्यक्ष दृष्टान्त है। यही चतुष्पाद अविद्या क्लेशसन्तानका बीज है तथा विचारके साथ कर्माशयकी उत्पादिका हैं। पतञ्जलिका स्पष्ट कथन है– अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषा प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् (योगसूत्र २।४) बौद्धधर्ममेभी अविद्याको द्वादश निदानोमे आदिम निदान माना गया है। बौद्ध मतका मुख्य सिद्धान्त है — प्रतीत्यसमुत्पाद जिसके अनुसार अविद्याही सस्कार, विज्ञान, नामरूप आदिके उदय द्वारा जरामरणकी उत्पादिका है। ठीक इसीभॉति मोहनीय कर्मोका सर्वातिशायी प्रभुत्व होता है। बिना इनके नाश हुए न अन्य कर्मोका नाश होता है और न तदुपरान्त केवलज्ञानका उदयही होता है। अतः समग्र कर्मोका आत्यन्तिक क्षय होनेसेही मुक्ति होती है। आत्यन्तिकका अर्थ है — पूर्वबद्ध कर्मका तथा नवीन कर्मके बॉधनेकी योग्यताका अभाव। प्राचीन कर्मोके नाशके साथ साथ नवीन कर्मोमे बन्धनकी शक्ति न होने परही मोक्ष माना जा सकता है। आत्यन्तिक क्षयका यही अर्थ है।

आत्माको परमात्माके रूपमें परिणत कर देनाही जैन धर्मका लक्ष्य है। परमात्मप्रकाशके रचयिता जोगीन्दुके अनुसार आत्माके तीन स्तर होते है –– (१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा (३) परमात्मा। साधारण लोगोंकी दृष्टिमें यह शरीरही आत्मा है–यही हुआ बहिरात्मा; शरीर, मन तथा इन्द्रियसे भिन्न, परन्तु मोहनीय आदि कर्मोके वशीभूत होनेवाला जीवही अन्तरात्माके नामसे पुकारा जाता है। यही अन्तरात्मा साधन विशेषोके द्वारा वशीभूत होकर परमात्मा बन जाता है। परमात्मा कौन है? इस आत्मासे अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ नही। परमात्माका रूप देखिए —

जो णिय–भाउँ न परिहरइ जो पर-भाउ ण लेइ।
जाणइ सयलु वि णिच्चुपर सो सिउ संतु हवेइ॥

(परमात्मप्रकाश १।१२)

जो अपने भाव — अनन्त ज्ञान आदि नही छोडता, और जो दूसरेके भावको ग्रहण नही करता, जो नियमसे जगत्त्रयमे तीनों कालमें विद्यमान रहनेवाले समस्त पदार्थोको जानता है वही शान्त स्वरूप

शिव होता है। जोगीन्दुका कथन है कि जैसे आकाशमें एकही उदित नक्षत्र जगत्को प्रकाशित करता है, वैसेही जिसके केवलज्ञानमे जगत् प्रतिबिम्बित होता है वही अनादि परमात्मा होता है —

गयणि अणंति वि एक उडु गेहउ भुअणु विहाइ।
मुक्कहँ जसु पए बिम्बियउ सो परमप्पु अणाइ।

परमात्मप्रकाश १।३८

जैनियोंके अनुसार परमात्मा जगत्के कर्तृत्व आदि गुणोंसे विशिष्ट आत्मासे पृथक् नही होता (जैसा न्याय वैशेषिक मानता है) प्रत्युत अन्तरात्मा ही कतिपय विशिष्ट साधनोंके द्वारा स्वयं परमात्मा बन जाता है।

इन्ही साधनोंके प्रतिपादनमें भ० महावीरकी शिक्षाका महत्त्व है। संसारमे दुःखकी सत्ता इतनी बलवती है तथा पद पदपर हमे आक्रान्त कर रही है कि उसकी छुटकारेके लिए उद्योग करना प्रत्येक विवेकशील प्राणीका कर्तव्य हो जाता है। जैन धर्मके अनुसार इसका केवलमात्र उपाय है रत्नत्रयका सम्पादन— सम्यग्दर्शन, सम्येग्ज्ञान, तथा सम्यक् चरित्र। जैन धर्मके अनुसार दर्शन तथा ज्ञानका अन्तर खूब स्पष्ट रूपसे दिखलाया गया है। दर्शन है सच्ची श्रद्धा। जीवोंके आध्यात्मिक बिकासमें श्रद्धाकी भूयसी प्रतिष्टा है। गीताका महत्वपूर्ण वचन है—यो यच्छ्रच्छः स एव सः। जो मनुष्य जिस वस्तुकी श्रद्धा रखता है वह वही बन जाता है। श्रद्धाके आधार परही ज्ञान प्रतिष्ठित होता है और इस ज्ञानका उपयोग है—चारित्रमे। सदाचारके द्वारा साधक भविष्यमें होनेवाले नवीन कर्मोंको रोक लेता है और इसीके अंगभूत तपस्याके बल पर वह करोडों जन्मोके पापोको क्षीण कर देता है। तपके द्वारा पूर्व संचित कर्मोका होता है शोषण और चारित्रके द्वारा नवीन कर्मोंका होता है प्रतिरोध। इस प्रकार जीव कर्मप्रपञ्चसे बच कर आत्मकल्याणकी ऊंची चोटीपर पहुचनेमे समर्थ होता है। भगवान महावीरका स्वयं उपदेश है—

नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगण्हइ. तवेण परिसुज्झइ॥

समन्वय बुद्धि जैन धर्ममें विशेष रूपसे दृष्टिगोचर होती है। वह किसीभी धर्मसे न तो विरोध रखता है और न किसी दार्शनिक दृष्टिका अपलाप करता है। वह 'स्याद्वाद'के महनीय सिद्धान्तके द्वारा समग्र सिद्धान्तोमे सामञ्जस्यका पक्षपाती है। जैनमतानुसार प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक होता है — अनन्त धर्मात्मकमेव तत्त्वम्। कोईभी वस्तु अनन्त धर्मोंका समुच्चय होती है। मानव बुद्धि केवल एकदो धर्मोंको जान कर उसीकी सत्ता पर आग्रह दिखलाती है, परन्तु वस्तुस्थितिपर विचार करनेसे प्रत्येक ज्ञानका सापेक्ष होनाही न्याय सगत प्रतीत हो रहा है। साधारणतया ज्ञान तीन प्रकारके होते है — (१) दुर्णय, (२) नय, (३) प्रमाण। यदि विद्यमान होनेवाली किसी वस्तुको हम विद्यमानही (सदैव) बतलावे, तो उसके अन्य प्रकारोंके निषेध करनेके कारण यह ज्ञान दुर्णय (दुष्ट नय)के नामसे पुकारा

जाता है। अन्य प्रकारोंका बिना निषेध किये वस्तुको सद् (विद्यमान) बतलाना आंशिक-ज्ञानसे संवलित 'नय' कहलावेगा। विद्यमान वस्तुके विषयमे 'सम्भवतः यह है' (स्यात् सत्)* — यही ज्ञान वस्तुतः सच्चा है, क्योंकि इसमे वस्तुके ज्ञात और अज्ञात समस्त धर्मोका एकत्र सकलन हो जाता है — यही है प्रमाण। 'स्याद्वाद' ही सच्चा प्रमाण है। स्याद्वादके माननेके कारण जैन धर्मकी दृष्टि अतिशय व्यापक तथा समन्वयी प्रतीत होती है। उदाहरणके लिये उसकी आत्माविषयक कल्पनाको हम ले सकते है। आमाको कुछ दार्शनिक 'सर्वगत' मानते है, कुछ 'जड' मानते हैं, बौद्ध लोग शून्य मानते हैं और जैन लोग उसे देहप्रमाण मानते है। यह भिन्न भिन्न दृष्टियॉ—व्यवहार-नय—का फल है, परन्तु यदि 'निश्चयनय' से विचार किया जाय, तो आत्मा यह चारो स्वय है। इस विषयमे जोगीन्दुका कथन भ० महावीरके 'स्याद्वाद' दृष्टिकाही प्रतीक है —

अप्पा जोइय सव्वगउ अप्पा जडु वि वियाणि।
अप्पा देह पमाणु मुणि अप्पा सुण्णउ वियाणि॥

परमात्मप्रकाश १।५१.

आगेके अनेक दोहोंके द्वारा लेखकने इस दोहाके समन्वयवादका प्रमाणपुरःसर वर्णन किया है। यह समन्वय अन्यत्र मिलना नितान्त दुष्कर है।

भ० महावीरके उपदेशकी महत्ता इस कारण विशेष है कि वे उनके स्वानुभवपर अवलम्बित है। विद्वान् तथा यतिके उपदेशका अन्तर तो यही कारण होता है। विद्वानका ज्ञान पुस्तकके आधार पर ही अवलम्बित रहता है। वह उसकी सत्यताकी परीक्षा स्वानुभूतिकी कसौटी पर कभी नही करता। 'यथाश्रुत तथा निवेदितम्'—बस उसका यही महामन्त्र होता है, परन्तु यति या साधुसन्तका उपदेश अपने निज अनुभवके ऊपरही अवलम्बित रहता है। इसीलिए उसमे प्रभावोत्पादनकी महती शक्ति है। परमार्थका मुख्य प्रमाण है—स्वानुभूति—स्वानुभूत्येक मानाय नमः शान्तायतेजसे। अपनी अनुभूतिही परमार्थकी सत्ताके लिए मुख्य प्रमाण है। महावीरकी शिक्षाये स्वानुभूतिकी आधारशिलापर प्रतिष्ठित हैं इसीलिए उनमे इतना जोर दिखाई पडता है—इतनी प्रभावशालिता दीख पडती है। एकदो उदाहरण देखिये—

कुसग्गे जह ओस बिंदुए
कोवं चिट्टइ लंबमाणए।
एवं मानुसाण जीविअं
समयं गोयम! मा पमायए॥

आशय है कि हे गौतम, जैसे घासके अग्रभागपर तरल ओसकीबूँद थोडेही समय तक टिक

* 'दृष्टि विशेषकी अपेक्षा से'—स्यात् शब्दका अर्थ लेना उचित है। स्याद्वाद सिद्धात किसी वस्तु-विवेचनाको 'यहही है' कह कर एकान्त पक्षमें जिज्ञासुको नहीं डालता; बल्कि वह स्पष्ट रूपसे—'संभवत.' नहीं, वस्तुविवेचनाके रूप-विशेषको 'यहभी है' निर्दिष्ट करके पूर्ण सत्यके दर्शन कराता हैं। —का. प्र.

सकती है, वैसेही शरीरधारियोंका जीवन है । अतः थोडेसे समयके लियेभी प्रमाद मत करो। इस गाथाकी उपमा इतनी सुन्दर, सटीक तथा सरस है कि यह उपदेश चित्तपर गहरा प्रभाव जमाता है । स्मरण रखना चाहिए कि जीवनकी असारताकी शिक्षा हृदय पर इतनी चोट करती है कि कहा नहीं जा सकता । इस असारताको हृदयगम बनानेके लिए कुशके सिरेपर लटकनेवाले ओसबिन्दुकी उपमा बडीही सुन्दर है । इसके भीतर स्वानुभूतिका पर्याप्त पुट है ।

भ० महावीरने त्यागके महनीय गुणोंकी ओर साधकोंकी दृष्टि फेकी है । आर्यसस्कृतिके मूलमें यही सर्वातिशायी पदार्थ है–त्याग । वैदिक ऋषि कहते है—

तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्‌धनम् ।

त्यागसे धनको भोगो । किसीके धनको खसोटनेका लालच न करो । अन्य धर्मवालोंकी दृष्टि स्वधनको अपने कार्यमें लगानेके प्रति है । और आजकल मानव समाज दूसरेके धनको लूटपाट कर अपने स्वार्थमे लगानेकाही पक्षपाती है । आधुनिक संसारकी मनोवृत्तिका क्या यह सच्चा वर्णन नही है ? परन्तु भारतीय सस्कृतिका आधार यह नही है । मैने अन्यत्र दिखलाया है कि भारतीय संस्कृति जिन तीन तकारों–त्याग, तप और तपोवन–पर आश्रित रहती है, उनमे 'त्याग' ही मुख्य तथा सर्वातिशायी है । महावीरस्वामी त्यागीकी बडी ही सुन्दर परिभाषा बतलाते हे—

जे य कंते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठि कुव्वइ ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइ ति वुच्चइ ॥

गृहस्थाश्रममे रहते हुएभी जो मनुष्य सुन्दर तथा प्रिय भोगोको प्राप्त करकेभी उनकी ओर पीठ करता है अर्थात् उन भोगोंमे अलिप्त रहता है, इतनाही नहीं, अपने अधीन होनेवाले भोगोंकोभी वह छोडता है, वही सच्चा त्यागी कहलाता है । अप्राप्त तथा अप्राप्य भोगोका परित्याग करने वाले कहॉ नही है । न मिलनेवाले अँगूरको खट्टा बतलानेवाली लोमडी किस समाजमें नहीं होती ? परन्तु यह व्यक्ति त्यागी नहीं है ! त्यागके लिये आवश्यक होता है–ज्ञानपूर्वक वस्तुप्रहाण यह पूर्ण ममताके परित्याग तथा पूर्ण वैराग्यके होने परही संभव होता है । इसी प्रसंगमें महावीरने इन्द्रियासक्तिका सुन्दर दृष्टान्तोंके द्वारा वर्णन किया है वह नितान्त हृदयावर्जक है । एक एक इन्द्रियके वशमें पडा हुवा जीव अपना विनाश प्राप्त करता है । उस मनुष्यको क्या कहा जाय ? जो पॉच इन्द्रियोंके पाशमें जकडा हुआ अपना हतजीवन व्यतीत करता है ।

महावीरकी शिक्षामे अहिंसाका स्थान बडाही ऊंचा है । आजकल संसार हिंसाका क्रीडा निकेतन बना हुआ है । जिधर देखिए उधरही हिसा देवीका प्रचण्ड ताण्डव लोगोके हृदयमें उन्माद उत्पन्न कर रहा है । ससारको इस घनघोर विनाशसे बचानेका एकही मार्ग है और वह है अहिसा व्रतका पालन । 'अहिसा' का प्रयोग हम व्यापक अर्थमे कर रहे है ! प्राणियोंके प्राणनाशकोही हम हिसा नही मानते, प्रत्युत हिसाका क्षेत्र बहुतही व्यापक है । मनसा वाचा कर्मणा तीनोके द्वारा हिंसा निवृत्तिही महावीर स्वामीको मान्य है । महावीरके वचन है—

एवं खु नाणिणो सारं, जं ण हिंसइ किंचण।
अहिसा समयं चेव, एयावन्तं वियाणिया ॥

इस प्रकार महावीरने त्याग तथा तपस्याके आचरण पर तथा अहिंसा व्रतके पालन पर विशेष महत्व दिया है। येही भारतीय सस्कृतिके मूल आधार हैं। इन्हीके ऊपर हमारी प्राचीन अथ च मृत्युञ्जय सभ्यता आजभी टिकी हुई है। भारतीय धार्मिक परम्पराकाही निर्वाह इमे महावीरकी शिक्षामे मिलता है। उपनिषदोमे प्रतिपादित सिद्धान्तोको ग्रहणकर उन्होंने अपने मतका परिष्कार किया। महावीर तो अन्तिम तीर्थंकर है। उनसे प्राचीन तेईस तीर्थंकरोंने भिन्न भिन्न समयोमें इस धर्म का भव्य उपदेश प्राणियोके हितार्थ किया। आजकलके इतिहासज्ञ व्यक्ति इन समस्त तीर्थंकरोंकी ऐतिहासिकतामे विश्वास नहीं करते, परन्तु प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथको ऐतिहासिक व्यक्ति माननाही पडेगा। श्रीमद भागवतके ५ स्कन्द (अ० ४-६) मे ये मनुवशी राजा नाभि तथा महारानी मरू-देवीके पुत्र बतलाये गये हैं। इनके सिद्धान्तका जो वर्णन यहा उपलब्ध होता हैं वह जैनधर्मके सिद्धान्तोसे मेल रखता है। ऋषभकेही ज्येष्ठ पुत्र भरत (या जड भरत) के नामसे यह देश 'भारतवर्ष' के नामसे विख्यात है। अतः ऋषभनाथको ऐतिहासिक व्यक्ति मानना नितान्त उचित है। इन्हीकी परम्परा महावीरके सिद्धान्तोंमें अभिव्यक्त होती है। हम महावीरके मतको उप-निषन्मूलक धर्मोंसे पृथक् नही मानते। जिस प्रकार हिमालयमे स्थित मानसरोवरसे निकल कर विभिन्न जलधाराये इस भारत भूमिको आप्यायित तथा उर्वर बनाती हैं उसी प्रकार उपनिषदोसे विभिन्न विचार धारायें निकल कर इस देशके मस्तिष्कको पुष्ट तथा तृप्त करती है। भारतवर्षमें पनपनेवाले समग्र धर्म-वृक्षोके मूलमे विराजनेवाली है यही उपनिषत्–ब्रह्मविद्या*। और इसी ब्रह्मविद्याके आधारपर उगने-वाले जैन धर्मका यह कल्पद्रुम है जिसकी शीतल छायामें जाकर मानवमात्र अपना कल्याण साधन कर सकता है। महावीरका यह उपदेश कभी न भूलना चाहिए —

जर जाव न पीडेइ, वाही जावन वड्ढइ।
जाविंदिया न हावंति, ताव धम्मं समायरे ॥

जबतक बुढापा नही सताता, जबतक व्याधिया नहीं बढतीं जबतक इन्द्रिया हीन–अशक्त नहीं बनतीं, तब तक धर्मका आचरण कर लेना चाहिए। उसके बाद होताही क्या है? बहुतही ठीक है यह कथन, परन्तु इसका उपयोग तब हो सकता है, जब इसको व्यवहारमे लाकर इसके अनुसार अपना जीवन बनाया जाय। बिना क्रियाके ज्ञान बोझही है 'ज्ञान भारः क्रियां विना'। महावीरके उपदेशका सकेत इसी ओर है।

---

* श्रमणपरम्परा प्राचीन भारतीय विचारधाराकी एक स्वाधीन विशेषता है, जो ऋषभादि तीर्थं-करो द्वारा उपनिषदोंके रचना कालसेभी पहलेसे प्रतिपादित होती आई है। —का० प्र०

भगवान्का धर्म ।

(ले. श्री. प्रो. दलसुख मालवणिया, काशी)

भगवान् महावीरने धर्मको सीधे और सरल रूपमें उपस्थित किया था। जहां वेदादिमें भौतिक संपत्तिकी साधना वर्णित थी वहा भ० महावीरने आत्मिक सपत्तिकी साधना पर जोर दिया। धार्मिक अनुष्ठानोमें बिचवई करनेवाले पण्डों और पुरोहितों का कोई स्थान नही रक्खा। वेदका ऋषि यदि अपनी प्रार्थना सीधी प्राकृतिक देवोंको सुना सकता था तो भगवान् महावीरके मार्गका पथिकभी अपनी प्रार्थना आप ही कर सकता था। वस्तुतः उसे किसी औरको तो सुनाना है नही, वह तो अपने आत्माको ही अन्तर्मुख होकर समझाता है कि रे! आत्मन् उन्नति चाहते हो तो सर्व प्रथम बाह्य वस्तुका मोह छोडना होगा। इस प्रार्थनाको अपनी आत्मा जितनी मात्रामें सुन सकेगा और उसके अनुसार आचरण करेगा तो उतनी मात्रामें अपना उद्धार आपही होता जायेगा। यहीं भगवान्के धर्मकी विशेषता है। उसमें स्वयं भगवान् महावीर भी दूसरेका भला सब तक नही कर सकते जब तक भलाई चाहनेवाला जीव अपना मार्ग आप नही चुन लेता। भगवान् तो मार्ग देशक हैं मार्गपर चलने वाले तो हम हैं। इस प्रकार भगवान् महावीरने जीव की उन्नति या अवनतिका कर्ता धर्ता जीवको ही करार दिया। बाहरी ताकत या सहायको महत्त्व नही दिया। जीवके भाग्यको बाहरी देवता या ईश्वरके हाथसे लेकर स्वय जीवको हीं सौंप दिया। अब वह चाहे तो मुक्त हो सकता है, देव हो सकता है या फिर मौजूदा स्थितिसे हीन भी हो सकता है।

जिन इन्द्रादि देवोंका मनुष्य पुजारी था वे इन्द्रादि देव तो मनुष्यकेभी पूजक हो गये। इतनी उच्च अवस्था पर ले जाकर मनुष्यको भगवान् महावीरने स्थापित किया। यह चमत्कार घटित कैसे हुआ? जिस चीजको मनुष्यने अभी तक धर्मरूपसे पहचानाही न था उसे उन्होंने बताया। और वह ऐसीही दूसरी चीजको धर्म मान कर चलता था जो धर्म होही नही सकती थी; उससे मनुष्यका पिण्ड छुडाया, ऐसा करनेसेही मनुष्य स्वयं देव बन गया और इन्द्रादि देव उसके सेवक बन गये। उन्होने कहा है—

" धम्मो मंगल मुक्किट्ठं,
अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति,
जस्स धम्मे सया मणो॥ "

'धर्मही उत्कृष्ट मंगल है। अहिंसा संयम और तप यह धर्म है। जिसका मन सदा ऐसे धर्ममें रत रहता है उसे देवताभी नमस्कार करते है।'

स्पष्ट है कि यज्ञ यागादिमें हिंसा करके, अपनी इच्छाओंको बेलगाम करके या जो कुछ मिला

उसे हजम करके जीव धर्मोपार्जन नही कर सकता; इसके विपरीतही चल कर वह धार्मिक हो सकता है। विश्वबन्धुत्व या विश्वमैत्रीको अपना कर यानि अपनी इच्छाओका सयम करके, इन्द्रियोको विषयोंसे निवृत्त करकेही, तपस्याको अपना करही वह सच्चा धार्मिक बन सकता है।

जिस सपत्तिके लिये वेद और ब्राह्मणोमे नाना धार्मिक अनुष्ठानोंकी सृष्टि हुई थी उसी सपत्तिकोही सर्व अनर्थका मूल भगवान्‌ने बताया और इस प्रकार वेदिक धार्मिक अनुष्ठानोंकी जडही काट दी। और धर्मके नाम पर होनेवाली हिंसाकाही निरोध कर दिया। उन्होने कहा है—

"सव्वं विलवियं गीय सव्वं णट्टं विडंबणा।
सव्वे आमरणा भारा सव्वे कामा दुहा वहा॥"

अर्थात् बाह्य रगरागकी निःसारताको बताते हुए उन्होने कहा है कि जिसे हम गीत समझते हैं वह विलाप है। नाट्य तो विडम्बना मात्र है। सभी आमरण भाररूप है और इन्द्रियोको तृप्त करनेवाले ये विषय दुःखावह हैं।

मनुष्यको इस ससारमे भौतिक सम्पत्ति ज्यो ज्यो मिलती जायगी त्यों त्यो वह तृप्त होनेके बजाय अधिक मात्रामे लालची होता है इस अनुभवजन्य तत्त्वको भगवान्‌ने इन शब्दोंमे व्यक्त किया है—

'सुवण्णरुप्पस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणंतिया॥'

कसिण पि जो इमंलोगं पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणाविसे न संतूसे इइ दुप्पूरए इमे आया॥
जहा लाहो तहा लोहो लाहा लोहो पवड्ढई।

हमारी इच्छाए आकाशके समान अनन्त है। सारा ससार भी हमारे अधीन हो जाय तब भी हमे सतोष नहीं हो सकता क्यो कि लोभका यह स्वभाव है कि ज्यो ज्यो लाभ होता जायगा लोभ बढता जायगा। लोभके जीतनेका तरीका उन्होने बताया है कि—"लोभ सतोसओ जिणे" अर्थात सतोषसे लोभ पर विजय करना चाहिए।

वैदिक ऋषिओंकी प्रार्थना थी कि हमे देव ऐसा बल दे जिससे हम शत्रुका नाश करे और उनका सर्वस्व लूट ले। भगवान् महावीरने शत्रुविजय का एक नया ही मार्ग लोगोंको बताया है। बाह्यशत्रुकी अपेक्षा आन्तारिक शत्रु राग और द्वेष मोह और अज्ञान इन्ही पर विजय पानेको परम जय कहा है

"जो सहस्सं सहस्सांणं संगामे दुज्जए जिणे एगं जिणेज्ज अप्पाणं एससे परमो जओ॥

लाखोंके साथ सग्राम करके उनपर विजय पाना यह कोई विजय नही किन्तु अपनी आत्मा पर विजय पाना ही परम विजय है। बाहरी शत्रुके ऊपर विजय पाना आसान है किन्तु अपने आत्मा पर विजय पाना ही तो कठिण है। किन्तु यदि आत्मविजय हुवा तो विश्वविजय भी सहज है। उस बिजय की विशेषता यह है कि उससे शत्रु भी मित्र वन जाते हैं इसके विपरीत बाहरी शत्रुपर विजय पाने पर शत्रुता उत्तरोत्तर वढती है। वैर और प्रतिवैर की परपरा बढती चली जाती है। विजय भी हो और शत्रुता बढेभी नही, वेर प्रतिवैरकी परपराकी वेल भी फूलेफले नही ऐसी विजय तो भगवान् के मार्गमें ही मिल सकती है ओर वह है आत्म विजय द्वारा, इसीलिये तो भगवान्ने कहा है कि—

"अप्पाणमेवजुज्झाहि कि ते जुज्झेण वज्झुओ।
अप्पणासेवमप्पाणं जइत्ता सुहमेहए ॥

अरे तू बाहरी शत्रुसे क्यों जूझता है, युद्धही करना है तो अपनी आत्माके साथही कर। अपनी आत्माके ऊपर विजय पा करही सच्चा सुख प्रात कर सकोगे।

इसी प्रकार यज्ञ, स्नान इत्यादि धार्मिक समझे जानेवाले अनुष्ठानोंकीभी शुद्धि की। उन अनुष्ठानोंको आध्यात्मिक दृष्टिसे नया रूप दिया। उन्होने कहा है कि यज्ञमें बाहरी अग्निका प्रयोजन नहीं है। तपस्यारूप अग्निमे अपने पापकर्म रूप ईन्धनोंको डाल कर जलादो यही सच्चा यज्ञ है। ब्रह्मचर्य ही सच्चा तीर्थ है। उसीमें स्नान करके यदि पवित्रता प्रात होती है तो इधर-उधर भटकनेकी क्या आवश्यकता है? इस प्रकार प्रत्येक अनुष्ठानोंमें आध्यात्मिकता लानेका उनका प्रयत्न था।

उन्होंने अपना उपदेश जनभाषा प्राकृतमेही दिया। और इस प्रकार शुद्ध संस्कृतके आग्रह रखनेवाले ब्राह्मणोमेही अपने उपदेशको सीमित न रख कर उसे सर्वसाधारणके समझने योग्य बनाया। फल यह हुआ कि सभी पढेलिखे या अनपढ उससे पूरा लाभ उठा कर अपनी उन्नतिके लिये ब्राह्मणमुखप्रेक्षी न बन कर स्वय प्रयत्नशील बन गये।

अपने सघमें उन्होने नारीकोभी महत्त्वका स्थान दिया। नारीभी चाहे तो पुरुषकीही तरह अपनी उन्नति आप कर सकती है ऐसा उपदेश भगवान्ने दिया। वहभी चाहे तो सर्वस्वका त्याग कर, ब्रह्मचारिणी हो कर मुक्तिपथगामिनी हो सकती है ऐसा उपदेश उन्होंने दिया।

शूद्र जो कि समाजमें दीन हीन समझा जाता था उसेभी धार्मिक क्रियाकाण्डोका स्वातन्त्र्य दिया। वहभी चाहे तो अपने त्याग और तपस्याके द्वारा ब्राह्मणकाभी गुरु हो सकता है ऐसा उदार उपदेश भगवान्का है। शास्त्रोमे ऐसे कई उदाहरणभी मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि उनका यह उपदेश समाजमे प्रविष्ट हो चुका था। हरिकेशी जैसे चाडालभी जैन साधु हुए है जिन्होने अपना और दूसरोंका उद्धार किया है।

वस्तुतः भगवानने तो जातिवादकाही प्रबल विरोध किया था। उनके मतमें किसीकी जाति ऊच या नीच नही है। मनुष्य अपने शुभ कर्मोंके द्वारा उच्च होता है और अशुभ कर्मोंके द्वारा नीच होता है। नीच जातिमें जन्म लेकर भी यदि कोई त्याग और तपस्याका मार्ग अपनाता है तो वह उच्च है, पूज्य है और यदि कोई उच्च जातिमें पैदा होकरभी नीच कृत्य करता है — पापकर्ममें रत रहता है तब वही वस्तुतः नीच है, शूद्र है ऐसा भगवानका स्पष्ट मत है।

जैनधर्म्म : विश्वधर्म !

(ले. श्री. प्रो. हेल्मुथ फॉन ग्लास्नाप्प, पीएच. डी., बर्लीन (जर्मनी))

जैनधर्म्म विश्वव्यापी है। अपने मतानुसार वह विश्वधर्म है। अधिकसे अधिक जीवोंके हितका दावा वह करता है। मनुष्यही नही, तिर्यञ्च, देव और नारकीभी जैन सिद्धान्तको स्वीकार करते हैं। उच्च वर्गके देव इस धर्मको स्वीकार सकते है। ग्रैवेयकादिके देव तो जैनधर्मानुयायीही हैं। नरकवासी जीवभी सम्यक्त्वी हो सकते हैं। पहलीसे चौथी इन्द्रियवाले पर्याप्त विकसित तिर्यञ्च मिथ्यात्वी होते हैं। असज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवभी मिथ्यात्वमे फसे रहते हैं। हा, पञ्चेन्द्रिय सज्ञी तिर्यञ्च अल्पांश या सर्वांशमें सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं। कथाग्रथोमें ऐसे सम्यक्त्वी तिर्यञ्चोके उदाहरण मिलते हैं। एक मेंढकने सम्यक्त्व प्राप्त किया था — यह महावीरके समयकी बात है। महावीर राजगृहीके उद्यानमें धर्मोपदेश दे रहे थे, उस समय उस मेंढकको पूर्वजन्मका वृतान्त स्मरण हो आया। वह भक्तिसे प्रेरित हो जिनेन्द्र महावीरकी वन्दनाके लिये चल पडा। किन्तु उसकी इच्छा पूरीभी न हुई कि वह हाथीके पैर तले दबकर मर गया। शुभ भावोसे वह मरा और देव हुआ![1] इस प्रकार तिर्यञ्चोंतकके लिये जैनधर्मका द्वार खुला हुआ है!

अतः यह स्पष्ट है कि जैनधर्मको प्रत्येक मनुष्य धारण कर सकता है। यह प्रसिद्ध है कि भ. महावीर आर्य-अनार्यका भेद किये बिना सबको उपदेश देते थे। इसपर बुल्हर सा. ने लिखा है[2] कि 'आजतक जैनधर्ममें माली, रंगरेज, आदि लोगोंको दीक्षित करनेकी बात असाधारण नही है।' जैन उपदेशक केवल हिन्दू सस्कार पाये हुये लोगोमे जाते हो, यहही नहीं, बल्कि वे असस्कृत लोगोंमेभी जाकर उपदेश देते और उन्हें शिष्य बनाते थे — यह बात जैनधर्मके शास्त्रों एव उसके इतिहाससे स्पष्ट है। हेमचन्द्रजीने लिखा है कि राजा सम्प्रतिने वनवासी लोगोंमें जैनधर्मका प्रचार करनेके लिये, साधुओंको असस्कृत प्रदेशोंमें विहार करनेकी सुविधा उपस्थित की थी। साधुजीवनोपयोगी आहार आदिवस्तुयें लोगोंसे सुलभ हों, इसके लिये राजा अपने धर्म्म-रज्जुक उन देशोमें साधु विहारके पहले भेज देता था। वे लोगोंको राजाज्ञा सुनाते और आहार विहारकी सुविधा कराते थे।[3]

जैन अपने धर्मका प्रचार भारतमें आकर बसे हुये शकादि म्लेच्छोमेंभी करते थे, यह बात 'कालकाचार्यकी कथा'से स्पष्ट है। कहा तो यहभी जाता है कि सम्राट अकबरभी जैनी हो गया था। आजभी जैन संघमें मुसलमानोंको स्थान दिया जाता है। इस प्रसगमें बुल्हर सा. ने लिखा था

---

१. समन्तभद्राचार्य, "रत्नकरडक-श्रावकाचार" १२०.

२ George Bulher, "Uber die Indische Sekte der Jaina," p. 36.

३. हेमचन्द्रः "परिशिष्ट पर्व" ८९–१०२.

कि अहमदाबादमें जैनोंने मुसलमानको जैनी बनानेकी प्रसंग-वार्ता उनसे कही थी-जैनी उसे अपने धर्मकी विजय मानते थे ।[४]

भारतकी सीमाके बाहरके प्रदेशोंमेंभी जैन उपदेशकोंने धर्मप्रचारके प्रयत्न किये थे। चीनयात्री ह्यूयेन-सॉंग (६२८-६४५ ई०) को दिगम्बर जैन साधु कियापिशी (कपिश) में मिले थे—उनका उल्लेख उसके यात्राविवरणमें है ।[५] हरिभद्राचार्य (८ वी श०) के शिष्य हंस-परमहंसके विषयमें ज्ञात है कि वे धर्मप्रचारके लिये तिब्बत (भोट) में गये और वहां बौद्धोंके हाथोंसे मारे गये थे ।[६] ग्रुइनवेडल (Gruinwedel) सा० ने कुच विषयकी हकीकतका जो अनुवाद किया है, उससे वहां जैनधर्म प्रचारकी पुष्टि होती है ।[७] महावीरके धर्मानुयायी उपदेशकोंमें इतनी प्रचार आतुरता थी कि वे समुद्र पारभी जा पहुचे थे। ऐसी बहुत-सी कथाये मिलतीं है जिनसे विदित होता है कि जैन धर्मोपदेशकोंने दूर-दूरके द्वीपोंके अधिवासियोंको जैनधर्ममें दीक्षित किया था। दिगम्बरोंकी मान्यता थी कि जयपुरसे १५०० कोस दूर, रामेश्वरके परली पार समुद्रमें जैनबद्री नामका द्वीप है जो जैन विद्याका केंद्र था[८]। मुहमद सा० से पहले जैन उपदेशक अरबस्तानमें भी गये थे, इस प्रकारकीभी कथा है। प्राचीन कालमें जैन व्यापारीगण अपने धर्मको सागर पार ले गये थे, यह बात संभव है। अरब दार्शनिक तत्ववेत्ता अबु-ल-अला (Abu-l-Ala,) [७९३-१०६८ ई०] के सिद्धातोंपर स्पष्टतः जैन प्रभाव दिखता है। वह केवल शाकाहार करता था-दूधतक नहीं लेता था। दूधको गायके

---

४. Bühler, *loc. cit* p. 36 जैकोबीको पता था कि एक ईसाई पादरीने जैनधर्म्म धारण किया था।

[**सं. नोट**—भारतके इंडो-ग्रीक शासकोंमेंभी जैनधर्मका प्रचार हुआ था। 'मिलिन्दपण्ह' ग्रंथसे (१०८) स्पष्ट है कि यवनराज मिलिन्द (Menander) पांच सौ यूनानियोंके साथ जैन मुनियोंके पास धर्मचर्चा करने गया था; जिनमेंसे अधिकांश जैनी हो गये थे। (Historical Gleanings, p. 78) कुशन कालमें शक और पारथीय यवन (Parthians) भी जैन धर्मभुक्त हुये थे, यह बात मथुराके जैन-मूर्ति-लेखोंसे प्रमाणित हैं। (Lüders, D. R. Bhandarkara Volume (Calcutta) pp. 280-289) छत्रप राजाओंमें नहपान और रुद्रसिंहकी भक्ति जैन धर्मके प्रति थी। (जैन सिद्धांत भास्कर, भा० ११ पृ० ४) हूण नरेश तोरमाणके गुरू देवगुप्त जैनाचार्य थे। (शाह, जैनीज्म इन नॉर्थ इंडिया, पृ० २१०–२१३) अकबरके लिये जीसूट पादरियोंका कहना था कि वह व्रती (जैनी) हो गया है। (सूरीश्वर और सम्राट् पृ.३९९-४००) संवत् १९७०में दिल्लीके अब्दुर्रहमान फूलवालेने स्थानकवासी जैन धर्मकी दीक्षा ली थी। जिनबख्शजी दिगम्बर श्रावक हुये थे। भेलसामें श्री अब्दुलरज्जाक (जिनेश्वरदास) जैनी हुये हैं। जोधपुरमें स्थानकवासी जैन साधुओंने चमारों और हरिजनोंको हालमे जैनी बनाया है। जैन मंदिरोंमें हरिजन-प्रवेशकोभी स्वीकारनेका आन्दोलन चल रहा है। —का० प्र०]

५. Samuel Beal : "Si-yu-ki, Buddhist Records of the Western World" I, p. 55.

६. Pulle GSAI, I, pp. 55.

७. A Grünwedel : "Alt-Kutocha" (Berlin, 1920) I. 10, 12.

८. G. Buhler, INDIAN ANTIQUARY, VII (1878) p. 28.

स्थनसे खींच निकालना वह अदया-पाप समझता था। यथाशक्ति वह निराहार रहता था। मधु (शहद) काभी उसने त्याग किया था, क्योंकि मधुमक्षियो को नष्ट करके मधु इकठा करनेको वह अन्याय मानता था। इसी कारण वह अडे भी नहीं खाता था। आहार और वस्त्रधारण मे वह सन्यासी जैसा था। पैर में लकडीकी पगरखी पहनता था; क्योंकि पशुचर्मके व्यवहारकोभी वह पाप मानता था। इसीलिये चर्म के जूते नहीं पहनता था। एक स्थल पर उसने नग्न रहनेकी प्रशसा की है और कहां है कि "ग्रीष्म ही तेरे लिये पूरा वस्त्र है।" उसकी मान्यताथी कि "भिखारी को दिरम देनेकी अपेक्षा, मक्खी की जीवन रक्षा करना श्रेष्ठ है।" उसके इस व्यवहार और कथनसे स्पष्ट है कि वह अहिंसाधर्मको कितने गभीर भावसे मानता था। उसपर दि० जैनोकी मान्यताओंका प्रभाव था।[१]

---

१. Kremer · "Uber die Philosophischen Gedichte des Abul-alā maurry." Sitzung berichte der Wiener Akādemic CXVII, 6 (1886).

[सं. नोट—जैन मुनिजन धर्मप्रचारके लिये सदैव तत्पर रहते हैं–अज्ञानतिमिरको मेंटना उनका पहला कर्तव्य है। जैन पुराणोंमें विभिन्न विदेशोंमें धर्मप्रचार करनेके विवरण मिलते हैं। भारतके पहले ऐतिहासिक सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार जैन थे और उन्होंने महावीर धर्मको प्रचारित किया था। (स्मिथ, ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑव इडिया, पृ० ४५) श्रेणिकके पुत्र राजकुमार अभयके प्रयत्नसे ईरान (पारस्य देश) के राजकुमार आरद्रक जैनधर्मानुयायी हुये थे। (डिक्शनरी ऑव जैन बिब्लोग्रेफी, पृ० ९२) बैक्ट्रियाके जिनोसूफिस्ट (जैन श्रमणो) का उल्लेख मेगास्थनीजने किया है। (ऐन्शियेन्ट इडिया, पृ० १०४) मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्तभी जैन थे। अशोकके सप्तम स्तम्भ लेखसे स्पष्ट है कि उन्होंने धर्मप्रचारका उद्योग किया था। अन्तमें वह स्वय दिगम्बर जैन मुनि हो गये थे। (नरसिंहाचार्य "श्रवणबेलगोल" और स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री ऑव इडिया, पृ० १५४) अशोकने जिस धर्मका प्रचार किया, वह निरा बौद्ध धर्म नहीं था। अशोक पर जैन सिद्धातोंका अधिक प्रभाव था और उसका प्रचार उन्होंने किया था। ('सम्राट् अशोक और जैन धर्म' नामक पुस्तक देखो) अशोकने मिश्र, मैसेडोनिया, कोरेन्थ और साइरेने नामक देशोंमें अपने धर्मरज्जुक भेजे थे, किन्तु इन देशोंमे बौद्ध धर्मके चिन्ह नहीं मिलते, बल्कि जैन धर्मका अस्तित्व उन देशोंमें रहा प्रतिभाषित होता है। मिश्रमें जो धर्मचिन्ह मिले है उनका साम्य जैन चिन्होंसे है। (ओरियेंटल, अखवार १८९२, पृ० २३–२४) अभी हालमें वहां भारतीय शैलीकी मूर्तियाभी मिलीं है। (मॉडर्न रिव्यू, मार्च १९४८, पृ० २२९) मिश्रवासी जैनोंके समानही ईश्वरको जगतका कर्ता नहीं मानते थे, बल्कि बहु-परमात्मवादके पोषक थे। परमात्मा उस व्यक्तिको मानते थे जो अनन्तरूपेण पूर्ण और सुखी हो। वे शाश्वत आत्माका अस्तित्व पशुओंतकमें मानते थे। अहिंसा धर्मका पालन यहांतक करते थे कि मछली और मूली, प्याज जैसे शाकभी नहीं खाते थे। वृक्षवल्कलके जूते पहनते थे। अपने देवता होरस (-= अर्हः ?) की वे नग्न मूर्तिया बनाते थे। (कानफ्लूयेस ऑव ऑपोजिट्स पृ० २ व स्टोरी ऑव मैन, पृ० १८७–१९१) इन बातोंसे मिश्रमें एक समय जैन धर्मका प्रचार हुआ स्पष्ट है। मिश्रके पास इथ्योपिया (Ethiopia) में एक समय जैन श्रमण रहते थे। (ऐशियाटिक रिसर्चेज, ३·६) मैसीडोनिया या ग्रीक मिश्रवासियोंके अनुयायी थे। यूनानी तत्ववेत्ता पिथागोरस (= पिहिताश्रव ?) और पिर्हो (Pyrrho) ने जिनोसूफिस्ट (जैन श्रमणों) से शिक्षा ली थी। वे जैनोंके अनुरूपही आत्माको अजर अमर और संसारभ्रमण (= आवागमन) सिद्धांतको मानते थे।

वर्तमान कालमें भी कई जैनों ने थूरूपमे अपने धर्मका प्रचार करनेका प्रयास किया है और उनके प्रयास से अमेरिका और इंग्लेंड मे कितने ही स्त्री पुरूष जैनधर्म में दीक्षित हुये है। सन्-१८८३ ई० में शिकागोमें हुये विश्वधर्म सम्मेलन में श्री वीरचंद राघवजी गांधी गये थे। तब उन्होंने अमेरिका के कई नगरोमें भाषण देकर 'गांधी फिलॉसिफिकल सोसाइटीकी' स्थापना की थी। अमेरिकासे वह इंग्लेड गये और वहां भी उन्होने धर्मप्रचार किया। सन् १८७५ में वह भारत लौटे। किन्तु उनको धर्मप्रचारकी लगन थी। इस लिये सन् १८८६ में फिर अमेरिका गये और वहां से इंग्लेंड पहुंचे थे। सन् १९०१ में वह बम्बई आकर स्वर्गवासी हुये थे। उसी समय इग्लेंड में स्व० जज जुगमंदरदास जैनीने भी धर्मप्रचार का उद्योग किया था। इनके प्रयत्न से २४ अगस्त १९१३ ई० को लंदन में "महावीर ब्रदरहुड" की स्थापना हुई थी जिसके अतंर्गत "जैन लिट्रेचर सोसाइटी" अंग्रेजीमें जैन साहित्य प्रचारके लिये स्थापित की गई थीं। श्री हर्बर्ट वैरन सा० इसके सेक्रेट्री थे। श्री अलेक्जेंडर गार्डन और उनकी पत्नी, श्री लुई डी० सेंटर आदि अंग्रेज जैन धर्मके पक्के अनुयायी हुये थे। सोसाइटी द्वारा अंग्रेजीमें दो-तीन पुस्तकें भी प्रकाशित की गई थी। किन्तु स्व० बैरिस्टर चम्पतराय जीने यूरोपमे जैन धर्म प्रचारका जो कार्य किया वह सर्वोपरि है। २४ अप्रेल १९२६ को लंदनमें पहले-पहले महावीर जयन्ती का उत्सव बैरिस्टर सा० के उद्योगसे मनाया गया। इसीवर्ष सर्व प्रथम उन्होने जरमनी, फ्रान्स, इटली आदि देशोंके प्रमुख नगरोंमें जाकर जैनधर्म और विश्वशांति पर भाषण दिये थे। सन् १९२८ मे महावीर निर्वाणोत्सव भी लंदनमें उनके प्रयत्नसे मनाया गया था। सन् १९३० में वह फिर लंदन गये और पाश्चात्य देशोंमें धर्मप्रचार करते रहे थे। सन् १९३३ में शिकागो में विश्वधर्मसम्मेलन हुआ था। बैरिस्टर सा० के उसमें पांच भाषण हुये, जिनके कारण अमेरिकावासी उनकी ओर आकृष्ट हुये थे। मेवुड (Maywood) में 'स्कूल ऑफ दी जैन डॉकट्राइन' भी स्थापित हुआ था। अप्रैल १९३० में लंदनमें श्री हर्बर्ट वैरनके परामर्श से बैरिस्टर सा० ने 'ऋषभ जैन लेन्डिग लायब्रेरी' की स्थापना की थी, (जो अभी भी चल रही है)। उनके उपदेशको मानकर बहुत-से अंग्रेज जैननियमोका पालन करते है।

इस वर्णनसे स्पष्ट है कि हिन्दू (वैदिक) धर्मकी तरह जैनधर्म भारतमें ही संकुचित नही रहा। उसने सबही जातियों और सबही स्थितियोंके मानवों को धर्म सिद्धान्त जाननेका अवसर दिया है। (मूल जर्मन भाषाके गुजराती अनुवादसे सकलित)

अहिंसा और तपका अभ्यास करते थे। यहातक कि जैनोंकी तरह द्विदल (= दालीं) काभी निषेध करते थे। दहीमें मिला कर द्विदल जैनी नहीं खाते, क्योंकि उसमे सम्मूर्छन जीव उत्पन्न हो जाते है। इस प्रकार यूनानमेंभी जैनधर्मका प्रभाव स्पष्ट है। (असहमत संगम पुस्तक देखो) यूनानके अथेन्स (Athens) नगरमें एक समय श्रमणाचार्यकी निषधिका थी। यह जैन साधु बैराज (भारत) से यूनान आवे थे। (इंडि० हि० क्वा०, २-पृ० २९३) प्रो. एम. एस. रामस्वामी ऐंगरने कहा था कि बौद्ध भिक्षु व जैन श्रमण यूनान, रूस व नारवे पहुचे थे। (हिन्दू, २५ जुलाई १९२९) सम्प्रतिने ईरान-अरब-अफगानिस्तानमें धर्म प्रचार कराया था। सीलोनके सम्राट् पांडुकाभयने ई० पूर्व ३६७-३०७ में निर्ग्रन्थ (जैन) श्रमणोंके लिये मंदिर व विहार बनवाये थे, जो २१ शासकोंके समयमें रहे। किन्तु सम्राट् वट्टगामिनी (३८-१० ई० पू०) जैनोंसे क्रुद्ध हुये और उसे नष्ट कराया। (महावश) चीनी त्रिपिटकमेंभी जैनोंका उल्लेख है। (वीर, भा० ४, पृ० ६५३) प्रो. सिल्वां लेवीने जावा-सुमात्रामें जैन धर्मका प्रभाव व्यक्त किया था। (विशाल भारत, १-३-४११) सारांशतः एक समय जैन धर्मने अहिंसा संस्कृतिका प्रचार विश्वमें किया था। —का० प्र०]

जैनधर्म : भौतिक जगत और विज्ञान।

(श्री० नंदलाल जैन, बी. एससी., काशी)

आजके भौतिक जगत्मे वैज्ञानिक उन्नतिके कारण प्राप्त होनेवाले ऐश्वर्य तथा सुखोंकी प्राप्ति तथा उसकी कामनाने प्रत्येक मानव-मस्तिष्क मोह लिया है। फलस्वरूप मानवने अपनी प्राचीनताको —स्वभावको—छोडकर नवीनताका पल्ला पकडना शुरू किया है। वह इसके पीछे पड कर अपने धर्म-कर्तव्य-तकको भूल गया है। यह वास्तवमे दुःसह परिस्थिति है। बेचारा साधारण मानव क्या जाने कि आजकी उन्नति हमारे पूर्वजोंके अगाध ज्ञान एव परिश्रमकाही फल है। प्राचीन कालके शब्दवेधी बाणकाही एक रूप हमे Sound Ranging की प्रक्रियामें मिलता है। आजकी भापसे चलनेवाली आटाकी चक्की प्राचीन शास्त्रोंमे वर्णित पारा-वाष्प यंत्रोंका रूपही प्रतीत होती है। पुराने पुष्पक विमान और आधुनिक हवाई जहाज क्या कोई भिन्न चीजें है? फर्क सिर्फ इतनाही है कि प्राचीन लोगोंको इतना प्राक्रियाबद्ध और अगोपागादिके विश्लेषणात्मक ज्ञानकी प्रणाली न ज्ञात हो; इस लिये उन ग्रन्थोमे हमें इनका विशद विवेचन नहीं मिलता। पर इससे यह क्यों समझा जाये कि आज जो कुछ हो रहा है, उसके सामने पुरातन-ज्ञान अगम्य है। और इसी लिये हम उसे तिरस्कारकी दृष्टिसे देखने लगे। शायद इसी दृष्टिको सामने रख कर, धर्माचार्योंने भौतिक विवेचनभी धर्मका अग बताया है; क्योंकि वे तो भविष्यकी सब बाते जानते थे। जिस आधुनिक भौतिकताके पीछे लोग इतने दौड रहे हैं, वह प्राचीन विचारों एवं शास्त्रवर्णित तथ्योंका नूतन संस्करणही है; ऐसा कहना चाहिये। कहना तो यहभी चाहिये कि यह सशोधित क्रम-परिवर्धित सस्करण है।

हमारे धर्माचार्योंने भौतिक जगत्की जिस वैज्ञानिक तथा तर्कसंगत ढंगसे वर्णना की है, उसकी बडे बडे वैज्ञानिकोंनेभी प्रशसा की है। मै सक्षेपमें उसेही पाठकोंके समक्ष रखनेका प्रयास करूंगा।

जैनधर्मके अनुसार भौतिक जगत्, जीव तथा पांच प्रकारके अजीव [पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल] इस प्रकार, छह द्रव्योसे बना है। इनमें समस्त चराचर जगत् व्याप्त है। पुद्गल द्रव्यसे हम समस्त भौतिक पदार्थों-और शक्तियों-को लेते है जो दृश्य हैं। धर्मसे गतिमाध्यम [पानीमें मछलीके समान गमनमे सहायक], अधर्मसे स्थितिमाध्यम [पथिकके लिये वृक्ष-छायाके समान स्थितिमें सहायक], आकाशमें अन्य पांच द्रव्योंका अधिकरण-आधार-स्थान, एव कालसे जगन्नियन्त्री शक्तिका अर्थ लेते हैं। जीवसे आत्माका ग्रहण होता है, जिसका स्वभाव चेतना है। दूसरे शब्दोंमे हम यहभी कह सकते हैं कि यह जगत मूर्त (पुद्गल) एव अमूर्त [अन्य पांच] द्रव्योंसे बना है। इन

छहोंमेंसे कालको छोडकर बाकी पांच अस्तिकाय है जिनमें सत्ता एवं विस्तार [Existence and Extension] दौनों पाये जाते है। काल द्रव्यमें विस्तार [नाणोः] नही पाया जाता है।

अ-द्रव्यलक्षण

जैनमतमें द्रव्यसे अर्थ उन मूलभूत वस्तुओंसे है, जिनमें उत्पादव्यय एवं ध्रौव्य साथ-साथ पाये जावें एवं जिनके बिना जगत्की स्थितिमें स्थिरता न हो। एक चीजमें उत्पत्ति एवं विनाशके साथ ध्रौव्यत्व कैसे रह सकता है? यह पूछा जा सकता है। शास्त्रकारोंने " अर्पितानर्पितसिद्धे " [विविध दृष्टियोंकी अपेक्षासे] के द्वारा इस प्रश्नका उत्तर दिया है। कटक-कुंडलका दृष्टान्त इस विषयमें सर्वगत है। द्रव्यका यह लक्षण उपर्युक्त छहों द्रव्योंमें पाया जाता है। ये सब द्रव्य नित्य [प्रौढ] हैं, मौलिक रूपमें अवस्थित [अपरिवर्तित] हैं। अमूर्त द्रव्योमें मूर्त द्रव्यकी उपपत्तियां नहीं पायी जातीं हैं।

द्रव्यका उपर्युक्त लक्षण आधुनिक विज्ञानके आधारपर सिद्ध है। विज्ञानके शक्ति-स्थिति [Conservation of Energy], वस्तु-अविनाशित्व [Law of Indestructibilty of matter] तथा शक्ति रूपान्तर [Transformation of Energy] आदि सिद्धान्त यह स्पष्ट बतलाते हैं कि नाशवान पदार्थमेंभी ध्रौव्यत्व [Permanance] रहता है। डेमोक्राइटस का यह अभिमतही इस विषयमें काफी है:—

> " Nothing can never become something;
> Something can never become anything."

ब — मूर्त द्रव्य — पुद्गल.

" पूरण गलनान्वर्थ संज्ञत्वात्पुद्गला "

जो भेद [द्वितय निमित्त वशाद्विक्षरणं, division], सघात [पृथग्भूतानामेकत्वापत्तिः union] अथवा उभयके कारण एक दूसरेके साथ योग या मिश्रण [पूरण] बनावें या विघटन [गलन] पैदा करें, वे (पदार्थ) पुद्गल कहलाते हैं। पुद्गल मूर्तिक है. इसकी पहिचान रूप, रस, गंध एवं स्पर्शसे होती है। प्रत्येक पदार्थमें, जो पुद्गल कहलाता है, ये चारों एक साथ पाये जाते हैं। रूपादिसे हम पदार्थोंके गुणों [Properties] का परिचय प्राप्त करते है। जैसे स्पर्शसे भार, कडापन, गर्मी, इत्यादि, रूपसे कृष्णनील इत्यादि रूप। पचरूप [कृष्ण, नील, पीत, लाल, श्वेत], पंचरस [खट्टा, मीठा, चर्परा, कसायला, कडवा]. दोगंध [सुगध, दुर्गंध] एवं आठ स्पर्श [मृदुकठिनगुरू लघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षस्पर्शयभेदाः], इस प्रकार पुद्गलके २० गुण हैं। ये मूल गुणभी प्रत्येक संख्यात, असख्यात एव अनत होते हैं। प्रत्येक पदार्थमें, किसी न किसी प्रकारका रूप रस गंध स्पर्श [या मिश्रणभी] पाया जाता है। जगत्के समस्त दृश्य पदार्थ पुद्गलही तो है [जैसे पृथ्वी, जल, वायु आदि)। शरीर, वचन, मन, प्राण एवं श्वासोच्छ्वास पुद्गलके कार्य है। तथा जीव को सुख, दुःख, जीवन एवं मरणका अनुभव पुद्गल [कर्म]के कारण ही होता है। ये पुद्गल द्रव्य हैं, क्यों कि इनमें " उत्पाद व्यय ध्रौव्य " पाया जाता है। कटक कुंडलके दृष्टान्तका उल्लेख हो

चुका है । ये पुद्गल दश रूपोमे प्रत्यक्ष हैं-(१) शब्द (२) बंध (३) सौक्ष्म्य (४) स्थौल्य (५) सस्थान (६) भेद (७) तम (८) छाया (९) आतप (१०) उद्योत । मूल रूपमें पुद्गल के दो भेद है (१) अणु (२) स्कंध । अणु पदार्थोंका सबसे छोटा [सूक्ष्म] तथा अविभागी अश है, जो इन्द्रियातीत है । उसकी उत्पत्ति मात्र भेदसे होती है [भेदादणुः] जैसे चाक को तोडते जाने पर उसका छोटेसे छोटा टुकडा, [Smaller than the smallest] जो दिख न सके अणु कहलायगा । यह सब पदार्थोंका मूल है । अणुओंके मिलन तथा भेदसे स्कध बनते हैं । अणु तथा स्कंधोंसेही जगत्के समस्त पदार्थ बने हैं । तात्पर्य यह कि जगत् अणु समुदाय मात्र है ।

पुद्गलके इस निरूपणको यदि हम वैज्ञानिक मान्यताओंके आधारपर कहते हैं तो हमें अपने आचार्योंकी महत्ताका अनुभव होता है । पुद्गलके विषयमे तो खास कर इनकी सूक्ष्म विवेचन शक्तिका पता लगता है, जो पूर्णतः वैज्ञानिक थी । पुद्गलके दो अर्थ हैं (१) पूरणात्मक [Combinational] एव (२) गलनात्मक [Disintegrational]। आजका विज्ञानभी पदार्थोंमें-तत्वों या योगोमे [Elements and Compounds] परस्पर सम्मिलन तथा बाह्य या अभ्यंतर कारणों द्वारा विघटनकी प्रवृत्ति सिद्ध करता है । कहना तो यह चाहिये कि तत्वोकी इन्ही प्रकृतियोके कारण विज्ञानने आज समस्त जगत्को चकित कर दिया है। [जैसे परमाणु बम] रेडियो-सक्रियता [Radio-activity] तथा विघटल [Dissociation, electrolytic etc] के सिद्धान्त तथा Valency [बधकता] की परिभाषा स्पष्टही पदार्थोंके उपर्युक्त दोनो गुणोंको साधित करती हैं। रेडियो-सक्रियता अतरग तथा विघटन [वैद्युतादि] बाह्य कारणोके फलस्वरूप होती है । यूरेनियमका एक परमाणु तीन तरहकी किरणें [α, β, γ rays] हमेशा प्रस्फुटित करता रहता है, जिसके कारण वह रेडियम और अतमें शीशा [Lead] में परिणत हो जाता है; जिसके गुण साधारण शीशा-धातुसे मिलते है । स्पष्टही यह " गलनार्थक " प्रवृत्ति है । Isolobes भी इस विषयमे कुछ सहायता करते हैं । बधकताकी परिभाषाभी, इसी प्रकार, पदार्थोंमें पूरकत्व शक्ति [additions & sub traction] प्रदर्शित करती है ।

यहा एक बात ध्यानमे रखने योग्य है कि पुद्गलसे हमारे आचार्योंने--पदार्थ (matter) तथा शक्ति (Energy)-दोनोका ग्रहण किया है । जिसका अर्थ यह हुआ कि शक्तिभी भार आदि गुणोसे समपन्न है । आज विज्ञानभी यही मानता है । शक्तिमे भार एव माप दोनों हैं ।

".. ...Energy is not weightless, but it has a definite mass......"

भार एव शक्तिमे क्या सबध है, इस विषयमें यह गुर (formula) प्रसिद्धही है :—

$$E = \text{mass} \times (\text{velocity of light})^2$$

तात्पर्य यह कि पदार्थ और शक्ति दोनोका एकहीसे ग्रहण होता है और वे एक हैं ।

विज्ञानके अनुसार वस्तुके विविध गुण है जैसे पृथ्वी [solid] के भार (density), स्थितिस्थापकता [Elonticity], ताप योग्यता [heat conductivity] आदि, जल [liquid] के सानुता (viscocity) पृष्ठवितति [surface tension] आदि, वायु [gas]

के प्रसरण वृत्ति [Expansibility] आदि। स्पर्शके चार युगले (१) हलका-भारी मृदु-कठिण (२) शीत-उष्ण (४) स्निग्ध-रूक्ष स्पष्टही ये गुण बतलाते है। चार रस तो विज्ञान स्पष्टही मानता है।

"Four tastes have been distinguished, salt (अम्ल), sweet (मधुर), sour (कटु) and bitter (तिक्त). Sweet things are best appreciated at the tip of the tongue while bitter at the back." "E. E. HEWER"

रसोकी भिन्नताका कारण है, पदार्थोंमे "हाइड्रो कार्बन्स" की विशेष स्थिति [Particular arrangement in the Hydro Carbons].

गंधके विषयमें तो कोई विवादही नही हैं।

रूपभी पदार्थका सामान्य गुण है। रूपके पाच प्रकारोके विषयमें कुछ मतभेद है। विज्ञान सात रग मानता है [VIBGOR] जिसमे सफेद और काला नही है। श्वेतरूप सबका मिश्रण एवं कृष्ण रूप सब रूपोका अभावरूप है। परन्तु जैनधर्म कृष्ण श्वेत सहित केवल पांच रूपही मानता है। यदि हम विज्ञानके इस आधारको देखे :

Colour is a sensation caused by the action of nerves in the part of retina. Rays of different colour affect the eye differently and it is due to this difference in the occular sensation that the various colours are differentiated. It is a mixture of *three primary sensations* [*red, blue and green*] in different properties. [INTER Physics.]

तो स्पष्ट जैन मतका निरूपण उचित है। यह तो सभी जानते हैं कि जब कोईभी पदार्थ [मान लीजिये मिट्टी] गर्म किया जाता है, और उसका तापमान बढाया जाता है; तो सबसे पहले यह वस्तु तापविकीरण (५००°c) करती है। उस समय तक इसका रूप नही प्रकट होता, इसलिये कालाही रहता है। फिर रूपमे परिवर्तन (लाल ७००°c) पीला (१२००°c) सफेद (१५००°c) होता है। यदि तापमान इससे अधिक किया जावे, तो अंतमें नीला रग प्राप्त होगा। तात्पर्य यह कि प्राकृतिकरूपमें तो रूप पाचही है, और वे तापकेही परिवर्धत रूप है। अन्य तो इसके मिश्रण है। (जैसे हरारग सफेद-लाल) यहां रूपसे रंगनेवाले रंग (Pigments) नहीं; अपितु प्राकृतिक नेत्र संबधी रूपही ग्राह्य है! इस प्रकार वस्तुगुणोंके विषयमे तो विज्ञान पूर्णरूपसे मेल खाता है।

विज्ञानमेंभी, पुद्गलकी तरह, पदार्थ और शक्तियां विविध रूपमें पाये जाते है, जैसे ताप [आताप], विद्युत (बंध), प्रकाश (उद्योत) आदि। इन विविध रूपों (दस) का जैसा वर्णन जैनमतमें है वैसेही विज्ञान अभी उस कोटि तक नही पहुंचा है। शरीर, वचन, मन, आदिके लिये विज्ञान पदार्थ (Matter) मानताही है, । श्वासोच्छवास स्पष्टही भौतिक है...

" We take oxygen from air and exhale Carbondioxide. Carbon being the product of oxidetional digestion, which requires oxygen to escape out. It is pure material organism."

पदार्थोंकी उत्पत्तिके विषयमे वैशेषिक, जैन, तथा यूनानी दार्शनिकही विज्ञानकी आधुनिक उन्नतिके आधार हैं। डाल्टनका अणु-सिद्धान्त [Atomic theory] इन्हींका स्पष्ट-विवेचन है। " Electron is the universal canstituent of matter " यह विज्ञान का आज निर्णय है, जो स्वयही जैनियोके परमाणुकी व्याख्या है। जैनोंका परमाणु " णेव इदिये गेज्झ। अविभागी ज दव्व, तं परमाणु वियाणीहि" विज्ञानका अविभाजित (?) electron है। आधुनिक विज्ञानके अनुसार पदार्थ स्कधों [molecules]से, स्कध अणुओ (atoms)से, तथा अणु परमाणुओं (electrons)से बना है। जैनजगतमेंभी इसी प्रकार पदार्थको चार विभागों (स्कध, स्कंधदेश, स्कंधप्रदेश, परमाणु)में विभाजित किया गया है। इस तरह परमाणुवादका सिद्धान्त पूर्णतया आधुनिक वैज्ञानिक तथ्योंपर स्थित है।

सक्षेपमें हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक विज्ञानके पदार्थ और शक्ति-दोनों-पुद्गल द्रव्यसे ग्रहीत होते हैं, इसलिये पुद्गल द्रव्यकी सत्यता विज्ञान मानताही है।

स—अमूर्त द्रव्य.

(१) आत्मा—

"उपयोगो लक्षणं" ज्ञान और दर्शन जीवका लक्षण है। आत्मामेंही पुद्गलके माध्यम द्वारा सुख-दुखका अनुभव होता है। यह द्रव्य है क्योंकि उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यत्व इसमें पाया जाता है। आत्मा स्वयंके परिमाणमे हानि एव वृद्धि (संकोच और विस्तार) करनेकी शक्ति रखता है। चींटी और हस्तिके शरीरमें एकही आत्मा निवास करती है। आत्माकी अनन्त शक्ति है। ये अनन्त हैं। यह अमूर्तिक है। इसकी सत्ता इसके कार्योंसेही सिद्ध हो सक्ती है, प्रत्यक्ष नहीं।

[प्राणापान निमेषोन्मेष जीवन मनोगती कियान्तर विकाराः
सुख दुखेच्छा द्वेष प्रयत्नाश्चात्मनो लिंगम् —वै० सू०]

जिस प्रकार धर्म अधर्म आकाश एव कालादि अमूर्तिकके विषयमें विज्ञानवेत्ताओंने अन्वेषण किया है, उसी प्रकार आत्माके विषयमेभी। परन्तु वे Ether या Field की तरह आत्माके विषयमें तथ्य नहीं निकाल सके हैं। उन्होंने आत्माको जानने एवं पकडनेके लिए कितनीही चेष्टाएं कीं, परन्तु अभी तक सफल नहीं हुए हैं। पर इन स्रोतोंसे एक महत्वपूर्ण जैन-तत्त्व (तैजस शरीर) की पुष्टि अवश्य हुई है। एक ऐसा यन्त्र बनाया गया जिससे कोईभी चीज बाहर न जा सके। उसमें उत्पन्न होते समय एव मरते समय प्राणियोंका अनुवीक्षन किया गया। आत्मा नामकी कोई वस्तु तो ज्ञात नही हुई, परन्तु यह पता पडा कि जब कोई जन्म लेता है, तब उसके साथ कुछ विद्युत्चक्र (Electric charge) रहता है, जो मृत्युके समय लुप्त हो जाता है। पर प्रश्न यह है, कि यह चार्ज नाश तो हो नही सकता; [Due to Conservation of Energy] तो फिर कहां जाता

होगा ? अब लोग इस प्रश्नको हल करनेके लिए एक दूसरा यन्त्र बना रहे हैं, जिससे सम्भव है वे ऐसा कर सके। यह शक्ति जिसे पता लगानेकी चेष्टा की जा रही है, आत्मा नहीं हो सकती, क्योंकि वह तो अमूर्तिक है, परन्तु इसकी तुलना तैजस शरीर (Electric body) से अवश्य की जा सकती है, जो आत्मासे बहुतही घनिष्ट सम्बन्ध रखता है। आत्माकी खोजके प्रयासने इस एक नए तथ्यकी पुष्टि की है।

यह ठीक है, कि वैज्ञानिकोंने आत्माकी सत्ता नहीं ज्ञात की है, पर आत्म-सम्बन्धी तत्वोंके जानकार सर ओ. लोजके अनुवीक्षनने आत्माके अस्तित्वको निस्सन्देह सिद्ध किया है।

"प्रोटोपाल्ज्म" [Protopalsm is nothing but a viscous fluid which contains every living cell] के सिद्धान्त तथा सर जगदीश वसुके पौधों सम्बन्धी आविष्कारने आत्माकी संकोच-विस्तारवाली प्रवृत्ति सिद्ध कर दी है।

स : अमूर्त द्रव्य

(२) आकाश निरूपण

आकाशसे हम हिन्दुओका सृष्टि-मूलभूत आकाश नहीं लेते, अपितु वह, जो जीव, पुद्गल धर्म, अधर्म एव काल द्रव्योंके लिए स्थान दे। आकाशका यह लक्षण है। और द्रव्योंको अवकाश दान देना उसका कार्य है। यह द्रव्योंका अवगाहन (Accomodation and diffusion) में कारण है। अमूर्त होनेसे धर्मादि द्रव्यके एकत्र रहनेमें कोई विरोध नहीं आता है। आकाश नित्य, व्यापक एवं अनन्त है। यह दो प्रकारका है (१) लोक (२) अलोक। लोकाकाशमेंही बाकी पांच द्रव्य रहते है, अलोकाकाशमें नहीं। इसलिए जगतकी सीमा है लोकाकाश पर्यन्त, उसके बाद आकाश तो है, पर वहा लोक नहीं। लोकाकाशके बाहर जीव जा भी नही सकते, क्योंकि वहां धर्म और अधर्म द्रव्यें नही है, जो कि गति और स्थितिमें सहायक हैं। आकाश स्वयं गति-स्थिति-माध्यम नहीं हो सकता, क्योंकि फिर (१) सिद्धोंकी मुक्ति स्थिति नहीं बनेगी (२) अलोकाकाश नहीं बनेगा (३) जगत असीम हो जावेगा, एव (४) उसकी स्थिरता एवं अनन्तताभी न बनेगी। जगत अधूरा और अवास्तविक है। जगतकी स्थिति (समय) कालके कारण है। एवं गति-स्थिति धर्म-अधर्मके कारण। आकाशका माप प्रदेश है।

यह सत्य है, कि, विज्ञान आकाशको एक स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानता, फिरभी आकाशमें विद्यमान समस्त गुणोंको स्वीकार करता है। लोकाकाश एवं अलोकाकाशके विषयमें H. Ward का यह अभिमत उल्लेख योग्य है।

"......the total amount of matter which exists is limited and that the total extent of the universe [लोक]is finite. They do not conceive that there is limit beyond which no space exists......"

लोकाकाश (जगत) सीमित है। यदि आकाशमें वस्तु हो तो गोलाकार रूपमें उसका झुकाव होता है। वार्डका कहना है, कि लोकाकाशका घुमाव इस प्रकार है, कि यदि

एक प्रकाश-किरण सीधी रेखामें चले, तो वह अपने मूल विन्दु पर पहुचेगी जहांसे वह शुरू हुई थी। शक्ति स्थितिभी असीम होनेकी स्थितिमें नहीं बनेगा। क्योंकि फिर एक बारकी शक्ति अनन्तमें विलीन हो जावेगी।

यह वास्तवमें एक समस्या है, कि लोकाकाश सीमित है, पर आकाश अनन्त है। परन्तु आंइटाइनके सापेक्षतावादके सिद्धान्त [Theory of Relativity] से यह बात स्पष्ट हो जाती है। एडिग्टन इसी बातको इन शब्दोंमें व्यक्त करता है।

Einstine's theory [of relativity] now offers a way out of this dilemma "space is finite but it has no end," "finite but unbounded" is the usual phrase.

आइस्टीनके अनुसार वस्तुकी सत्ता आकाशके सीमा परिमाणमें कारण है। बिना वस्तु एव समयके शाकाशकी कल्पना नहीं कर सक्ते। पदार्थही इनका आधार है। पर जैन दर्शनमें यहा मत-भेद है। जैन धर्मका जगत लोकाकाश एवं अलोकाकाश दोनोमें व्याप्त है, और वह सम्पूर्ण जगतका एक भाग (लोकाकाश) सीमित मानता है। और इसके ऊपर अनन्त आकाश, जबाकि आइस्टाइन सम्पूर्ण जगतको सीमित मानता है, और उसके बाद ऊपर कुछभी नहीं है। "आकाशकी अपेक्षा लोक सीमित है पर कालकी अपेक्षा निम्सीम है।" यह सिद्धान्त स्पष्टतः जगतको (अतएव आकाशको नित्य) अनादि और अनन्त बता रहा है। श्री एन. आर. सेक भी इसी मतमें हैं।

तात्पर्य यह कि वैज्ञानिक आकाशको शून्य नहीं मानते, और इसी लिए अलोकाकाशको नहीं मानते। पर जैसा कि कहा है, कि "ऐसे क्षणकी सत्ता असम्भव है, जिसके पूर्व कोई क्षण न बीता हो" के समान हम यहभी कह सक्ते हैं, कि यह असंगत है, कि आकाश (लोक)के बाद शुद्ध आकाश न हो।

उपर्युक्त कथनसे यह ज्ञात होगा कि आधुनिक विज्ञान आकाशके विषयमे नित्यता, अनादि, अनंतत्व, व्यापकत्व एवं लोकाकाश (जगत) सीमित स्वीकार करता है, पर यह स्पष्ट है कि उसे द्रव्य नहीं मानता।

स : अमूर्त द्रव्य

[३–४] धर्म-अधर्म द्रव्यें

इन दोनों द्रव्योंकी सत्ता जगत्की स्थितिके लिये बहुतही आवश्यक है [लोकव्यवस्था हेतुत्वात्, राजवार्तिक] किसीभी एकके अभावमें गडबडी फैल सकती है। धर्म और अधर्मसे यहां पुण्य-पाप कारण नहीं अपितु गति-स्थिति माध्यम लेना है। द्रव्यसग्रहमें इनका खुलासा इस प्रकार है :—

गइ परिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमण सहयारी तोयं जह
ठाणजुदाण अधम्मो, पुग्गलजीवाण ठाण सहयारी छाया जह पहियाणं

जीवोंकी गति तथा स्थितिमें सहायक [प्रेरक नहीं] होना इनका कार्य है। ये दोनों द्रव्य

अजीव, अमूर्तिक, अतएव रूपादि रहित, निष्क्रिय, नित्य तथा समस्त लोकाकाशमें व्याप्त हैं [diffused], परतु स्वय एक प्रदेशी है। ये गति स्थितिमे बाह्य या उदासीन कारण हैं, मुख्य नही- [बलाधातमात्रत्वादिन्द्रियवतः (१०९१०)]

जगतमे यदि जीव, पदार्थ एव आकाश, ये तीनही मूल सत्ताये होतीं, तो दुनियाका अस्तित्वही न हो पाता, क्यों कि जीव, पुद्गल अनन्त आकाशमें फैल जाते और उनका भान होना कठिन हो जाता। इसलिये जगत्की स्थिति सुदृढ बनाये रखनेके लिये ये दोनों माध्यम आवश्यक है। मात्र धर्म द्रव्य होता तोभी जगतका वर्तमान रूप असंभवथा, और मात्र अधर्मही होता, तो परिवर्तनका लोप होनेसे लकवा जैसी परिस्थिति होती। मनुष्य न तो एक तरफा वेगवानही हो सकता है, और न स्थिरही। दोनोंमें रहनाही उसका स्वभाव है। धर्म तथा अधर्मके कार्य, यद्यपि, विरोधी हैं, पर उनका विरोध दृश्यमान नहीं है, क्यों कि वे उदासीन हेतु है। स्वयं किसीको प्रेरित नहीं करते, पर जो गति-स्थिति करते हैं, उनके लिये वे आवश्यक रूपसे सहायक है।

कालेजोंमें जब " प्रकाश " [light] का अध्यापन शुरु होता है तो हमें बताया जाता है कि प्रकाश-किरणें शून्यमे नहीं, अपितु Ether of space के माध्यमसे हमारे पास पहुचती हैं। उस Ether के विषयमें यहभी बताया जाता है कि यह कोई पदार्थ या दृश्यवस्तु नही है. सर्वत्र व्याप्त है, तथा गमनमें सहायक है। संक्षेपमें वह " गति माध्यम " है। आधुनिक Ether के प्रायः सभी गुण " धर्म द्रव्य " में है। कुछ समय पहले इसके विषयमे विशेष पता नहीं था, पर माइलर तथा निकेलसन-मोर्लेके प्रयोगोंसे अब स्पष्ट सिद्ध किया जा चुका है कि " ईथर " अमूर्तिक है एवं वस्तुओंसे भिन्न है। पुराने समयके ये वाक्य " Ether *must be* something very different from terrestrial substances " अब इस निश्चित धाराको पहुच चुके हैं।

Now-a-days it is agreed that ether is not a kind of matter (पुद्गल, रूपी). Being non-material its properties are quite unique.

[Characters of matter such as mass, rigidity etc. never occurs in ether.]

ईथरकी निष्क्रियताभी इन्हीं महाशयोंके प्रयोगोंसे सिद्ध है। इस प्रकार धर्मद्रव्यमें ईथर के समस्त गुण विद्यमान हैं जैसे गति-माध्यमता, आकाश-व्याप्ति, अनंतत्व, अमूर्तित्व अतएव अपौद्गलिकत्व इत्यादि।

इसी प्रकार स्थिति माध्यम [अधर्म द्रव्य]के विषयमेंभी वैज्ञानिक कई श्रेणी तक हमारे साथ हैं। आइझाकन्यूटनने पेडसे गिरते हुए सेवको देखकर तर्क किया, " यह नीचे क्यों गिरा ? " फल स्वरूप " आकर्षण-शक्ति " का सिद्धान्त प्रकट हुआ।

प्रत्येक पदार्थ जब ऊपर फेंका जाता है और गिरनेके लिये स्वतंत्र छोड दिया जाता है, तो वह एक शक्ति द्वारा पृथ्वीके केन्द्र की ओर आकृष्ट होता है। और वही शक्ति उसके नीचे गिरनेमें कारण है। यह शक्ति वस्तुओके भारके गुणन अथवा विपरीत दूरीके वर्गके अनुपातमें है। [$F \alpha\, mm/\alpha 2$]

न्यूटनका यह सिद्धान्त Heavenly bodies, के विषयमें भी लागू होता है: और इसके लिये गणितसबंधी सूत्रभी काममें आ गये हैं। उस समय लोग यह शंका करते थे कि जब कोई शक्ति खींचती है, तब वह सक्रिय तो अवश्य होगी: अतएव वस्तुओंमेंभी क्रिया होगी। तब फिर आस-पासकी वस्तुयें क्यों नहीं स्थिति-बदलतीं दिखाई देती हैं? उत्तरमें क्रियाविरोधक शक्ति [Friction] के मुकाबिले उस शक्तिको बहुत छोटा बताया गया। यदि वह आकर्षण शक्ति बडी हो, तो चलन अवश्य होगा ही। तो फिर यहभी पूछा जा सकता है कि जब पदार्थ आपसमें आकृष्ट होते है, तो एक दूसरेके ऊपर क्यों नहीं गिरते? उत्तरमे इसके यह कहा गया कि क्रियाकी गति शक्तिकी तरफ नहीं है, अपितु पृथ्वीके केन्द्रकी तरफ है: जैसे ऊपर फेंका हुआ पत्थर या बंदूककी गोली-नीचेही गिरती है। औरभी ऐसीही अनेक बातोंसे सिद्ध है कि आकर्षण स्थिति जगतकी स्थितिमें कारण हैं।

यहा यह ध्यानमे रखनेकी बात है कि न्यूटनको स्वयं शक्तिके विषयमें संदेह था—यह मूर्त है या अमूर्त: साथही साथ वह इसे [शक्तिको] निष्क्रियभी नहीं मानता था। पर आइंस्टाइनके इसी विषयमें नवीन मतके अनुसार यह शक्ति निष्क्रियभी हो सकती है। पर इसके स्पष्ट रूपका पता अभीतकभी नहीं लग सका है। हावार्डने तो इस विषयमें लिखा है—

" Gravitation is an absolute mystery. We cannot get any explanation of its nature."

इस प्रकार अधर्म द्रव्यके प्रायः सभी गुण आइस्टाइनके इस नवीन आकर्षण-शक्ति [Field of Gravitation] में पाये जाते हैं। फिरभी वैज्ञानिक इसे स्वतत्ररूपमें [Reality] स्वीकार नहीं करते। वे इसकी आवश्यकता अवश्य अनुभव कर रहे हैं और वर्तमानमें वे इसे सहायकके रूपमें, अधर्म द्रव्यकी तरह, स्थितिमें कारण मानते हैं।

Ether और Field के स्वरूपमे सिर्फ कार्यका भेद है, बाकी सब गुण समान है जैसे अमूर्तत्व, अदृश्यत्व, लोकाकाश व्याप्ति इत्यादि। इस लिये " धर्म द्रव्य " जैसे Ether से ग्रहण होता हैं, उसी प्रकार अधर्म द्रव्यकाभी Field से ग्रहण होनाही चाहिये। [Substitute for अधर्म]

स : अमूर्त द्रव्य

[५] काल द्रव्य

" दव्वपरिवट्टरूवो जो, सो कालो हवेई "

पदार्थोंके परिवर्तनमे काल कारण स्वरूप हैं। यह उनके परिवर्तनमें वैसेही सहायक है जैसे कुम्हारके मिट्टी-वर्तन-निर्माण चक्रमें पत्थर। यह पत्थर चक्रमें गति स्वय पैदा नहीं करता, अपितु गतिमान् बनानेमें सहायक-मात्र होता है। कालभी द्रव्य है। क्योंकि इसमें उत्पाद-व्यय ध्रौव्य पाये जाते है। व्यवहार काल और निश्चय काल इसीके आधार पर हैं। ध्रौव्यता-वाचकपद "वर्तना"

है और उत्पाद-व्ययत्व सूचकपद " समय " [वर्तनापरि....सोऽनंत समयः ॥ म० सू०] कालद्रव्य, इस प्रकार, दो प्रकारका है। (१) निश्चय (२) व्यवहार। असंख्य अविभागी कालाणु जो लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशमें व्याप्त हैं, निश्चय काल है। और " समय " व्यवहार काल है। उन कालाणुओंमें परस्पर बंधकी शक्ति नही हैं, जिससे मिलकर वे " स्कंध " बना सकें, जैसे पुद्गल। वे " रयणाणंरासीमिव " प्रत्येक आकाश प्रदेशमें स्थित हैं। ये कालाणु अदृश्य, अमूर्त एवं तथा (निष्क्रिय) हैं। कालमें परस्पर बंधशक्तिका अभाव इसे " अस्तिकायत्व "से वंचित करता है। कालमें अस्तित्व तो है [existence सत्ता] पर कायत्व [विस्तरण शक्ति, मिलन शक्ति, extention] नहीं। दो प्रकारके [समयविशिष्टवृत्तिप्रचयामदूर्ध्वप्रचयः प्रदेशप्रचयोहि तिर्यक् प्रचयः] विस्तारविशेष सब द्रव्योंमें पाये जाते हैं, पर कालमे प्रदेशके अभावसे मात्र ऊर्ध्व प्रचयही पाया जाता है। व्यवहार कालका " समय " परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्वके आधार पर लिया जाता है। यह अपने अस्तित्वके [determination of its measure] लिये निश्चय कालाधीन होनेसे परायत्त है। इसीका खुलासा आचार्योंने यों किया है :—

" समओ णिमिसो कट्ठा, कलायणाली तयो दिवारत्ती
मासो दु अयण संवच्छरोत्ति कालो, तदायत्तो ॥

— एव विधो हि व्यवहारकालः केवल कालपर्याय मायत्वे नावधारयितुमशक्यत्वात् परायत्त इत्युपमीयते ॥ [पंचास्तिकाय]

व्यवहार और निश्चय कालमें यह विशेषता है कि प्रथम तो सादि और सांत है, जबकि द्वितीय अनंत होता है। निश्चय काल ध्रौव्यत्व [वर्तना, Continuity] का बोधक है।

प्रतिद्रव्य पर्यायमन्तर्वीतैक समया सत्तानुभूतिर्वर्तना ॥ [रा० वा०]

कालद्रव्यके कार्योंके विषयमें

" वर्तना परिणाम क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य "

सूत्र पूर्णरूपसे निर्देश करता है। यह वस्तुओंके अस्तित्वको कायम रखनेमें, परिणमनमें, परिवर्तनमें, परिवर्धनमें, क्रियामें, समयकी अपेक्षा छोटे बडे होनेमें [जैसे बाल-वृद्ध इत्यादि] सहायक है। इस सूत्रके द्वारा निश्चय और व्यवहार दोनोंका कार्य बताया गया है।

द्रव्यसंग्रहकी " दव्वपरिवट्टरूवो " वाली पूरी गाथा इसी सूत्रका भाव है। कालद्रव्य स्वयंभी परिवर्तित एवं परिवर्धित होता है, जैसे उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी [उन्नतिशील और अवनतिशील]। इसके परिवर्तनमेंभी स्वयं काल [निश्चय] कारण है। यदि कालके परिवर्तनमें कोई दूसरा कारण हो, तो अनवस्था [अव्यवस्था] हो जावेगी। अतः काल स्वतंत्र द्रव्य है और परिवर्तनमें सहायक होना उसका कार्य है।

सबसे छोटा कालका प्रमाण " समय " है। उसकी परिभाषा यह है—वह समय जो एक परमाणु या कालाणु अपने पासके दूसरे [Consecutive] परमाणुके पास तक पहुंचनेमें लेता हैं,

" समय " कहलाता है। ऐसे अनत समयोमे काल (व्यवहार) विभक्त है। जिस प्रकार भारका माप " परमाणु " और आकाशका " प्रदेश " है, उसी तरह " समय " कालका माप बिंदु है। सबसे बडे कालका प्रमाण महाकल्प है, जो उत्सर्पिणी-अवसिर्पिणीके समयका जोड है :—

४१६४५२६३०३०८३०५१७७७४९५२१९२००००...[कुल ७७ अक]

और सबसे छोटा परिमाण " समय " है।

अन्तमें कालद्रव्यके अस्तित्वके विषयमेभी कई शकाओंका समाधान आचार्योंने किया है। कालके अस्तित्व साधनके लिये अच्छे-सूक्ष्म तर्क रखे हैं। जैसे

प्रतिक्षणमुत्पादव्यय ध्रौव्यैकरूपः परिणामः............सहकारि कारण सद्भावे दृष्टः। यस्तु सहकारी कारणं सकालः [प०]

काल द्रव्यके बिना जगत्का विकास रुक जावेगा वस्तुओंकी उत्पत्ति तथा विनाश समयके अभावमें, आश्चर्यजनक लेम्पके अभावमें अलादीनके शानदार महलके समान, होने लगेगा।

यहा यहभी ध्यानमें रखना चाहिये कि न्याय वैशिषिक दर्शनोंके अतिरिक्त किसीभी भारतीय दर्शनमे कालका विशेष वर्णन नहीं किया गया है, जितना जैनमतमें, परंतु ये दर्शन जैन मतके सिर्फ व्यवहार काल तकही रह गये हैं आगे नहीं बढ सके हैं।

आधुनिक विज्ञान " समय " के कार्यकलापके आधार पर उसे द्रव्य रूपसे माननेका अनुभव करने लगा है पर उसने अभी तक सिद्धान्त रूपमें उसे स्वीकार नही किया है। रेडिंग्टन का यह कथन

Time is more physical reality than matter तथा हैनशा कायह वाक्यः—

These four elements [space, matter, time and medium of motion] are all separate in our minds. We cannot imagine that one of them could depend on another or be converted into another]

उपर्युक्त निर्देशमें प्रमाण है। भारतीय प्रोफेसर एन. आर. सेनभी इसी मतमे है, काल द्रव्य के अस्तित्वके विषयमें, जैनमतसे ठीक मिलता हुआ, तर्क फ्रेच दार्शनिक बर्गसननेभी रखा है। उनके अनुसारभी " जगतके विकासमें काल एक खास कारण है। विना कालके परीणमन और परीवर्तन कुछभी नहीं हो सकते " फलतः " काल " " द्रव्य " है।

काल द्रव्यके दो भेदोंको वैज्ञानिक स्वीकार करनेही लगे हैं

Whatever may be the time defuse, [व्यवहार] the Astronomer royal's time is *de facto* (निश्चय)."—Eddington.

एक प्रदेशी होनेसेही काल द्रव्यमें ध्रौव्यत्व है, इसेभी बर्गसन स्वीकार करता है।

The continuity of time is due to the spatialisation or (absence of extensive magnitude) of the durational flow. " कालका ऊर्ध्व-प्रचयत्व (mono-dimensiona-

lity) भी लोग स्वीकार करते हैं। आइंस्टाइनका सिद्धान्त "लोकाकाशस्य यावन्तः प्रदेशाः तावन्तो कालाणवो निष्क्रियाः एकैकाकाश प्रदेशे एकैकवृत्या लोकव्याप्य स्थिता" को पूर्णरूपसे मानता है। यही एडिंग्टनके इस कथनसे ज्ञात होता है...

You may be aware that it is revealed to us in Einstine's theory that space and time are mixed in rather or strange way.... both space time vanish away into nothing if there be no matter. We can't conceive of them without matter. It is matter in which originate space and time and our universe of preception."

जैन धर्ममेंभी अलोकाकाशमें पदार्थोंके अभावसे कालाणुका अभाव है, जो इस मतकी पुष्टि करता है। "*अकायत्व*" *भी एडिंग्टन स्वीकार करता है:—*

I shall use the phrase time's arrow to express this *one way property* of time which has no analogue in space.

काल द्रव्यकी अनततामी आइनस्टाइनकी Ceylinder theory के आधारपर ऐडिंग्टन मानता हैं।

The world is closed in space dimensions, but it is open at both ends to time dimensions.

कालाणु तो वर्तमान विज्ञानके भौतिक समयके world-wide instants ही समझने चाहिये।

कालके कार्यकलापोंको विज्ञान मानताही है, यह स्पष्ट है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनधर्म जिन कारणोंसे कालकी सत्ता मानता है, वे ही कारण, तथा वे ही कार्य जो हमारे आचार्योंने कालके बताये हैं, आजका विज्ञानभी स्वीकार करता है। पर जैसा कि शुरूमेंही कहा कि वह इसे स्वतंत्र द्रव्य नहीं मानता।

[द]-उपसंहार

उपर्युक्त विवेचनके आधारपर जैनमतके षट् द्रव्यों [Substances or realities]को हम इन वैज्ञानिक नामोंसे ग्रहण कर सकते हैं।

पुद्गल — पदार्थ और शक्ति	Matter and Energy
धर्म — गतिमाध्यम	Ether [of Space]
अधर्म — स्थिति माध्यम	Field [of Gravitation] and electromagnatism
आकाश —	Space
काल —	Time
आत्मा — जीव —	Soul

आधुनिक विज्ञान इनमेसे स्वतंत्र द्रव्यतो सिर्फ पुद्गल एवं धर्मकोही स्वीकार करता है, परंतु बाकीको स्वतत्र माने जानेका वैज्ञानिक अनुभव करने लगे हैं। इन द्रव्योंकी सत्ता-सिद्धिके लिये किये जानेवाले प्रयत्नोंकी असफलताके कारण है (१) विज्ञानकी भौतिकता तथा (२) इन द्रव्योंका अमूर्तत्व।

"They try to detect it [any reality] assuming that it is a material while it is quite opposite to that,"

यंत्रादिके द्वारा अमूर्त द्रव्योंको न देखाही जा सकता है, और न मापाही। इस लिये आत्मा आदिके अस्तित्व एव स्वभावका पता अभी तक नहीं लग सका है। भौतिक साधनों द्वारा अमूर्त द्रव्योंको जाननेमे विज्ञान हमेशा असमर्थ रहेगा इसमें कोई शक नहीं।

यदि आजका विज्ञान जैन-मत-सम्मत समस्त द्रव्योंको स्वीकार नही करता है, तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि यह सब महत्वहीन हैं। हमें विज्ञानके सकुचित क्षेत्र [भौतिक] परभी तो–यानी उसकी असमर्थता पर–ध्यान देना चाहिये। वैज्ञानिक लोग आज जिन चीजोंका अभाव अनुभव कर रहे हैं, एव जिनके अभावमे वे बहुतसे प्राकृतिक क्रियाओंका हल नहीं दे रहे हैं वे हमारे शास्त्रोंमे वर्णित हैं। किसीभी अन्यमतके तत्वज्ञान ग्रन्थोंमें गति-स्थिति-माध्यम [धर्म-अधर्म] का वर्णन नहीं है। काल द्रव्यकी स्वतत्र सत्ताभी जैनधर्मकी एक विशेष महत्ता प्रदर्शित कर रही है। वास्तवमे जैन-जगत [षट् द्रव्य] का विवेचन पूर्ण रूपसे संगत एव वैज्ञानिक है। उसका पूर्ण आभास उपर्युक्त विवेचनसे मिलता है।*

(पृष्ठ ९० से चालू)

भूल चले मानव थे
अपनी ही मानवता!
अपनायी हृदयसे थी
सबनेही दानवता!!
सभ्यताका नग्न नृत्य।
दिखते अनूठे कृत्य!!
शान्ति तो भ्रान्ति थी!
मची दुष्क्रान्ति थी!
नारी निरीह थी अमित बनाई गई
भोगकी केवल सामिग्री वह!
प्रेम, स्वार्थ प्रेम था!
दीखता न कही सत्य धर्म नेम था।
छलबलका जटिल जाल
था दृश्यमान विकराल
मानो निकट आ गया था
प्रलयका महा काल!

ज्ञान हो रहा था विलुप्त
धर्म आचरण धर्म प्रतिकूल था!
हिंसामयी तमसाका
चारों ओर छाया था —
घोर अन्धकार-अधिकार!
सूर्य-किरण अभिलाष
उस युगको थी हुई
उसी काल विषय परिस्थितमे
लोक कल्याण हित
एक दिव्य मानव ने
लिछिव कुल नृपति के
त्रिशलाकी कुक्षिसे
दिव्य मार्तण्ड तुल्य जन्म लिया!
वह पुण्य मयी जन्म तिथि
मधुमासकी त्रियोदशी
अहा श्वेत पक्षकी
वीरकी जयन्ती है!

---

* Prof. G. R. Jain की Cosmology तथा प्रो० पद्मराजय्याके एक लेखके आधार पर।

जैन धर्म क्या है?

(श्री० अजितप्रसादजी, एम. ए., एलएल. बी., लखनऊ)

जैन धर्म वस्तुस्वभाव है। वह सम्प्रदाय, आम्नाय नहीं है। वह नियमसग्रह नहीं है। वह सांसारिक व्यवहारका मार्गप्रदर्शक कोश नही है। वह जनसमूह नहीं है। वह कोई जाति नहीं है। वह कोई बिरादरी, पार्टी नही है। जैनधर्म किसीका बनाया हुआ, किसीका स्थापित किया हुआ नही है। जैनधर्मका कोई सस्थापक पैगंबर नहीं है। जैनधर्मका आदि-अन्त नही है। जैनधर्म न कभी शुरू हुआ, न कभी खतम होगा। न कभी प्रारम्भ हुआ, न कभी नाश होगा। वह तो जो कुछ है, उस सबका श्रद्धान, ज्ञान है।

जैन धर्मका सिद्धान्त ८ बरसका बालक समझ सकता है और जैन धर्मका ज्ञान इतना गम्भीर है कि जन्म जन्मान्तरमेंभी पूर्णज्ञान होना मुशकिल है। मगर एक जन्म, दो जन्म, या तीन जन्ममे संपूर्ण ज्ञान, केवल ज्ञान, आत्म ज्ञान, परमात्म पद मुक्ति, मोक्ष प्राप्ति संभव है। हरएकको हो सकती है। उस परम पदकी प्राप्तिमें अपनी स्वय शक्ति ही एक मात्र साधन है। किसी अन्य पुरुषकी सहायताकी आवश्यकता नहीं है। किसीकी मेहरबानी, कृपा, सिफारिश या बलिदान पर निर्भर नही है। केवल अपना पुरुषार्थ, परम पुरुषार्थही उस परमैश्वर्यका साधन है।

जैन धर्मका साधन प्रत्येक बालक, व्यक्ति, युवक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, रोगी, स्वस्थ, हर अवस्थामें कर सकता है। जाति, वर्ण, आदिकी रोक टोक नहीं है: ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र, कोईभी हो वह मोक्षका अधिकारी है, मुक्ति प्रत्येक जीवका जन्म-सिद्ध अधिकार है; चाहे जिस देशमे रहता हो, चाहे जो भाषा बोलता हो, चाहे जिस घरमें कुलमें जन्म लिया हो। मनुष्य जैन धर्मके सिद्धान्त पर चल कर आत्मोन्नति करता हुआ लोकके अग्रभागमें शुद्ध-स्वतंत्र होकर नित्य शाश्वत, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य, अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञानमें मग्न रह सकता है। प्रत्येक जीव शक्तितः परमेश्वर है। अपने निजी पुरुषार्थसे उस परमेश्वरत्वको व्यक्त कर सकता है। नरसे नारायण बन सकता है।

जैन धर्मका सिद्धान्त सरल, निर्विवाद है। दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी, मंदिर मार्गी, तेरा पन्थी, तारण पन्थी, आदि भेद प्रभेद जैन धर्ममें नहीं हैं। यह तो जैन धर्म अपवाद है। भौतिक विद्यामदसे मदोन्मत्त मनुष्योंने अपने कषायसे प्रेरित होकर अपनी पूजा प्रतिष्ठा करानेके लिये अपने अपने मठ स्थापित कराके अनन्त संसारका बंध किया है। साम्प्रदायिकता, कट्टरपना, आम्नाय भेद, जैन धर्मका अनादर, मिथ्या भावना, कर्मबन्धका कारण है।

सच्चा जैनधर्म अनुयायी, वीर भगवानका उपासक, तो " सत्वेषु मैत्री, गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम् , माध्यस्थ भावम् विपरीत वृत्तौ," रूप सिद्धान्त पर चलता है। उसके प्रत्येक

प्राणी, देहधारीसे मैत्रीभाव होता है। किसीसेभी वैरभाव नही; वह किसीके दोषको नही देखता, किसीके अवगुण प्रगट नहीं करता, वह गुणग्राही होता है; सब दुःखी, पीडित जीवोंकी रक्षा करता है। दया करता है, और जो विपरीत मार्ग पर चल रहे हे, उनसेभी द्वेष नही करता, उनकी बुराइयोंका ढढोरा नहीं पीटता। सदा आत्मानुभव, आत्मचिन्तनमे मग्न रहता है। स्वात्म भावसे पृथक अन्य सब बातोंसे दूर हटा रहता है और उसी आशयका उपदेश, बखान, करता रहता है।

यदि अपनेको जैनी कहनेवाले लोग, जैन धर्मके सिद्धान्त पर चलने लगे, तो संसारका उद्धार, अपना उत्थान, स्वपर-कल्याण शीघ्रही हो जाय।

दुःख, क्लेश, रोग, शोक, अज्ञान, निर्धनता, लडाई, झगडे, युद्ध, मारकाट, लूट खसोट, आदि कष्ट जल्दीही मिट जावें। संसार स्वर्गरूप बन जावे। पौराणिक वर्णन साक्षात दिखाई पडे। सुख-शान्ति, स्वास्थ्य, सन्तोषका प्रचार हो।

क्या जैनी नामधारी भाई, महावीर सन्देश पर चलेगे? अपने व्यवहारसे दैनिक चरित्रसे सिद्धकर देंगे, कि वह वीर भगवानके सच्चे, पूरे उपासक है। झूठी मान बढाई, चन्दरोजा वाह-वाहीसे डर गए हैं। अपना तन, मन, धन, अपनी सर्व शक्ति, लोकोपकार, जनसेवा, आत्मोन्नति, वास्तविक मानवसमाजोद्धार.और वास्तविक धर्मप्रचारमें लगावेंगे।

समझानेसे था हमे सरोकार
मानो या न मानो तुमहो मुख्तार.

'वीर—सद्धर्म—सन्देश'

(पण्डित नाथूरामजी 'प्रेमी')

१

मन्दाकिनी दयाकी जिसने यहां बहाई!
हिंसा कठोरताकी कीचडभी धो भगाई!!
समता-सुमित्रताका ऐसा अमृत पिलाया!
द्वेषादि रोग भागे मदका पता न पाया!!

२

उसही महान प्रभुके तुम हो सभी उपासक!
उस वीर वीर-जिनके सद्धर्मके सुधारक!!
अतएव तुमभी वैसे बननेका ध्यान रक्खो!
आदर्शभी उसीका आखोंके आगे रक्खो!!

३

सन्तुष्टि शान्ति सच्ची होती है ऐसी जिससे!
एहिक क्षुधा पिपासा रहती है फिर न जिससे!
वह है प्रसाद प्रभुका पुस्तक स्वरूप उसको!
सुख चाहते सभी हैं, चखने दो चाहे जिसको!

४

कर्तव्यका समय है निश्चिन्त हो न बैठो!
थोडी बढाइओंमें मदमत्त हो न ऐंठो!!
"सद्धर्मका सन्देसा" प्रत्येक नारी नरमे!
सर्वस्वभी लगा कर फैला दो विश्वभरमे!!

भगवान महावीरके धर्ममें क्रियाकांडकी वैज्ञानिक स्थिति।

(श्री प. नाथूलाल जैन, साहित्यरत्न, सहितासूरि, न्यायतीर्थ, शास्त्री, इन्दौर)

वस्तुस्वभावका नाम धर्म है। चेतन और अचेतन पदार्थोंमे जीव और पुद्गल, ये दो पदार्थ अशुद्ध या विभाव दशामें परिणमन करते हैं। शेष अचेतन धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य अपनी स्वाभाविक अवस्थामे रहते है। उक्त जीव और पुद्गलमे जीव ससारदशामे और पुद्गल कर्म-रूप परिणत होनेकी दशामे अशुद्ध होते हुए अनादि कालसे परस्पर बधे रहकर अपने स्वरूपसे च्युत हो रहे हैं। जीवका कर्मके निमित्तसे रागद्वेषादिरूप होनाही उसकी अस्वाभाविक और परतत्र अवस्था है। उससे छूट कर यह अपने अनत ज्ञानादि गुणोको अभिव्यक्त कर सके इसीके लिए उस प्रयत्न करना आवश्यक है। स्वरूपका भान हो जाने परही यह जीव अपना प्रयत्न जारी रखकर सफलता प्राप्त कर सकता है।

भ. महावीरने स्वय अपनी कर्म परतत्र आत्माको अपने पुरुषार्थसे स्वतत्र बनाया था और तभीसे भगवान या परमात्मा बने थे। भ. महावीर का धर्म इसीलिए वैज्ञानिक है कि वे वस्तुकी जो स्वाभाविकता है उसे स्वय प्राप्त कर दूसरोंको उसे प्राप्त करनेका उपदेश देते हैं। आत्माकी स्वाभाविकता उसके अनत ज्ञानादि गुणोकी अभिव्यक्ति है—वही उसका स्वरूप है। इसी वस्तुस्वभाव की स्थितिका नाम धर्म है, जिसे ससारी जीवोको प्राप्त करना है[1]।

इस स्व स्वभावकी प्राप्तिके हेतु जीवको तदनुकूल आचरणभी करना होगा तभी वह उसे पासकता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य लिखते है कि जीवको चारित्र गुणके आचरणसे मुक्ति मिलती है और स्वरूपका आचरणही चारित्र है। मूल चारित्रको धर्म कहते है जो उपशमरूप है। मोह क्रोधसे रहित आत्माका परिणाम उपशम है। पचाध्यायीकार[2] बताते है कि मोहकर्मके उदयसे रहित जो आत्माका शुद्धोपयोग है उसीका नाम चारित्र है और वही निश्चयसे व्रत है। कर्मके ग्रहणकी क्रियाका रुक जानाही यथार्थ चारित्र है, वही धर्म है और शुद्धोपयोग है। पंडितप्रवर आशाधरजी[3] कहते हैं कि सासारिक क्लेदको दूर करनेवाले मुमुक्षको सम्यक चारित्ररूपी छाया वृक्षका सेवन करना चाहिए। परन्तु वह चारित्र वृक्ष सम्यदर्शनरूपी भूमिपर श्रुतज्ञानरूपी जलसे सींची गई दयारूपी जडवाला होना चाहिए। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके विना चारित्र अचारित्र माना जाता है।

इस कथनसे यह अभिप्राय निकला कि यथार्थमें आत्मामे निरांकुलता या स्थिरताका होना

---

१. प्रवचनसार अ. १ गा. ६-७. २. पंचाध्यायी अ. २ श्लो. ७५८, ७६४.
३. अनगार धर्मामृत अ. ४ श्लो. १, ३.

चारित्र है और आकुलता या चंचलता अचारित्र है। श्री वीरसेनाचार्य[४] लिखते हैं कि पापरूपक्रिया-ओंकी निवृत्तिको चारित्र कहते है। घातियाकर्म पाप है, मिथ्यात्व, असयम और कषाय पापकी क्रिया-यें हैं। उन पापक्रियाओंके अभावको चारित्र कहते हैं। पापरूपक्रियाओंमे शुभ और अशुभ दोनो भाव आ जाते हैं, क्योंकि शुभ और अशुभ दोनो भावोसे घातिया कर्मका बंध होता है। जिनभावोंसे आत्मगुणोंकी शक्तिका घात होता है, वे भाव पाप कहलाते हे। इस लिए शुभाशुभ दोनोही भाव पाप क्रिया[५] है। परन्तु ऐसी परिणति और ऐसा भान तत्वज्ञान होने परही होता है। इस निश्चय रूप परिणामके लिए अपने मन वचन कायको सभालनेकी आवश्यकता है। बाह्य साधन व्रतोपवास तपादि अंतरंगकी स्थिरताके लिए निमित्त हैं, लेकिन वे चारित्र या धर्म नही है, हा व्यवहारसे उन्हेभी धर्म कहा जाता है। प. आशाधरजीने बताया है कि सम्यग्दर्शनादिके साथ प्रवृत्त होनेवाले आत्माके एकाग्रतारूप शुद्ध परिणाम कार्य हैं और इस धर्मके विषयमें जो एक विशिष्ट प्रीति होती है वहभी उपचारसे धर्म माना जाता है। यहधर्म[६] पुण्यकर्मके बधका कारण हो सकता है जिससे स्वर्गादि सपत्ति प्राप्त होती है। जैनाचार्योंने कहा है कि—

"यदि[७] तुम जिनमतको चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इनमेंसे किसीभी नयको मत छोडो क्योकि इनमेसे एक व्यवहार नयके विना तीर्थका और दूसरे निश्चय नयके विना तत्वका लोप हो जाता है। यह न जान कर जो व्यक्ति केवल चरणक्रिया-बाह्यचारित्रकोही प्रधान मानता है वह वास्तवमें आत्मकल्याणके व्यापारसे रहित है, क्योकि ऐसा व्यक्ति चरणक्रियाकोही आत्मसिद्धिका सार समझ बैठता है। इसी तरह जो केवल निश्चय नयकाही अवलंबन लेनेवाला है, यह निश्चय है कि वह निश्चय नयकोभी नहीं समझता। ऐसा व्यक्ति स्वय बाह्यचारित्रमे आलसी हो जाता है और चारित्रधर्मको नष्ट कर डालता है।"

भाव यह है कि ज्ञानविहीन शुष्क क्रियाकांड निःसार है और क्रियाहीन ज्ञान अज्ञान है। आत्माके निश्चयमे परिणमत होने पर बहिरात्म भावके हट जानेसे मन, वचन, कायकी सब क्रियायें योग्य हो जाती हैं, वही व्यवहार चारित्र है। कर्म कर्मफल चेतनामें जो पुरुषार्थ कहलाता था वही ज्ञानदृष्टि हो जानेसे बदल जाता है और अशुभ क्रियाओंसे शुभमें प्रवृत्त हो जाता है। सम्यदर्शन

---

४. धवलाटीका ग्रंथ ६ पृ. ४०.

५. आत्मधर्म (श्री कानजी स्वामीका प्रवचन) वर्ष ३ अक १०.

६. अनगार धर्मामृत, अ. १ श्लो. २२.

७. जइ जिणमयं पवंजह ता मा ववहारणिच्छये मुअह।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं ॥
चरण करणप्प हाणा ससमय परमत्थमुक्कवावारा।
चरणकरणं ससारं णिच्छयसुद्ध ण जाणति ॥
णिच्छयमालंबंता णिच्छयदो णिच्छयं अजाणंता।
णासिंति चरणकरणं बाहिरकरणालसा केई ॥

ज्ञानसे रहित क्रियाका नाम चारित्र नहीं। सम्यग्दर्शन हो जाने पर जीवन बदल जाता है। सम्यग्दृष्टि ही तत्वज्ञानी है। वह व्रतादि आचरण करता हुआभी अपनेको उनका कर्त्ता नहीं मानता। ज्ञानी और अज्ञानीमें कर्म कर्मफल चेतनाके अनुभवमें कर्तृत्व और ज्ञातृत्व बुद्धिकाही अन्तर है। आचार्य कल्प श्री० पं० टोडरमलजी[८] बताते है कि ज्ञानी प्रशस्त रागसहित चारित्र धारण करते हैं उन्हें देख कोई अज्ञानी प्रशस्त रागहीको चारित्र मान संग्रह करते है तो वे वृथाही खेदखिन्न होते हैं। जैसे कोई समझदार तुषसहित चांवलका संग्रह कर रहा था, उसे देख कर किसी अज्ञानी भोले आदमीने तुषोंकोही चांवल मान संग्रह करना उचित मान लिया तो उससे उसे व्यर्थही खेदखिन्न होना पडा। इस प्रकार भेद ज्ञान रख कर आत्माके निर्विकार स्वभाव निश्चय धर्ममे जब तक सपूर्ण स्थिरता नहीं होती तब तक अशुभ प्रवृत्तियोंसे, जिनसे कि अशुभ पापभाव होता है, बचनेके लिए व्रतादि एवं जिनेन्द्र भक्ति आदिका शुभराग सम्यग्दृष्टिके होता है। ये व्रतादि क्रियायें व्यवहार चारित्र कही गई हैं। व्यवहार नाम उपचारका है क्योंकि महाव्रतादिके[९] होने परही वीतराग चारित्र होता है। इस संबंधसे व्रतादिमें चारित्रका उपचार किया है। यह सब शुद्धोपयोग बढानेके लिए किये जाते हैं, और शुद्धोपयोग निर्जराका कारण है; इस लिए व्यवहारसे व्रत[१०] व तपादिभी निर्जराका कारण कहे गये हैं। चारित्रमोहके उदयसे जीवोके सर्वदा शुद्धोपयोग रूप प्रवृत्ति बनी नहीं रह सकती; अतएव शुद्धोपयोग की इच्छासे वे व्रतोपवासादि[११] करते रहते है। बाह्य साधनोंसे वीतराग शुद्धोपयोगका अभ्यास सभी तीर्थंकरोंने किया है। सवर (आतेहुए कर्मोका रोकना) मे अहिंसादि और समितिधर्मानुप्रेक्षादि रूप भावोंको गिनाया गया है; सो उनमें जितने अंश वीतरागताके हैं उनसे संवर होता है और सराग अंशोंसे शुभाशुभ होता है। इस प्रकार एक भावसे दोनों कार्य बनते हैं।

भ० महावीरका धर्म अध्यात्मप्रधान है, उसमें आध्यात्मिक विज्ञानका महत्व आंकना चाहिए। बंध संवर निर्जरा और मोक्ष तत्वके विवेचनमें वर्तमान भौतिक विज्ञानका उदाहरण लिया जा सकता है। अपने स्वभावसे च्युत होकर जीव और कर्मका एक दूसरेके प्रदेशोंमें प्रविष्ट हो जाना और इससे तीसरीही दशाका होना बध है। यह संयोगदशा नहीं है। संयोगमें गुणका विनाश नहीं होता, पर बंधमें स्वगुणच्युति होना आवश्यक है। इसका दृष्टांत मिले हुए अशुद्ध सुवर्ण और चांदी पदार्थ है जिनमेंसे उनके रूपादिका परिवर्तन हो जानेपरभी सराफा बाजारमें धातु गालनेवाला सुनार अग्नि और तेजाब आदिके प्रयोगसे उन्हे अलग २ अपने शुद्ध रूपमें ला देता है। इसी प्रकार वर्तमान वैज्ञानिकभी अपनी प्रयोगशालामें मिश्र पदार्थको रासायनिक प्रयोगके बल पर शुद्ध कर लेता है। यही बात भ० महावीरके सयम, तप, त्याग, आकिंचिनत्व और ब्रह्मचर्य धर्ममें घटती है। आतशी कांचके ऊपर जब सूर्य किरणें केन्द्रित करदी जाती है तो वे तपन पैदा कर देती है। इसी प्रकार एक मुमुक्षु अपने मनवचनकायकी प्रवृत्तियोका निरोध करता है, उसका नाम है संयम। आतशीकाचसे जब गर्मी अधिक बढ जाती है तो पासका पदार्थ जलने या पिघलने लगता है। इसी तरह आत्मामें

---

८. मोक्षमार्ग प्रकाशक पुस्तक पृ. ३६२. ९. मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ. ३४०.
१०. तत्वार्थ सूत्र अ. ९ सू. १, २. ११. मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ. ३४२.

स्थिरताके वढ जानेसे आत्माका अशुद्धभाव और कर्म मल नष्ट होने लगता है, इसीका नाम तप है। रासायनिक प्रयोगमे मिश्रित अशुद्ध पदार्थोके गलकर अलग २ हो जानेके समान आत्माके रागादिका और पुद्गलकी कर्मत्व दशाका छूट जाना त्याग है। जब दोनो चीज अलग २ हो गई तो तपस्वीकी आत्मा, जिसे शुद्ध बनानेके लिये वह प्रयत्न करता है, आकिंचन्य (जिसमे अन्य कोई पदार्थ मिला हुआ नही है) अवस्थाको प्राप्त कर लेती है। आकिंचन्य दशाके होनेपर आत्मा ब्रह्म (शुद्धात्मा) में आचरण करने लगता है अर्थात् स्वरूपोपलब्धिको प्राप्त कर लेता है। यह है भ० महावीरका वैज्ञानिक धर्म जो वस्तुको अपने स्वभावमे लानेका सुदर एव मौलिक विवेचन करता है। मूलमे जो स्वभावकी प्राप्ति होती है वह समीचीन क्रिया या प्रवृत्तिसेही होती है, क्योकि सयम और तप बाह्य क्रिया रूप साधनभी है, जिनके प्रयोगसे इस तत्वज्ञानीको अपनी अशुद्ध दशाको नष्ट कर शुद्धदशा प्राप्त करनी पडती है।

उक्त चर्चासे यह स्पष्ट हो जाता है कि अतरग शुद्धिके लिए बाह्य साधनोंको स्वीकार करना चाहिए और वे किस दृष्टिसे किस लिए ग्रहण किये जाते है यहभी मालूम हो जाता है। मोक्षके लिए सयम और तप आवश्यक है। व्रतोंका[१२] धारण करना, समितियोका पालन करना, कषायोका निग्रह करना, मन वचन काय रूप दडका त्याग करना और इन्द्रियो पर विजय करना सयम कहलाता है तथा अनशन,[१३] अवमौदर्य, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय और ध्यान यह १२ प्रकारका बाह्य एव अतरग तप कहलाता है, जो अपनी लालसाओ एव इच्छाओंके रोकनेसे होता है।

मोक्ष प्राप्त करनेके लिए जैसे शुद्धोपयोग प्रधान है वैसेही उस शुद्धोपयोग परिणत आत्माका आश्रय योग्य शरीर तथा योग्य क्षेत्र, काल आदिभी निमित्त जुटानाही चाहिए, चाहे वे गौण क्यों न माने जाये, पर किसीभी कार्यके लिए उत्पादक कारण कलाप चाहिए 'सामग्री हि कार्यजनिका' न्यायशास्त्रका एक नियम है।

'न निमित्तद्वेषिणा क्षेमः' निमित्तका सर्वथा विरोध करनेवालोंका कल्याण नही होता। उत्तम सहननवालेको मुक्ति मिलती है, क्योकि मुक्तिके योग्य ऊचे परिणाम और तप दूसरेके सभव नहीं। उत्तम सहननवालाही ऊंचासे ऊचा पुण्य और ऊचासे ऊचा पाप अर्जन कर सकता है। स्त्रीशरीरसे मुक्ति और सप्तम नरक गमन अशक्य है क्योकि स्त्रीके उत्तम सहनन नही होता, न वह महाव्रतही धारण कर सकती है। अभव्यके रत्नत्रय नहीं हो सकते। मुक्ति दिगवर मुनिमुद्रा और महाव्रताचरण सेही होती है। इन सब बाह्य निमित्तोंको देखते हुए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके नियमों पर विचार करनाही होगा। जिनसेनाचार्य[१४] लिखते हैं कि 'जिसका कुल और गोत्र विशुद्ध है, जिसके आचरण उत्तम हैं, जिसका मुख सुदर और जो बुद्धिमान है, ऐसा भव्य पुरुषही दि. मुनिर्दीक्षा ग्रहण करने योग्य समझा जाता है।' मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्यको शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र, शुभ योग,

---

१२. गोम्मटसार जीवकाड—गा. ४६४. १३. तत्वार्थ सूत्र अ. ९ सू. १९, २०.
१४. आदिपुराण पर्व ३९ श्लो. १५८, १५९.

शुभ लग्न और शुभ ग्रहोंके अंशमे दिगंबर मुनि दीक्षा लेना चाहिए।' ऊसर भूमिमें बोया हुआ बीज फल नहीं दे सकता। उत्तम फलकी प्राप्तिके लिए भूमिको सुसस्कृत करना आवश्यक है।

इसके पूर्व उन्हीं आचार्यने बताया है कि "जिस प्रकार विशुद्ध खानसे उत्पन्न हुई मणि सस्कारके निमित्तसे अत्यंत उज्ज्वल हो जाती है उसी प्रकार यह आत्माभी क्रिया मन्त्रोंके संस्कारसे अत्यंत निर्मल हो जाताहै। अथवा जिस प्रकार सुवर्ण पाषाण उत्तम क्रियाको पाकर शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार यह भव्य पुरुषभी उत्तम क्रियाओंको पाकर शुद्ध हो जाता है।"

यहां द्रव्यलिंगीमुनिके उदाहरणसे यहभी जान लेना चाहिए कि उक्त पात्रता और क्रियाओंके होनेपरभी वे अपने उपादान अंतरंग आत्माके तत्वज्ञानविना नवग्रैवेयकसे आगे नहीं[१५] जा पाते। तत्वज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) की क्रियाये शुभ होती हैं, पर शुभ क्रिया करनेवाला तत्वज्ञानी होकर मुक्त होताही है यह व्याप्ति नहीं। इस लिए स्वय जिनसेनस्वामीभी कहते हैं कि यह संस्कार ज्ञानसे[१६] उत्पन्न होता है, सबसे उत्तम सम्यग्ज्ञान है। अतः सम्यग्दृष्टियोंको उत्तम फल देनेवाली और शुभ करनेवाली क्रियाओंको करना चाहिए। ये क्रियायें गर्भान्वय, दीक्षान्वय और कर्तृन्वयके भेदसे ३ प्रकारकी आदि पुराणकारने बताई हैं। गर्भान्वय क्रियायें ५३ हैं जिनमें गर्भधारणसे लेकर निर्वाणपर्यन्तके संस्कार और आचरण आजाते है। वर्तमान जीवनमें गर्भाधानसे प्रारभ कर प्रतिमाह गर्भके बालकके सस्कार किये जाते है और उत्पन्न होने पर नामकर्म, शिक्षाप्रारभ, विवाह, कुलचर्या, गृहत्याग, मुनिदीक्षा और अंतमे तीर्थंकृत भावना एव समाधिमरण किया जाता है। इससे वह जीव स्वर्गमें इन्द्र पद प्राप्त कर वहांसे तीर्थंकर होता है और अंतमें मोक्ष प्राप्त करता है। यह व्यावहारिक बाह्य एवं आतरिक क्रियाकांड वास्तवमें जीवनके निर्माण एव विकासके लिए अत्युपयोगी है। इससे सांसारिक और आध्यात्मिक जीवन कितना पवित्र और उन्नत बन सकता है यह इस प्रकरणको ध्यानसे देखने पर ज्ञात हो जाता है।

दीक्षान्वय क्रियायें ४८ है जिनमें उक्त क्रियाओंमें १४ वीसे ५३ वींतक और अवतारादि ८ और हैं। व्रतोंका धारण करना दीक्षा है। व्रतग्रहण करनेके लिए जो मनुष्यकी प्रवृत्ति है उसके साथ होनेवाली क्रियाये दीक्षान्वय कहलाती हैं। इनमेंभी मिथ्यात्वका त्यागकर जैनधर्म स्वीकार करने आदिका क्रम है।

कर्त्रन्वय क्रियायें ७ हैं, जो पुण्यवालोंको प्राप्त होती हैं। यही सप्तपरमस्थान कही जाती हैं।

वेद[१७] (श्रुतज्ञान), पुराण, स्मृति (धर्मशास्त्र), चारित्र, क्रियाविधि, मत्र, देवता (तीर्थंकर) लिंग (निर्ग्रंथ) आहार (मासादिदोषरहित) और बुद्धि (अहिंसायुक्त)का जैनाचार्योंने निरूपण किया है जिसे श्रेष्ठमार्ग और धर्म मानना चाहिए। यह सर्व व्यवहार धर्म है। शास्त्रस्वाध्याय,

---

१५. आदिपुराण पर्व ३९ श्लो. ९०,९१. १६. आदिपुराण पर्व ३९ श्लो. ९२.
१७. आदिपुराण पर्व ३९ श्लो. २० ते ३१.

महापुरुषोंका जीवनचरित्रपठन, प्रतिष्ठा, देवपूजन-दर्शन, स्तोत्रपाठ, सामायिक, विघ्ननिवारणार्थ जाप्य विधान, एव हवन, शुद्धमर्यादित भोजन और शारीरिक शुद्धि आदि जो आचरण बाह्य रूपमें किये जाते है और जिनके करनेसे लोग धर्मात्मा कहे जाते है, वे सब अंतरग मन और आत्माके सुधारके लिए हैं। पुराण[१८] स्मृति आदिकी सहायतासे होनेवाली आत्मश्रद्धा एवं मानसिक शुद्धिसे यह जीव सम्यक्त्वको प्राप्तकर लेता है। पुराणादिमे कहे गये आदर्श उदाहरणोसे अपनी आत्माकी ओर झुकनेकी प्रेरणा मिलती है परन्तु भावशून्य उक्त क्रियायें यथार्थमें फलदायक नहीं। चरणानुयोगमे[१९] सकषाय एव भोले जीवोंको लोभ, अरति, जुगुप्सा अदिकपायोको उत्पन्न करकेही धर्मकार्यमे लगाया गया है। तीव्र दुखी एव पापकर्ममे लगे हुए जीवोंको स्वर्ग, पुत्र, धनादिका लालच दिखा कर पूजन पाठ आदिमें लगानेके वाक्य हम पूजापाठो एवं स्तोत्रोंमे सदाही पढते हैं। पूजनोंके अंतमें पढा जाने वाला आशीर्वाद इसका प्रमाण है। स्तोत्रो एव विनतियोंमे सीता, द्रौपदी, सेठ धनजय आदिके उदाहरणभी हम पढते हैं जिनके आत्मिक शुद्धभावो और पूर्वपुण्यके प्रभावसे संकट दूर हुए थे। इनसे यह लाभ अवश्य है कि वे जीव पापाचरणमे न फस कर पुण्यरूप प्रवृत्तिमे लगते है और पीछे इसीसे सच्ची धर्मबुद्धि (आध्यात्मिकता) भी हो जाती है।

जिनेन्द्र[२०] तो रागद्वेपसे रहित हैं, वे न प्रसन्न होते हैं और न रुष्ट; किन्तु उन परमात्माके गुणोंका चित्तमे चितवन करनेसे हमारी कर्मप्रकृतियोंका तीव्र अनुभाग (फल दानशक्ति) मंद या नष्ट हो जाता है। हमारे आत्मिक उच्च भावही इसमे कारण है। जिनेन्द्रके आलंबनको पानेसे हम व्यवहार मे उनका प्रसाद[२१] या कृपा कह दिया करते हैं।

आहारशुद्धिकी वैज्ञानिकता तो स्वय आयुर्वेदशास्त्र वताते हैं। जैसा अन्न खाया जायगा वैसाही परिणमन होता है और शारीरिक विकारसे मन पर असर होताही है। आहारके समयके भावोकाभी प्रभाव उसके पाचन पर पडताही है। भोज्य द्रव्योकी मर्यादाभी अपना महत्व रखती है वह स्वाद एव वैज्ञानिक मत्रोंसे जानी जा सकती है। 'सिद्ध पदार्थ विज्ञान' मे केप्टन स्कवोर्सबीने अनछने जलविंदुमे ३६४५० त्रस जीव खुर्दवीनसे बताये हैं। बिंबादि प्रतिष्ठाओमें प्रतिमा प्रतिष्ठाके साथ दानादिभी किये जाते हैं। इन सबसे वाह्यचारित्र जो कि अतरंग शातिका साधन है, पालनमें और अर्जित धनके सदुपयोगमें मदद मिलती है और सामाजिक सगठन-परिचय आदि लाभ होते हैं। प्रतिमाओकी क्रियाओंमेंभी जो विशेषताये है वे यहां विस्तारके भयसे नहीं वताई जा रही है। विधि-पूर्वक वनाया भोजन या औषधिका मूल्य वही जानते हैं। इतना तो कहना पडेगा कि प्रतिष्ठाचार्योंने विविध प्रभावनाके नाम पर इनमे अधिकीय वाङ्मयाडम्बर और मिथ्यात्व ला दिया है, जिसके जैनेतर क्रियाकाड काभी प्रभाव है। इस प्रतिष्ठा और पूजनादिके क्रियाकाडको लेकर जैनोंमें अनेक आम्नाये (पथ) हो गई हैं जिनसे कपायकी ही पुष्टि एव परस्पर कलह वढ गया है। यह सब यथार्थ उद्देश्य एव साध्यको विस्मृतकर साधनोकोही साध्य समझनेका दुष्परिणाम है।

---

१८. उत्तरपुराण. १९. मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ. ४१७. २० कल्याणमदिर एव स्वयभूस्तोत्र. २१. आप्तपरीक्षा

मंत्र साधन और हवनके विषयमें यह अवश्य है कि शद्बों और अचेतन वस्तुओंमें कुछ स्वाभाविक शक्ति है कि उन्हें नियमोंके माफिक ठीक २ मिलाया जाय और विधिपूर्वक प्रयोग किया जाय तो वे अपना प्रभाव करते है। 'मणिमाला ग्रंथ' के अनुसार किस रत्नको किसे कब धारण करनेसे क्या लाभ या हानि होती है, यह प्रकट है। चिंतामणिरत्न, कल्पवृक्ष, कामधेनु आदिसे इसे सहज ही जाना जा सकता है। रजस्वला स्त्री की दृष्टि और शद्ब मात्रसे पापड क्यों खराब हो जाते हैं? इसी लिए मांगलिक कार्योंमें मेंहदी, अक्षत, सरसो, हल्दी, सुपारी आदिका उपयोग किया जाता है। इस कथनको आयुर्वेदशास्त्रका निघंटुभी प्रमाणित करता है। हवन (यज्ञ) में जो वस्तुएँ सग्रह की जाती है उनमे हवनद्रव्य एवं समिधाके प्रयोगसे शरीरके बडे २ रोग दूर हो जाते है तथा घट, ग्राम, नगर आदिकी खराबिया नष्ट हो जाती है। 'कल्याण' में कुछ वर्ष पूर्व एक इस विषयका लेखभी निकला था।

उक्त विवेचनमें मुख्य बात यही है कि इन सबका मन और आत्मापर प्रभाव पडना चाहिये। प्राणियोका आत्मशातिही प्रमुख ध्येय होना चाहिये और उसमें जो साधक हो उन्हें विवेकपूर्वक ग्रहण करना चाहिए। अपने[२१] सम्यक्त्व और चारित्रमें हानि करनेवाले क्रियाकांडको सर्वथा परित्याग कर देना उचित है।

"जैनधर्मके चारित्र नियमोकी पवित्रता अक्षुण्ण है और वे इस उच्च स्तरके है कि प्रत्येक व्यक्ति आध्यात्मिक उन्नतिके लिये उनको निस्सकोच ग्रहण कर सकता है। दुखी जगतको सुख-शान्ति देनेके लिये जैन शिक्षा पर्याप्त है। जैनधर्मनेही पहले-पहल अहिंसाका उपदेश दिया, जिसका अनुकरण अन्य धर्मोंमें किया गया।"

—प्रो० लुई रेनाउ, पी-एच. डी., सोबोर्न विश्वविद्यालय, पेरी (फ्रांस)

---

२१. सर्व एव हि जैनाना प्रमाण लौकिकोविधिः।
यत्रसम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम्॥ (यशस्तिलकचंपू)

जैनधर्ममें जातिवादकी निःसारता।

(ले० श्री० चैनसुखदासजी शास्त्री, न्यायतीर्थ, जयपुर)

जातिभेद एक निःसार प्रथा है। इसने धर्मका गला घोट दिया है और मनुष्यकी बेहद परेशानियाँ बढायीं हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके भेदों एव इनके उपभेदोंने मानवताको छिपाकर एक दूसरेके बीचमें इतनी गहरी खाई खोद दी हैं कि अब उसको पाट देना आसान काम नहीं। ब्राह्मण केवल इसीलिये अपने आपको बडा समझता है कि वह उच्च जातिमे पैदा हुआ है फिर चाहे वह कितनाही निकम्मा क्यो न हो। विद्वान्, कर्तव्यनिष्ट एव परोपकारी शूद्रका अयोग्यसे अयोग्य ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य केवल जातिके कारण तिरस्कार कर सकता है–उससे बोलनेमेंभी नफरत कर सकता है। उसका अन्न खाना और उससे सपर्क रखने की तो बात ही रहने दीजिये। इसीलिए किसी स्मृतिग्रन्थमें यह लिखा हुआ मिलता है। —

शूद्रान्नात् शूद्रसंपर्कात् शूद्रेणसह भाषणात्।
इह जन्मनि शूद्रत्वं मृतःश्वा चाभिजायते ॥

शूद्रके अन्नसे, शूद्रके सपर्कसे, इतनाही नहीं शूद्रके साथ बातचीत करनेसेभी मनुष्य इस जन्ममे शूद्र हो जाता है और वह मरनेके बाद कुत्ता हो जाता है।

प्राचीन कालमें उच्च वर्णके लोगोंने शूद्रोको पददलित करने और सतानेमें कुछभी उठा न रक्खा था। उनको पठन पाठनका कोई अधिकार नहीं था। उनके कानमेभी किसी तरह वेदमंत्र पड जाय तो इसकी बहुत बडी सजा थी। इसी लिये वैदिक वाङमयमे कहा है :—

" श्रवेण चपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरणं
उच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे हृदयविदारणं "

अर्थात् शूद्र यदि वेदोका श्रवण करले तो उसके कान शीशा और लाखसे भर देने चाहिये, उच्चारण करले तो उसकी जीभ काट देना चाहिये और यदि-याद करले तो उसका हृदय विदारण कर डालना चाहिए। शूद्रोके लिए यह कितनी बडी सजा है। इस सजाको सुनकर मनुष्य कांपने लगता है और उसका हृदय घृणा, दुःख और लज्जासे नीचा हो जाता है। किसीभी विवेकी मनुष्यको ऐसी चीजे बरदास्त नहीं हो सकती। जिसके हृदय है, जिसमें मानवता है वह ऐसे बेहूदा विधानोंको कभी पसंद नहीं करेगा। इसलिये जातिवादके इन कलक रूप विधानोंका जैनशास्त्रोंने घोर बिरोध किया और एक जबरदस्त क्रांति कर डाली। जैनोंके तार्किक ग्रथोंमेंभी इस जातिवादकी खूब खबर ली गई। अकाट्य दलीलोंके द्वारा इसका खण्डन कर इसकी निःसारता बतलाई गई है। जिससे भोले जीवोंकी श्रद्धालु

चेतनासे इसका भय निकल जावे। जैनोंके प्रकाण्ड तार्किक श्री प्रभाचद्राचार्यने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ प्रमेयकमलमार्तण्डमे जातिका खडन करते हुवे लिखा है कि :—

"किञ्चेद ब्राह्मणत्वं जीवस्य, शरीरस्य, उभयस्य वा स्यात्, संस्कारस्यवा, वेदाध्ययनस्य वा गत्यंतरासभवात्? न तावज्जीवस्य; क्षत्रियविट् शूद्रादीनामपि ब्राह्मण्यस्य प्रसङ्गात् तेषामपि जीवस्य विद्यमानत्वात्।

नापि शरीरस्य; अस्य पञ्चभूतात्मकस्यापि घटादिवद् ब्राह्मण्यासभवात्। न खलु भूतानां व्यस्तानां समस्ताना वा तत्सभवति। व्यस्तानां तत्सभवे क्षितिजल हुताशनाकाशानामपि प्रत्येकं ब्राह्मण्य प्रसङ्गः। समस्तानां च तेषां तत्सभवे घटादीनामपि तत्सभवः स्यात् तत्र तेषा सामस्त्यसंभवात्। नाप्युभयस्य; उभयदोषानुषङ्गात्।

नापि संस्कारस्य; अस्य शूद्र बालके कर्तुं शक्तितस्तत्रापि तत्प्रसङ्गात्।

किञ्च सस्कारात्प्राग्ब्राह्मणबालस्य तदस्ति न वा यद्यस्तिः सस्कार करण वृथा। अथ नास्ति तथापि तद्वृथा। अब्राह्मणस्याप्यतो ब्राह्मण्य सभवे शूद्रबालकस्यापि तत्सभवः केन वार्येत?

नापि वेदाध्ययनस्य; शूद्रेपि तत्सभवात्। शूद्रोपि हि कश्चिद्देशान्तर गत्वा वेद पठति पाठयति वा। नतावतास्य — ब्राह्मणत्व भवद्भिरभ्युपगम्यत इति।

अर्थात् यह ब्राह्मणत्व जीवका है, शरीरका है अथवा जीव और शरीर दोनोंका है अथवा सस्कारका है अथवा वेदाध्ययनका है। इसके अतिरिक्त इस विषयमे और कोई विकल्प नहीं उठ सकते। इनमेसे जीवका तो ब्राह्मणत्व हो नही सकता; नही तो क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोकेभी ब्राह्मणत्व का प्रसग हो जायगा; क्योंकि जीव तो उनकेभी विद्यमान है।

शरीरकोभी ब्राह्मण नही माना जा सकता क्योकि घटादिककी तरह पञ्चभूतात्मक शरीरसे ब्राह्मण्य असभव है। यदि पञ्चभूतोका ब्राह्मणत्व स्वीकार किया जाय तो पृथक् पृथक् पञ्चभूत ब्राह्मण होंगे या मिलकर? दोनोही पक्ष युक्ति बाधित है। इसी तरह जीव और शरीर इन दोनोकाभी ब्राह्मण्य स्वीकार नहीं किया जा सकता; क्योंकि उभय दोषका प्रसग आ जायगा।

सस्कारकाभी ब्राह्मण्य स्वीकार नहीं किया जासकता क्योकि संस्कार तो शूद्र बालकमेंभी किया जा सकता है, तब उसेभी ब्राह्मण मानना पडेगा।

और यहां यहभी पूछा जा सकता है कि सस्कारके पहले ब्राह्मणके बच्चेमें ब्राह्मणत्व है या नहीं? यदि है; तो संस्कार करना व्यर्थ है। यदि नही है तोभी व्यर्थ है, क्योंकि अब्राह्मणमेंभी संस्कारसे ब्राह्मणत्व स्वीकार कर लेने पर शूद्रके वालकमेभी ब्राह्मणत्व स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि सस्कार तो उसकाभी हो सकता है।

इसी तरह वेदाध्ययनकोभी ब्राह्मणत्वका कारण नही माना जा सकता क्योंकि वेदाध्ययन तो शूद्रमेभी हो सकता है। कोई शूद्रभी देशातरमें जाकर वेदको पढ लेता है और दूसरोंको पढा देता है फिरभी उसका ब्राह्मणत्व नहीं माना जाता।

जैनोंके उत्तराध्ययन नामक आगम सूत्रमें लिखा है : —

कम्मुणा बम्भणो होई कम्मुणा होइ खत्तियो।
वईसो कम्मुणा होई, सुद्दो होई कम्मुणा॥

अर्थात् कर्मसेही ब्राह्मण, कर्मसेही क्षत्रिय, कर्मसेही वैश्य और कर्मसेही शूद्र होता है।

कर्मका अर्थ मनुष्यका कर्तव्य है। मनुष्यकी महत्ता उसके कर्तव्यसेही है।

सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो
न दीसइ जाइ विसेसो को वि।
सोवाग पुत्त हरिएस साहुं
जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा॥

अर्थात् वास्तवमे तपकीही प्रत्यक्ष विशेषता देखी जाती है। चाण्डाल कुलमे उत्पन्न हुये "हरिकेशी" अपने तपके कारणही महान् हो गये हैं।

जैनोंके सुप्रसिद्ध आचार्य अमितगतिने जातिके विषयमे जो मूल्यवान विचार प्रगट किये है वे भी हरेकके मनन करनेके योग्य है।

न जातिमात्रतो धर्मो लभ्यते देहधारिभिः।
सत्य शौच तपः शील ध्यान स्वाध्यायवर्जितैः॥
आचारमात्र भेदेन जातीनां भेदकल्पनम्।
न जाति ब्राह्मणीयास्ति नियता क्वापि नान्विकी॥
ब्राह्मण क्षत्रियादीनां चतुर्णामपि तत्त्वतः।
एकैव मानुषी जातिराचारेण विभज्यते॥
संयमो नियमः शीलं तपोदानं दमो दया।
विद्यते तात्त्विका यस्यां साजातिर्महतीसताम्॥
गुणैः सम्पद्यते जाति गुणध्वंसैर्विपद्यते।
यतस्ततो बुधैः कार्यो गुणष्वेवादरः परः॥
जातिमात्र मदः कार्यो न नीचत्वप्रवेशकः।
उच्चत्वदायकः सद्भिः कार्यः शीलसमादरः॥

इन सबका भाव यह है कि केवल जातिमात्रसेही धर्मकी प्राप्ति नहीं हो सकती। धर्मकी प्राप्तिका कारण तो सत्य, शौच, तप, शील, ध्यान और स्वाध्याय है। सच तो यह है कि जाति नामका कोई यथार्थ पदार्थही नहीं है। आचार मात्रके भेदसे केवल जाति भेदकी कल्पना हुई है। ब्राह्मणत्व नामकी यथार्थ जाति निश्चितरूपसे किसीभी जगह दीख नहीं पडती है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारोंकी वास्तवमे एकही मनुष्य जाति है। आचारके भेदसेही इनमें भेद होता

है। संसारमें सबसे बडी जाति वह है जिस जातिमें संयम, नियम, शील, तप, दान, दम और दया विद्यमान है। गुणोंसे जाति बनती है और गुणोके नाश होनेसे उसका नाश हो जाता है इसीलिये विद्वानोको गुणोंकाही आदर करना चाहिए। जातिभेद मनुष्यको नीचा गिरा देने वाला है। यदि मनुष्यको उठना हो तो गुणोंका आदर करना चाहिये क्योंकि उच्चत्वके कारण केवल गुण हैं।

यह सब कुछ होते हुयेभी आजके जैन बुरी तरह जातिवादके शिकार है। वे अपने आचार्योंके जातिकी निःसारता बतलाने वाले आदरणीय उपदेशोंकी ओर कोई ध्यान नही देते। भगवान महावीरके सर्व जाति समभावकी आज स्वय जैनोके हाथही जो दुर्गति हो रही है उससे बडा दुःख होता है। "एकैव मानुषी जातिः" यह जैनोका नारा था और महावीर युगमें इसमें बहुत बडी सफलता मिली थी। यही एक ऐसा नारा है जो सारे राष्ट्रको एक निष्ठ और एक प्राण बना देनेवाला है। आज हमारा प्यारा देश अभूतपूर्व विपत्तियोंके दलदलमे फॅसा हुआ है। उसका उद्धार करनेके लिए सबसे पहले जातिभेदके पिशाचको नष्ट करनेकी जरूरत है। यह कितने दुःखकी बात है कि इस अभागेदेशमे तीन हजारसेभी अधिक जातियोकि सख्या है। इनके उपभेदोकी सख्या-तो सचमुच मनुष्यको कपादेनेवाली है। अकेले ब्राह्मणोंमेंही दो हजार जातियॉ बतलाई जाती है।

ब्राह्मणोंकी एक शाखा सारस्वत ब्राह्मणोकी चारसौ उनहत्तर उपशाखाये है। क्षत्रियोकी पाच सौ नव्वे, वैश्यो और शूद्रोकी छह सौ केभी ऊपर शाखाएँ है। छोटेसे करीब २५ लाखकी जन सख्यावाले जैन समाजके एक दिगम्बर संप्रदायमेही ८४ उपजातियॉ है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोकी इन जातियॉं एव उप जातियोंमें परस्पर विवाहसबध नही होता। इतनाही नही इनमें परस्पर भोजनव्यवहारभी निषिद्ध है। आश्चर्य तो इसबातका है कि इस वैज्ञानिक युगमेंभी इन चीजोंको धर्म माना जारहा है। भारतीय मनुष्यके उत्थानमें इन जातियोने हर तरहकी बाधायें डाली हैं। यद्यपि मिश्र, चीन और जापानमेंभी प्राचीन कालमें जाति भेद था। पर इस देशकी तरह उनमें इतनी कट्टरता कभी नहीं थी और न इतनी शाखा प्रशाखाऐ थी। भारत वर्ष जैसी जाति भेदकी कट्टरता संसारके किसीभी देशमें नही मिलती। श्रुति स्मृतियोंके शासनने इस कट्टरताको समय समयपर प्राण दान दिया है। जैन तीर्थंकरों और जैनाचार्योंने यद्यपि इसका घोर विरोध किया पर वरणाश्रम धर्मके शासनने इनको अधिक सफल नही होने दिया। बौद्धोने इसमें जरूर सफलता पाई पर भारतवर्षके बाहर जाकरही।

आज देशको इस बातकी जरूरत है कि हम सब मिलकर इस जाति भेदकी प्रथाको मिटा डाले।

The Jaina Teachings and Ahimsā.

BY ŚRĪ MATTHEW MCKAY, BRIGHTON (SUSSEX).

[श्री मैथ्यू मैक्के सा० एक अंग्रेज विचारक और प्रवक्ता हैं। सत्यान्वेषणकी भावनासे प्रेरित हो उन्होंने विश्वका पर्यटन किया है। जैन ग्रन्थोंको स्वतः पढकर आप उनके श्रद्धालु हुये हैं। प्रस्तुत लेखमें उन्होंने अपने दृष्टिकोणसे जैन सिद्धातका विश्लेषण किया है। वह लिखते हैं कि इस सत्यको पाकर मुझे अमित आनन्द अनुभव हुआ, जिसे मै सबको वितरण करनेके लिये लालायित हू। वह बताते है कि जैनी तीर्थकरोंकी तर्कसिद्ध वाणीको मानते हैं। जो तर्कविज्ञानसे सिद्ध न हो उस बातको वे स्वीकार नहीं करते। यह तीर्थंकर चौवीस थे, जिनका उल्लेख बाइबिलमें चौवीस अग्र पुरुषों (Elders) के रूपमें मिलता है। अतिम तीर्थंकर महावीरके शिष्योंमें वह भ० बुद्धको गिनते हैं। वस्तुतः बुद्ध पार्श्वपरम्पराके जैन मुनि थे। हिन्दू मतमेंभी प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवको सर्वज्ञ प्रभु कहा है। जैन मान्यता है कि प्रत्येक जीवात्मा स्वभावतः सर्वज्ञ है। वह अखड और अनादिनिधन है। सुखका पुज है वह। अतएव एक जैनके लिये सासारिक बातें उतने महत्वकी नहीं है, जितनी कि आध्यात्मिक। सासारिक विभूति तो जैनके मार्गमें एक अर्गला है। जो धनसम्पत्तिके पीछे पागल बना है, वह अपनी आत्माका अहित करता है। अपने आन्तरिक प्रकाशको क्षीण बनाता है। सुख हमारे भीतर है—दुनियामें बाहर कहीं नहीं है। जैन धर्म सुगम व्यवहार्यभी है। वह निखिल सत्य जो है। सम्यग्चारित्रका अनुसरण जीवात्माको परमात्मा बनाता है। जैनी होनेका अर्थ है सज्जन पुरुष। वह अपने साथी लोगोंको भाई मानता है और आत्मोन्नतिके मार्गमें वह उनका सहायक होता है। मैक्के सा० इस भावनासे प्रेरित होकरही अपने देशवासियोंको धर्मतत्व बतानेके लिये भाषण देते और लेख लिखते है। मन, वचन, काय योग द्वारा आत्मा पर जो कर्म-पुद्गल आकर जमता है, वही अशान्तिका कारण है। सर्व बन्धका मूल वह हैं। आत्माका स्वभाव मुक्ति है। बन्धका नाश करके हरकोई मुक्ति पा सकता है। सम्यग्दृष्टि चारित्रधर्मका पालन कर साधु होता है और तब कर्मोंका नाशकर परमात्मपद पाता है। मुख्य पाप हिंसा है—किसीभी प्राणीको कष्ट न देना प्रमुख कर्तव्य है—यह अहिंसा है। भोजन या शिकारके लिये क्रूर बन कर पशुओंकी हत्या नहीं करना चाहिये। गृहस्थ श्रावक सबसे प्रेमपूर्वक व्यवहार करता है। द्वेषसे दूर रह कर सेवा धर्म वह स्वतः पालता है। अपनी आन्तारिक मनोदशाका निरीक्षणभी वह करता रहता है, जिससे बुराइयोंसे उसका पीछा छुटे : प्रगटतः यह चर्या कठिन दिखती है, किन्तु मुमुक्षु इसमें रस लेता है-वह जानता है कि शरीर बंधनसे मुक्त हाने परही सच्चा सुख उसे मिलेगा। अत. इच्छाओं और आकांक्षाओंको वह जीतता है। अपने आत्मस्वभावको वह पहिचानता जो है। तीर्थ-करका आदर्श उसके समक्ष रहता है। पाश्चात्य लोकको जैन चारित्रका महत्व समझनेकी आवश्य-कता है। जैनी तीर्थंकरकी पूजा कुछ पानेकी लालसासे नहीं करते। तीर्थंकर स्वय कृतकृत्य हैं। वह उनके निमित्तसे अपने आत्मध्यानकी परिपुष्टि करता है। अष्ट प्रकारी पूजा त्याग वैराग्य भाव बढानेके लिये है। जैन तीर्थंकरोंने जो सिद्धान्त बताये वे सचमुच लोकके लिये प्रकाशही हैं। उनका पठनपाठनही शान्तिदायक है। अहिंसा जैन चारित्रकी आधारशिला है। अनावश्यक क्षति प्राणियों की गृहस्थ कभी नहीं करता। पर आज यह पुण्यभाव कहां है? हम सब अपनी समस्याका हल

ढूंढ रहे है। किन्तु युद्धकी क्रूर भावनासे लदे हुये लोकमें यह हल कहा ? दो महायुद्धोंके विनाशके उपरान्तभी लोकमें शान्ति नहीं है। बडे बडे वैज्ञानिक एटमबॉम्ब सदृश नाशकारी अस्त्रोंको ढूंढ रहे है। तीसरे युद्धके लिये तैयारीयां हो रही हैं। अतः मानना पडता है कि राजनीति इस भयंकर स्थितिको हल नहीं कर सकती। मतमतान्तरोसेभी इसका समाधान नही हुआ। तो क्या इसका कोई इलाज नहीं ? मैक्के सा० कहते है कि इसका इलाज अहिंसा है। जैन अहिंसामे मानवही नहीं पशुपक्षी सभी प्राणी आते हैं। शादीनेभी कहा है कि चीटीकोभी मत सताओ–उसकेभी जान है। जो मुमुक्षु परमात्मा होना चाहता है उसे अहिंसाका धर्म पालन करना होगा। पांच प्रकारके प्राणी इस लोकमें है। एक सच्चा जैनी उनमेंसे किसीकीभी हिंसा नहीं करता। स्वत्व और देश रक्षाके लिये हिंसा विशेष होती है–अहिंसक उसेभी कम कर देता है। आजकल भोजनके लिये अपार हिंसा होती है। मैक्के सा० कहते है कि मुझमे सामर्थ्य हो तो वधस्थानको लिये जाते सब पशु-मुक्त कर दूं। उनके दयनीय वधका करुण चित्रण हृदयवेधक है। भोजनके साथ शौकशिकारके लिएभी प्राणी वध प्रचलित है। इस सबमें हिसा है। आज टीका लगानेके नाम परभी घोर हिंसा चल रही है। उसकी प्रतिक्रिया हो निकली है। विरोध सब प्रकारकी हिंसाका होना चाहिये। पशु मानवसे प्रेम करते है। मैक्के सा० ने अफ्रीकामें एक पशुकी रक्षा की तो वह उनका साथी होगया–उनको छोड कर वह जंगलमे नहीं गया। इस प्रकार सबके प्रतिप्रेम व्यवहार करनेसेही विश्वशान्ति हो सकती है। अहिसा उसका उपाय है। का० प्र०]

In presenting my view of the Jain teachings I must say that it is with the greatest pleasure that I do so. So much joy has entered my soul that I feel I simply must tell of this Truth, that others too may experience the true value of this veritable elixir of life. The Jainas refuse to follow the teachings of anyone who is not an ideal of perfection.

And the Tīrthankara is the most perfect of men, having by his own efforts attained to the purity of spiritual life, has become a god.

The Holy Tīrthankaras were twenty four in number.

These are mentioned even in the English Bible. Here they are referred to (in Revelations) "as the four and twenty elders around the throne." There the matter ends so far as the English generally are concerned. But with the Jainas it is not so.

These Pure Ones are Realities in the records of the Jains, and can be traced by those who will devote the time and study to these beautiful teachings.

Their lives have been spent in the freeing of themselves of all the binding powers of the senses. Lord Mahāvīra the last of the twenty–four Tīrthankaras is said to have numbered Buddha amongst his disciples. In the scriptures of Hinduism Rishabha Deva, the first Tīrthankara, is acknowledged to have attained omniscience.

It is fully maintained in the Jaina Teachings that all souls are naturally

endowed with the attributes of omniscience, and that the Holy Ones were no exception to the general rule of mankind.

It must be stressed that the Jainas do not seek any special boon from the Tīrthankaras but because they are ideals for the devotees' soul.

The devotee wishes in time to become a Tīrthankara by following in their foot-steps.

Thus the Jaina devotee will utterly refuse to accept any teaching that is not scientific, maintaining as they do that wherever a fact occurs it must be of a clear and definite and certain nature. And since definiteness and certainty are the foundations of Jainism they claim that every fact is capable of being fully established by the scientific method of investigation. Thus the Jaina Doctrine is known and accepted as established Truth.

Jainism proclaims that the soul is simple by its very nature, that it is endowed with the capacity for infinite all-embracing knowledge; and last but not least, that it is supremely Blissful. Not being made up of particles it cannot be disintegrated nor destroyed, that it is beyond the ravages of time and boundaries of space, that it is Eternal—and that in its own right when we view the soul in this manner it shows us most clearly that that which is regarded as essential by the average person is regarded as non-essential by the Jainas The soul is free and the so-called joys and possessions of material wealth are mere hindrances to the progress of the soul. While a man is using every moment of his life in search of wealth, he is merely neglecting the most wonderful jewel he could ever know. He is dimming the light within himself. The light that only remains to be re-discovered, for it has always been. It is the one Reality It is his soul.

Therefore it is perfectly clear that Bliss is not to be had from seeking, or from the pursuits of earthly joys, being our own true nature.

Jainism above all is a practical religion of living truth. Thus its adherents obey the rules of Right Conduct for this enables the soul to become a God.

By accepting Jainism one begins to find its truth by living it. The acceptor becomes a good man at heart. He sees all other men as brothers on the Path, and will go out of his way to help them, and to see that they are helped in every way in their souls progression. Hence this effort of my own. It is the product of a thankful heart—a slight repayment for the great truth which has gladdened my soul since I accepted the teachings and began putting them into practice in my every day life. The association of spirit and matter by our thoughts, words, and deeds is the cause of the souls unrest. Thus the soul is constantly attracting to itself and imbibing large quantities

of subtle invisible material which combines with it. This combination is the root of all bondage.

The essence of the spirit is freedom. The fact of the binding force and worries accruing to search of material riches is made fully apparent to all.

This bondage can only be broken when salvation is obtained The soul of one who knows the Truth is even spurred to Right Conduct, first replacing its vices by corresponding virtues, then entering into sainthood, and finally into Godhood.

The very first vice to be surrendered is the causing of injury to any living being. This is known as A H I M S A-non-injury. Animal life must not be ruthlessly destroyed for food or so called sport. The path becomes one of daily progress in the life of the devotee, and a steady improvement is noticeable in respect of mental purity and general goodness. The devotee has now entered the Householder's path. He must love all people irrespective of creed or colour, and he must hate no one The practice of the virtues of service and self-denial are gladly undertaken, and by them he is put on the pathway to perfection Often he will examine his inner mental conditions and states. All evil tendencies and traits of character must be got rid of, all that could ever be regarded as hindrances to his soul's progress. Certainly this journey is uphill, but the devotee does not lose head by its seeming severity. He knows that it is only by riddance of the matter of the body and by uprooting of every desire and longing for the things of the world that he can hope to reach the blessed goal of Glorification. His soul, really knows its own nature and it is never detained in any way by the severity of any disciplinary conduct from seeking the perfection of the gods, as realised by the Holy Ones. These glorious beings on their upward march had likewise their difficulties. But they set their faces as flints and marched toward their desired haven. And so the young devotee takes courage He becomes keener than ever to remove all barriers to the purifying of his soul. The Jaina Ritual must be understood perfectly-especially by the peoples of the Western World.

Let it be fully known that the Jainas do not worship any one in the hopes of receiving boons and favours. He reveres the ideals by which the Holy Ones have become gods. And these can be realised within himself. Thus in self contemplation he finds and reveres the god within himself. It is true that obeisance is offered to the Tīrthankaras until the devotee himself attains to perfection. The Householder worships the Holy Tīrthamkaras with eight simple articles, these being symbolical of different conceptions and renunciation. Full well he realises that the Holy Ones whom he worships do not require any begging on his part, or even any offering, They being full and perfect in complete Freedom and Wholeness.

They have placed the light on the Path of the devotee. His greatest joy is to be allowed to follow in the Path which they have trod. This is the ideal life It is the path of Peace In every religion of the world will be found these fundamentals of Truth Unfortunately many of the religions have been engulfed by man-made laws The unreal has been worshipped, and mankind has been led deeper and deeper into error.

May it be that this little writing of mine will be read by some dear brother who has been in pursuit of Truth, who has been aware within his own soul that there is an ideal within himself—his own soul. May he be led to study the Jaina Teachings more fully Then he will find of a surety that that which the Holy Ones have placed before us by their lives and teachings is the light of the World and the life which will give new zest to humanity Within his soul great peace will arise as he reads and lives these teachings. "Knock and the Door will be opened unto you. Seek and ye shall find."

AHIMSĀ

The Jaina layman, when he enters the path which leads to Perfection and Bliss, begins by avoiding the doing of unnecessary harm. We recall all the teachings of the past. Where is goodness to day? About us we seek for a solution. But a woe-stricken world can give us no answer.

Even to-day, after two of the most terrible destruction caused by two wars, we cannot even find peace in the world. The cleverest of scientists are engrossed in their research for atomic weapons of destruction. We read shocking reports of the power of death-dealing weapons both atomic and bacterial for "the next war"

Politics fail So-called religion has failed to give any remedy. Is there no remedy then? I answer Yes ; and it is an emphatic 'yes' that I do give.

Evil invariably begins and ends with mankind—by the individual. It can be ended by those very means, the individual effort. AHIMSĀ—"Non Injury" is the main plank of the Jaina platform. When a devotee enters the path of the House-holder he vows that he will harm no living thing.

Not only mankind enters the scope of his vows. No. It includes all living things.

S'ādī of Shirāz rightly urges:—

> "Do not injure the ant which is a carrier of grain;
> For it has life, and life is dear to all!"

A man who longs for the joys and Perfection of the gods must prepare

श्री मैथ्यू मैकूके. सा., ब्राइटन, इंगलेन्ड।
(प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक और प्रवक्ता
जिन्होने जैनधर्म धारण किया है)
Mr. Matthew McKay,
Brighton (England)

श्री डॉ. विलियम हेनरी टॉल्बोट, फेयरहाम, इंगलेड.
(प्रासिद्ध अंग्रेज लेखक और डॉक्टर, जिन्होने जैनधर्मको स्वीकार किया है।)
Dr. William Henry Talbot, Fareham, (England)

himself for the practising of absolute ahimsā by a steady course of training. In the beginning he should consider the teachings of the Jainas with reference to the course which he should adopt. Living beings fall under the following five classes :—

(1) One-sensed beings. These possess only the sense of touch. i. e. Vegetables.

(2) Two sensed beings. Those which possess taste added to touch. Certain varieties of shell fish can be placed under this heading.

(3) Three-sensed beings. These enjoy the sense of smell in addition to touch and taste. The ant comes under this classification.

(4) Four sensed beings who are endowed with all the senses, with the exception of that of hearing.

(5) Five-sensed beings. The true Jaina turns away from injuring all creatures.

In defence of body, property and country much that is injurious to others is committed.

That a lot of this injury could be avoided passes without comment.

In killing for food we see even in these days horrible exhibitions of cruelty. I have seen on many occasions cattle being brought to the slaughter. How I wished, I had the power at my command to set the doomed creatures free. They were quite aware of their fate. That point I would like to fully stress. The blood of the preceding victim was hardly cold before another unfortunate animal was goaded by cruel men, and harshly beaten in its last few moments of life. Fear could be seen in the eyes of the victim and in every movement of its body, quivering and apprehensive. But cattle must be killed it is said. And so the poor animals are slaughtered day by day that meat may be placed on the tables of the dinners. Butchers make a whole time profession of this cruel business, and their hired killers are ever at their beck and call to slaughter these un-offending creatures.

I write with shame of the horrible cruelties perpetrated in the name of sport. Sport to my mind runs in the way of bloodless games where the opposing men are of fairly equal match. Imagine the dying cries of a rabbit or a hare in the jaws of hounds, after being hunted and chased until it becomes literally exhausted. The hounds are usually kept in a half-starved condition in order that they will be more likely to follow the rabbit or hare to the death. In the boxing ring too, one sees horrible scenes of bleeding men, glazed in the eyes staggering about to put in a finishing blow on their opponent. And this mark is regarded as a gentleman's sport. In horse racing too one sees much that is cruel I remember as a boy seeing a poor horse which had been entered in two hard races in one afternoon. The poor beast won neither of these races, but had been forced on by its rider at a

pace which was much too severe. The horse finished the second race in a state of collapse, and was bleeding from its nostrils.

This form of treatment to animals is hailed as sport with no feeling of pity for the sufferer In circuses too one sees very often, by the very aspects of the animals, that their lot is unhappy, and that in order to compel them to perform in public, much that to say the least is unkind goes on in the way of "training" and "taming." Of late I have been gladdened to see that in England there has been a great outcry against performing animals being caused to suffer so much. It is to be hoped that in the near future these degrading exhibitions of cruelty will cease to exist. Quite recently I saw an advertisement in a newspaper which made me shudder It was an appeal for rats and large fogs for the purpose of vivisection. One can only imagine the awful things that transpire behind the name of vivisection Of course it is claimed that these things are necessary, that the experiments made are for the benefit of mankind. Here again I am glad to report on the excellent work done by various bodies of ladies and gentlemen for the abolition of these horrible atrocities.

They are a disgrace to the name of civilization and to the medical profession. A lot of cruelty takes place through sheer thoughtlessness. On the other hand much of it is pre-meditated. It has been proved again and again that vivisection is quite unnecessary, and therefore the pain inflicted on the animals is needless. The real Jaina will read of these horrors with great sorrow and concern. I do trust that this writing will meet the eyes of some. One who has not yet experienced what Jainisim stands for and that the support of any of the cases I have enumerated could never have any support from anyone under the teachings of Jainism under any circumstance.

To partake in any way in any of these things would mean that the light of the soul had been dimmed almost to extinction. I have seen the natural love of the lower creatures. In Central Africa my companions were a gazelle, two turkeys, and two flamingos ! A strange company indeed—but one, a true Jain will understand. Many times I walked with the gazelle to the forest verge to allow this graceful creature to take to its native jungle. The creature (which I had rescued from some boys who were taking it to their village to be killed and eaten) invariably returned with me to my little shack.

" Live and let live." As a child my mother often spoke of this lovely adage. I have always been a lover of the lower animals. And the teachings of Ahimsā, as practised by myself excludes the ill-treatment of any creature. Here I am all beings. Regard me as your friend.

Jaina Doctrines of the Last Arhat Mahāvīra.

BY ŚRĪ HERBERT WARREN, LONDON S. W. II

[श्री हर्बर्ट वैरन सा० जैन धर्मके श्रद्धालू अंग्रेज विद्वान् हैं। इस समय आप वृद्धावस्थाके कारण शिथिलगात हो रहे है; किन्तु आपका ज्ञान निर्मल है। सन् १९०० में आपको पहले पहल जैन सिद्धांतका परिचय हुआ। उसका अध्ययन करने पर उनको दृढ विश्वास होगया कि वह निखिल सत्य है, जिसका अन्यत्र मिलना दुष्कर है। सात तत्वोंमेंही जैन सिद्धान्तका निचोड गर्भित है। तत्वोंका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। मानव जन्म पाना दुर्लभ है। फिर सत्धर्म पाना कठिन है। सत्धर्मका परिचय पाकर उस पर श्रद्धा लाना औरभी दुर्लभ हैं। कदाचित् श्रद्धाभी हुई तो तद्रूप आचरण करना दुष्कर है। अतः धर्मका मर्म पाना उपादेय है। मर्म यही है कि हम शरीर न होकर आत्मा हैं। हमारा शरीर ज्ञाता–दृष्टा नहीं–हम ज्ञातादृष्टा हैं। बस, बोल चालमें यह नहीं कहना चाहिये कि "मै मोटा हूं" बल्कि "मेरा शरीर मोटा हैं" कहना ठीक हैं। 'समाधि शतक' (श्लोक १५) मे कहा हैं कि बन्ध-दुखका कारण शरीरको आपा मानना है। अतएव याद रखनेकी चीज यह हे कि मानव जीव और पुद्गल रूप है। सुखी और स्वाधीन होनेके लिये हमें पुद्गलका ससर्ग-शरीरका बंधन समाप्त करना है। इसे चाहे धीरे २ कीजिये और चाहे एकदम। कषायोंको जीत करही हम यह कर सकते है। दयाही धर्मका आधार हैं। अतः जीवमात्रके प्रति दयाका व्यवहार करना उचित हैं। सक्षेपमें वैरन सा० ने जैन सिद्धांतकी मूल बातोंको ठीकही बताया हैं। भेदविज्ञान सारभूत हैं। **का० प्र०**]

My first acquaintance with the Jaina doctrines was in the spring of 1900 when, here in London, the late, regretted Virchand R. Gandhi gave a series of twelve lectures on mental concentration (*dhyāna*) for the purpose of removing our *karmas* so as to develop our latent knowledge and improve our conduct. This series was followed by a series of talks on *karma* and a few (five) out of what were to have been about thirty five talks on the Jain metaphysics These two series were never completed as Mr. Gandhi became ill, and had to return to India where he died in, I think about the August of 1901.

In my opinion these Jain doctrines about life and the universe are the plain truth which, as far as I know, is nowhere else to be found. I consider them to be of inestimable value ; without them I should not know what to believe.

What I appreciate most are the doctrine of non-injury, the vows (vratas), the right attitude towards life and the universe (samyaktva). The strict-verity point of view (nishchaya naya) and the "Syādvāda".

The whole doctrines are concisely contained within the seven "tattvas": belief in which is regarded as right belief (samyag darshana). Incidentally the well known four difficulties may be mentioned; viz., it is difficult to get the human birth, having got the human birth, it is difficult to come across

true spiritual teachings, having come across them it is difficult to believe them, and they are difficult to practise.

One important part of the teaching is that we are not our body; we are not a body having a soul, we are a soul having a body. We are knowers, our body is not a knower. We should not say "I am thin", "I am fat" we should say "My body is thin, "My body is fat". In a little book called Samādhi Shataka verse 15 there is this "The cause of the misery of embodiment lies in self-identification with the body" And again, verse 69: "Atoms come into and go out of this composite mass called the body and occupy the same space as the soul. Yet the ignorant imagine these atoms to be the self, through false identification of the body with the immortal self." As I understand it, we, humans, are a subtle combination of soul and matter, and all we have to do in order to reach a satisfatctory condition in which there is no pain or misery but everlasting blissfulness, is to separate the soul and matter. This can be done slowly or quickly. The rules for doing it are of two kinds, those for beginners, comparatively easy, and those for the more spiritually advanced more difficult

As I understand the doctrines, I am he who is conscious and sentient; my body of flesh and blood, is neither conscious nor sentient

We develope our real nature by controlling and eventually removing the passions (kashāyas) especially anger, pride, deceitfulness and greed. This is done gradually through stages of development (gunasthānas)

All the rules of conduct are based on love (dayā). Love consists in doing a kindness without any expectation of return, rejoicing at the prosperity of another person, and not being envious, sympathizing with those in distress and where possible helping to relieve it, and with regard to criminals love would consist in an attitude of pity for the future misery which they are generating for themselves. These rules are not commands. The Jain deity issues no commands These rules are an aspect. The mode of behaviour, of the man who practises them.

With regard to causation, in every event there are two causes, namely, the substantial, and the instrumental (upādāna and nimitta). For instance, when the sun melts the snow on the mountain the snow is the suubstanial cause, and the sun is the instrumental cause of the event

As the book for which this contribution is intended will undoubtedly be circulated among the Jains, who are already well acquainted with the doctrines I need make no further reference to them, and those to which I have referred have been given by me to show my understanding and appreciation of them.

As I have already said, the truth about life and the universe is nowhere else to be found.

Essence of Jainism.

By Dr. B. C. Law, Ph. D., D. Litt , M. A., B. L.

[प्रस्तुत लेखमें श्री डॉ. विमला चरण लाहाने जैनधर्मका सार सुन्दर शब्दोंमें उपस्थित किया है। वह लिखते हैं कि ज्ञातृ क्षत्रियोंने भारत वर्षको एक महान् सुधारक भगवान महावीर प्रदान किए। वह जैनियोंके अंतिम तर्थिन्कर थे। उनके धर्मको माननेवाले आज लाखों भारतवासी हैं। जैन धर्म बौद्ध धर्मसे प्राचीन है। व्यवहारमे यह जीवात्माको परिभ्रमणसे ससार मुक्त करनेका ध्येय रखता है। जैन दृष्टिसे सब पदार्थ मुख्यतः जीव और अजीव रूप है। जैनधर्मका साधुजीवन कठिन है। उसमें न केवल शरीरपर नियंत्रण, शील, ब्रह्मचर्य, मद्यमांस, मधू का निषेधही गर्भित है, बल्कि मानसिक विशुद्धिभी आवश्यक है; जिसमें विचारकी पवित्रता रखनी होती है तथा ध्यान, प्रायश्चित और प्रतिक्रमण करने होते है। जैन जीवनमें अहिंसा सिद्धान्त प्रमुख है। अहिसाका प्रभाव पशुओं तक पर होता है। दूसरेके विषैले दुरभावोंको जीतनेके लिए वह अमोघ अस्त्र है। भारतमें अहिंसा प्रधान धर्म माना गया है। जैन धर्ममें अहिंसाकी अपूर्व विवेचना मिलती है। जीवनका अन्तिम ध्येय निर्वाण है। निर्वाणमें सुख शान्ति है। उसमें आकाक्षाकी वासना नहीं सताती। वह शास्वत और अपूर्व है। पडिाका वहा अन्त है। मानव एकान्त ध्यानकी चरम सीमाको पहुंचकर उसे पाता है। मन वचन कायकी योग क्रियापर नियंत्रण रखना आवश्यक है। कर्म, प्रकृति, प्रदेश आदिरूप है। वह एक सूक्ष्म पुद्गल है जो आत्मासे बंध जाता है। यह कर्म ज्ञानावर्णीय आदि आठ प्रकारके होते है। सभी कर्म पाप और पुन्य रूप होकर जीव आत्माको जन्म मरणके चक्रमें जकडे रखते है। अतएव कर्मका नाश करनेसेही हम सुखी हो सकते है जिन कर्मोसे साता और शुभ बंध होवे पुन्य कहलाते है। वे कई तरहके है और पापभी कई तरहका है। किन्तु सबसे बडा पाप जीवहिंसा है। असत्य, मायाचारी, क्रोध, मान, लोभ, कुशील और रागद्वेषसे पापका बंध होता है। सम्यक्दर्शन, सम्यक ज्ञान और सम्यक चारित्र आवश्यक है। यह रत्नत्रय धर्म कहलाता है। इनकी विचारणा तीन प्रकारसे होती है अर्थात् विषय, साधक, और साधनरूपमें। सम्यकदर्शन दोनोंकी आधार शिला है। इनके साथ तपश्चरणभी निर्वाण पानेके लिए आवश्यक है। सम्यक् दर्शन होने पर मनुष्यमें, प्रशम, सम्वेग आस्तिक और अनुकम्पा भावना प्रकट होतीं हैं। बौद्धोनेभी श्रद्धाका कुछ ऐसाही रूप माना है। वे उसे सम्मादिट्ठि कहते है। रत्नत्रय धर्मही मोक्ष मार्ग है। जैन धर्म स्याद्वादभी कहलाता हैं क्योंकि उसमें सत्यका निरुपण सात नयों द्वारा किया गया है। एकान्त भ्रान्तिसे वचनेके लिए वह सिद्धान्त अपूर्व हैं। क्रिया वाद कर्म वादही है, जो अक्रियावाद, अज्ञानवाद और विनयवादसे भिन्न है। बौद्धोंका सीलब्बत परामास विनय वाद है। जीवनकी दुःखमय दशा जीवकी अपनी करनीकाही फल हैं। सुखदुख जीव स्वयं अपनी करणीसे पाता है। वह अकेलाही जन्मता और मरता है और अकेलाही उन्नति या अवनतिको पाता है। लोकमें जीव और अजीव, तत्व है। अजीव, धर्म, अधर्म आकाश, काल, पुद्गल, रूप है। प्रत्येक संसारी जीवके दो सूक्ष्म शरीर अर्थात तैजस और कर्माण शरीर हमेशासे साथ रहते हैं। तीसरा शरीर कमी औदारिक और कभी वैक्रेय वह धारण करता हैं। कर्मबंधसेही संसारी जीव जन्म मरणके दुख उठाता है। अज्ञान और मिथ्या कर्म बंधके कारण हैं। जीव चेतनामय है; किन्तु शरीरबंधनके कारण वह संसारके अनेक कार्य करता हैं। उसे हिंसा

झूट चोरी कुशील और मद्य पानसे दूर रहना चाहिए। एक सम्यकदृष्टि सत्यकोही जानता हैं। साधुको सब बंधनों और द्वेषसे बिल्कुल बिलग रहना चाहिए। वे ही ससारसे पार होते हैं। पीडा-कारक कर्म अर्थात दंड तीन प्रकार के होते है। मनदंड, वचन दंड, कायदड। ऐश्वर्य, रसना और वासनाके मदोनमत्त कार्यको गारव कहते है। मोहजनित कार्य माया निदान और मिथ्या दर्शन है। पाच समितियों और पाच गुप्तियोंसे आत्म सयम सधता है। सप्त भयोंसे सम्यक द्रष्टि नहीं डरता है। उसे जाति, कुल, विद्या, ऐश्वर्य आदिका घमंड नहीं होता है। इस तरह सम्यक ज्ञानको उपार्जन कर रागद्वेष जीतनेसे निर्वाणका परम सुख मिलता है। कर्मके प्रभावसे जीवमें जो अवस्था विशेष कषायाधीन उत्पन्न होती है उसे लेश्या कहते है। लेश्याऐं, कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, और शुक्ल इस तरह छै प्रकारकी है। साधु चरित्रभी कई प्रकारका है। वह द्रढतासे पाला जाता है। साधु न स्त्री-प्रसंग करता है, न बुरेकी सगतिमें रहता है। वह पुन्यपापके झंझटोंमें नहीं पडता। वह न तो साधुपनेका घमंड करता है और न उसे धन कमानेका साधन बनाता है। साधु, क्रोध, मान, माया, और लोभसे परे रहता है। वह शान्त और सुखी होता है। वह हिंसा और पाच महा-पापोंसे दूर रहना है।

जैनधर्म नास्तिकवाद नहीं है। वह एक विज्ञान जनित दर्शन है। पंचव्रतोका पालन करके सुख पाया जा सकता है। जैन धर्मके अपने निराले लक्षण है। और इतिहासकी दृष्टिसे उसका स्थान वैदिक धर्म और बौद्ध धर्मके मध्यमें है। वेदान्त और साख्यके विपरीत वह जीवको एक सक्रिय तत्व मानता है। जैंन कर्म सिद्धान्त पौद्गलिक है जब कि बौद्धोंमें वह मानसिक चारित्र नियमही हैं। जैंन धर्म जीवके आवागमनसे ससार परिभ्रमण मानता है। बौद्ध इसे नहीं मानते। जैनकी तरह योग सिद्धान्तभी जीव द्रव्यको अपरिवर्तन शील मानता है। साख्यकी तरह जैन जीव पुद्गलके द्वैत वादको मानता हैं। वह वैशेषिक दर्शनके निकट हैं। जैन दृष्टीसे सुखकर मार्ग त्याग, सयम, और तपस्यामें गर्भित हैं। —सं०]

The Ksatriyas of the Jñātri clan gave India one of its greatest religious reformers, Mahāvīra, who was the last *Tīrthamkara* of the Jainas. On renouncing the world he adopted the life of an ascetic of the Nirgrantha order, of which he soon became a reformer and chief himself.[1] It was he who brought the Jñātrī Ksatriyas into intimate touch with the neighbouring communities of Eastern India and developed a religion which is still professed by millions of Indians.

Jainism is older than Buddhism. In practice it aims at the goal of liberation from the transmigration of the soul. All substances are broadly divided into lifeless things and souls of lives (*jīva*). Monastic discipline is severe in Jainism and is not confined to bodily restraints, chastity, abstinence from alcohol, flesh, honey and roots, but includes mental discipline, purity of thought, contemplation, confession and repentance

The principle of *ahimsā* or non-harming is the first principle of higher life in Jainism. Its visible effect was sought to be shown how even such

1. Uvāsagadasāo, II, p 6

brute creation as the beasts and birds, reptiles and fishes, happily responded to the non-harming and compassionate attitude of human beings. This principle is taken to be a powerful weapon for conquering the vicious propensity in others. It was universally recognised in India as the first fundamental principle of *Dharma*. In Jainism the concept of *ahiṃsā* has been most elaborately analysed and acted upon.

The distant end or ultimate object of Jainism is *Nirvāṇa* which consists in peace.[2] Nirvāna is *mokṣa* or liberation, *mukti* or deliverance. It is the blissful and peaceful element. It is the refuge which is free from the passion of craving. It is the salvation which is eternal, unassailable and noble. It means the cessation of suffering. Liberation can only be realised by man in the highest condition of aloofness and transcendentality of himself[3] It has been explained as a safe place where there is no old age, nor death, nor pain nor disease but it is difficult of approach.[4] It is freedom from pain, it is the safe, happy and quiet place which the great sages reach. It is the eternal place according to the *Uttaradhyāyana Sūtra*.[5] One should practise self-restraint with regard to the body, speech or mind. This is what is called *Samvara* which is just the other aspect of *dukkarakārikā* or tapas (austerities). *Cātuyāma-samvara* means four moral precepts as interpreted by the Buddha.[6] It is nothing but the Pali equivalent of prakrit *cāujjāma* denoting four vows.

Karma may be divided according to its nature, duration, essence and content. It is intimately bound up with the soul. There are eight kinds of *karma*. The first kind hides knowledge from us (*jñānāvaranīya*), the second kind prevents us from beholding the true faith (*darśanāvaraṇīya*), the third kind causes us to experience either the sweetness of happiness or the bitterness of misery (*vedanīya*), the fourth kind bemuses all the human faculities (*mohanīya*), the fifth kind determines the length of time which a *jīva* must spend in the form with which his karma has endowed him (*āyu*), the sixth *karma* (nāma) decides which of the four states or conditions shall be our particular *gati* (abode of life), the seventh *karma* is *gotra karma* which determines a man's life, his occupation, the locality in which he may live, his marriage, his religious observances and even his food.[7] The last and the eighth kind is the *antarāya karma* which always stands as an obstacle. It prevents a person from entering the path leading to eternal bliss.[8]

---

2. *Sūtrakṛtānga*, I, 11 11. 3. *Sūtrakrtānga*, I, 10 12

4. Cf. Āsvaghosa's *Saundaranandakāvya-yasminnajātir najarā na, mrtyur na vyādhayo....kṣemam padam naistikamacyutam tat. V*. 27

5 XXIII, 81-84. 6. *Digha*, III, 48-51.

7 S. Stevenson, *The Heart of Jainism*, p. 182.

8 *Uttaradhyāyana*, XXXIII, 1-3.

Karma consists of acts, intentional and unintentional, that produce effects on the nature of soul. Soul is susceptible to the influences of *karma*. The categories of merit (*puṇya*) and demerit (*pāpa*) comprehend all acts which keep the soul bound to the circle of births and deaths. Birth is nothing caste is nothing and *karma* is everything and on the destruction of *karma* the future happiness depends. Jainism as a practical religion, teaches us to purge ourselves of impurities arising from *karma* From the undoing of the effects of old *karma* by means of penances and the non-doing of such acts as are likely to produce a new karmic effect, there follows the non-gliding of the self in the course of *samsāra* in future The sequel of this is the destruction of *karma*, the sequel of that is the destruction of the painful physical and mental conditions of the self.

The actions leading to the good *karma* which brings peace of mind are called *punya*. *Puṇya* is of various kinds: *annapunya* (merit acquired by giving food to the deserving people), *pānapuṇya* (merit acquired by giving water to the thirsty), *vastrapunya* (merit acquired by giving clothes to the poor, especially to the monks), *layanapuṇya* (merit acquired by building or lending a house to a monk), *sayana-punya* (merit acquired by providing seats and beds), *manapuṇya* (merit acquired by thinking good of everyone), *kāyapuṇya* (merit acquired by saving a life or rendering service), *vacanapunya* (merit acquired by speaking without hurting anybody's feelings) and *namaskārapunya* (merit acquired by reverent salutations.) There are various kinds of *pāpa* or sin *Jīvahiṃsā* (life-slaughter) is the most heinous of all the crimes according to Jains. Sins are also acquired by speaking falsehood, dishonesty, unchastity, covetousness, anger, conceit, attachment and avarice

The three essential things of Jainism are *jñāna*, or sphere of knowledge and intuition, *darśana* or sphere of faith and devotion; and *cāritra* or sphere of conduct and behaviour.[9] They are known as three jewels in Jainism, a phrase which is quite familiar to Buddhism Each of them can be considered in its three-fold aspect, e. g. the subject, the object and the means. In right belief there is the believer, that, which is believed, and the means of believing. In right knowledge there is the knower, the known and the means of knowing. In right conduct there is the pursuer of conduct, conduct itself and reasons of conducting. The right belief is the basis upon which the other two rest. It is the cause and the right knowledge is the effect. Right conduct is caused by right knowledge and implies both right knowledge and right belief. This is the view of Umāsvāti as found in his Tattvārthādhigama Sūtra.

Faith knowledge, and conduct (*darśaṇa*, *jñāna*, and *cāritra*) are the three

9. *Sūtrakṛtānga*, I, 6.14.

terms that signify the comprehensiveness of Jainism. The Uttarādhyayana adds austerities as the fourth to the earlier list of the three terms. Knowledge is characterised as right knowledge, faith as right faith, and conduct as right conduct. These three constitute the path to Nirvāna or liberation or perfect beatitude.

There are five kinds of knowledge according to the Jains:—(1) *Śruta* or that which is derived from the study of sacred books, (2) *Ābhinibodhika* or that which is derived from one's experience, thought or understanding, (3) *Avadhi* or that which is eo-extensive with the object; (4) *Manahparyāya-jñāṇa* or knowledge of the thoughts of others and (5) *Kevala* or the highest knowledge. The Manahparyāyajñāna is defined in the Ācārānga-sūtra as a knowledge of the thoughts of all sentient beings (II.15.23) The *Kevala-Jñāṇa* means omniscience enabling a person to comprehened all objects.[10]

The five kinds of conduct are: (1) Equanimity, (2) recovery of equanimity after a downfall; (3) pure and absolute non-injury, (4) all but entire freedom from passion and (5) ideal and passionless state. Right conduct is based on five vows of an ascetic which are as follows. (1) not to kill, (2) not to speak falsehood; (3) not to steal, (4) to observe chastity; (5) to renounce all pleasure in external objects.

The right belief is the belief or conviction in things ascertained as they are (*cf. Uttarādhyayana sūtra*, xxviii. 28.29) It is of two kinds: (1) belief with attachment having the following signs: calmness (*praśama*), fear of mundane existence in five cycles of wanderings (*saṃvega*), substance (*davva*) place (*khetta*), time (*kāla*), thought activity (bhāva) and compassion towards all living beings (*anukampā*), and (2) belief without attachment (the purity of the soul itself). The Buddhist idea of faith is the same Sammādiṭṭhi suggests an article of faith which consists in the acceptance of the belief that there is such as thing as gift etc. (*Majjhima*, I., 285 ff). Right belief, right knowledge, right conduct, and right austerities, are called the *ārādhanās*.

Right knowledge, faith and conduct are the three essential points in Mahāvīra's teachings which constitute the path leading to the destruction of *karma* and to perfection.[11] Destruction means the exhaustion of accumulated effects of action in the past Perfection (*siddhi*) consists in the consciousness of one's liberation, and liberation means the freedom of soul from its bondage.

The main system of Jainism came to be represented as *navatattva* or the

10. *Ācārānga-Sūtra*, II, 15.25.
11. *Sūtrakṛtānga*, I, 2.1.21.22.

doctrine of nine terms, e. g., *jīva, ajīva, bandha, puṇya, pāpa, āśrava, samvara, karmakṣaya* and *mokṣa.*[12] The doctrine of *nayas* is just what, is called *syādvāda.* The *nayas* are no other than the seven **modes of** *syādvāda.* Syādvāda consists of seven view-points from which assertions are made as to truth According to this doctrine there are seven forms of metaphysical propositions and all contain the word *syāt*, e g., *syād asti sarvam, syād nāsti sarvam.* Syāt really means 'may be' and it is explained as *kathamcit* (somehow)[13] The *syād* mode was the real way of escape from the position of the dogmatist and that of the sceptic from both of which Mahāvīra recoiled

Kriyāvāda is nothing but Karmavāda or the doctrine of action[14] Buddhism also was promulgated as a form of *kriyāvāda* or *karmavāda* In Jainism *kriyāvāda* is sharply distinguished from *akriyāvāda* (doctrine of non-action), *ajñāṇavāda* (scepticism) and *vinayavāda* (formalism). In order to arrive at a correct understanding of the doctrinal significance of *kriyāvāda* in Jainism it is necessary not only to see how it has been distinguished from *akriyāvāda, ajñānavāda* and *vinayavāda* but also from other types of *kriyāvāda* *Vinayavāda* is the same as *sīlabbataparāmāsa* of the Buddhists. It is a view of those who maintain that the purity of oneself may be reached through the observance of certain moral precepts or by keeping certain vows as prescribed. The upholders of *Vinayavāda* assert that the goal of religious life is realised by conformation to the rules of discipline[15] The painful condition of the self is brought about by one's own action. Pleasure and pain are brought about by one's own action[16] Individually a man is born, individually he dies, individually he falls from this state of existence and individually he rises His passions, consciousness, intellect, perceptions and impressions belong to the individual exclusively.[17] All living beings owe their present form of existence to their own *karma.* The sinners cannot annihilate works by new works, the pious annihilate their works by abstention from works[18] Pleasant things are not produced from pleasant things

Jīva and *ajīva* comprehend the world of existence as known and experienced. The category of *jīva* denotes the biological and psychological aspects of *kriyā* Substance (*dabba*) attribute (*guna*) field of action (*khetta*), time (*kāla*), causal relation (*paryāya*, Pali *paccaya*; Prakrit *pajjava*), division (*padesa*) and transformation (*pariṇāma*) are the cate-

12. *Uttarādhyayana Sūtra*, XXVIII, 14
13. Hastings, *Encyclopaedia of Religion and Ethics*, Vol. 7, p 468
14. *Sūtrakṛtānga*, I, 12 21. 15. *Ibid* , I, 12-4
16. *Anguttara Nikāya*, III, p 440. 17 *Sūtrakṛtānga*, II, 1 41.
18. *Ibid.*, 1, 12.15

leśyās,[21] the six kinds of bodies and the six regular functions as eating, will not be subject to transmigration. He who always exerts himself with regard to the seven rules of accepting alms and the seven causes of danger to others, will not be subject to transmigration He who always exerts himself with regard to the eight objects of pride and the ten-fold law of the monks, will not be subject to transmigration. The eight objects of pride are · caste, family beauty, etc.[22]

By teaching of true knowledge by the avoidance of ignorance and delusion, and by the destruction of love and hatred one arrives at deliverance which is nothing but bliss.

The *leśyās* are named in the following order · black, blue, grey, red, yellow and white They are different conditions produced in the soul by the influence of different *karma* The Buddhist idea of mental contamination by the influx of impurities from outside seems to have some bearing on the Jain doctrine of six *leśyās*.

(J R. A. S., xiii, no I p 8). (B C. Law, *Principles of Jainism*)

The correct behaviour of monks consists in the following :—*āvaśyikā*— it is required when a monk leaves the room on an urgent business; *naisedhiki* or asking permission to enter a place, *āpricchanā* or asking the superior's permission for what he is to do himself, *pratipricchanā* or asking permission for what somebody else is to do, *chandanā* or placing at the disposal of other monks the things one has got, *icchākāra* or carrying out one's own intention, *mithyākāra* or blaming oneself for sins committed; *tathākāra* or assenting to make a promise *abhyutthāna* or rising up from one's own seat as a mark of respect, and *upasampad* or placing oneself under another teacher.[23]

A worthy Jain monk is to observe rules stricity like a Buddhist monk. He should have no intercourse with women He should never keep company with the wicked. He should not say that this is meritorious and this is not meritorious. He should not cherish vanity and make his monkhood a means of sustenance. He should be free from anger, pride, deceit and greed. He should be calm and happy. He should abstain himself from life-slaughter and from five cardinal sins. He should guard himself with regard to thoughts, words and acts. These are some of the rules but there are many more.[24] The Jain rules of conduct and decorum, agreeing in their

---

21. Lesya is said to be that by means of which the soul is tinted with merit and demerit. It arises from *yoga* or *kaṣāyo*.

22. Cf. *Sūtrakṛtāṅga*, II. 2.17.

23. *Uttarādhyāyana*, XXVI.

24. For details, vide *JRAS*, Vol. XIII, No. 1, pp. 13 ff.

assential features with the Buddhist rules, were broadbased upon careful considerations and keen observations.[25]

Jainism is not atheistic. Its so-called atheism is neither apologetic nor polemical but is accepted as a natural religious attitude [26] The path to the realm of highest bliss lies through abstinence from killing, theft, adultery, lying and such austere penances as nudity, confession. etc.[27] These five modes of self-restraint correspond to the five great vows of Mahāvīra (*pancamahāvvaya*) as rightly pointed out by Dr. Barua.[28] Jainism has many distinctive characteristics of its own and historically it occupies a place midway between Brahmanism and Buddhism. It cherishes a theory of soul as an active principle in contradistinction to the *Vedanta* or *Śamkhya* doctrine of soul as a passive principle. The Jain notion of *karma* is physical while the Buddhist idea of the same is psycho-ethical. In Jainism rebirth takes place by way of transmigration of soul. Buddhism rejects the theory of transmigration. In Jainism soul is vitally interested in our action. As a substance it does not undergo any change. Yoga practice is equally important. In Jainism as in Buddhism the bodily functions cease in the process of *Yoga* after the vocal and the mental after the physical. Like the Sāmkhya doctrine Jainism stands for a dualistic conception of soul and matter and it differs from Vedānta in this respect. The Jain dualism may be explained as a pluralistic doctrine like the realism of the Vaiśesika system. Jainism maintains a hylozoistic notion of nature in which all compound things are different forms of life in varying stages of evolution. The Jain motto of life is ascetic or stoic. The path to happiness and progress lies through self-denial, self abnegation and self-mortification.

---

25. Vide B. C. Law, *Buddhist rules of decorum published in the R. K. Mukherjee Volume*, I, pp. 381 ff.
26. Eliot, *Hinduism and Buddhism*, p. 107.
27. Cf. *Samyutia Nikāya*, I, 66.
28. *Pre-Buddhistic Indian philosophy*, p. 379.

'The Jain View of Ahimsā'.

By Syt. Harisatya Bhattacharya, M A., B. L., Ph. D.

[श्री हरिसत्य भट्टाचार्यजीने प्रस्तुत लेखमें जैन दृष्टिसे अहिंसाका विवेचन किया हैं। उन्होंने लिखा है कि कषायपूर्वक द्रव्य या भाव प्राणोंका व्यपरोपण करना हिंसा हैं। कषायही कार्यको हिंसामय अथवा अहिंसामय बनानेमें कारणभूत है। कषाय वासनामय उत्तेजन है (जो आत्म-स्वभावको ढकती है) वह मान, माया, लोभ, क्रोधरूप हैं। यहभी प्रत्येक तरतम, तीव्र, मन्द, मन्दतम है जो क्रमश. अनन्तानुबन्धी, प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान और सज्वलन कहलाते है। कषायके अतिरिक्त नोकषायभी वासनामय-उत्तेजनायेंभी हिंसामें कारणभूत है। वे राग, द्वेष, मोह, काम, हास्य, भय, शोक, जुगुप्सा और प्रमाद-कुल नौ है। सोलह प्रकारके कषाय और नौ नोकषाय, इस प्रकार कुल २५ वासना वर्द्धक उत्तेजनायें है। इनमेंसे किसीभी वासना उत्तेजनाके वशवर्ती होकरही मानव हिंसा कर्म करता है। इनके आधारसे हिंसा-अहिंसाको विविध भावभङ्गिया जैनोने निर्धारित की हैं। ऐसे कर्मभी हो सकते है जिनमें द्रव्य हिसा न होते हुएभी हिंसाका दोष व्यक्तिको लग सकता है और ऐसेभी कर्म है जिनमें हिंसा हो जानेपरभी व्यक्तिको उसका दोषी नहीं कहा जा सकता। भावोंपरही हिंसा और अहिंसा का होना अवलवित है। कषाय यदि विद्यमान है तो वह कर्म हिंसामय है। कषायका अभाव अहिंसामय है। इस वैज्ञानिक विधिविधानसे जैन अहिसा सिद्धातकी भाव-भीङ्गयोंकी तुलना दड विधानके अपराधोंसे की जाना सुगम है। बुरे उद्देशसे जोभी कार्य किये जाते है और जिनसे दूसरे को क्षति पहुचे तो दड विधानमें वह अपराध गिना जायगा और नैतिक धर्म की दृष्टिमें वह पापाचार होगा। किसी दुर्भाग्यसे सकल्पपूर्वक जो कार्य नहीं किया गया, वल्कि जो आकस्मिक है वह न अपराध है और न पाप? एक रोगी उस दवाके देनेपरभी मर जाता है जिसको डॉक्टरने सावधानीसे उसके लिये हितकर जानकर दी, तो डॉक्टर उसके मृत्युका अपराधी या पापी नहीं कहा जा सकता। यदि प्रमाद नोकषाय होती तो डाक्टरको दोषी कह सकते थे। किन्तु कानून और नैतिक धर्माचारमें अन्तर है। चारित्र धर्ममें तो कषायका सद्भावही पापमय है, परतु कानूनमें वह कोई अपराध नहीं। जैनोंकी अविरति (अविरमण) हिंसाके लिये दंड विधानमें कोई स्थान नहीं है वल्कि परिणमन हिंसा, जिसमें द्रव्यहिंसा अवश्यम्भावी है, को ही दडविधान स्वीकार करता है। जैन दृष्टिसे भावके आधारपर व्यक्तिके कर्मको शुभाशुभमें परिगणित किया जा सकता है। हेमलेट नाटकमें हत्याके प्रसगमे हत्यारा कहता है कि जब उसका विपक्षी भगवानका भजन करता होगा, तब वह उसका प्राणात करेगा जिससे उसे स्वर्गसुख मिले। स्वर्गसुख दिलानेकी बात हत्याके दोषको मिटा नहीं सकती। जैन मान्यताके अनुसार व्यक्तिके स्वकर्मही उसे नर्क-स्वर्गमें पहुंचाते हैं। भगवद्भजनके समयमें मारनेसे व्यक्ति हत्याके दोषसे मुक्त नहीं हो सकता। म० गाधीने दुखी बछडेको करुणासे प्रेरित हो प्राणान्त कर देना विधेय ठहराया, परतु जैनदृष्टिसे तो वह हिंसाकर्म था। जीवको सुखी-दुखी कोईभी वाहरी वस्तु नहीं बनाती। जीवके सचित कर्म उसे सुखी-दुखी बनाते हैं। बछडेको मार देनेसेही वह सुखी नहीं हो सकता, क्योंकि जबतक उसके असाता कर्म उदयमें है तवतक कोईभी उसे सुखी नहीं बना सकता। जैन पशुयज्ञ हिंसाकेभी विरोधी हैं और भोजनके लिएभी हिंसाका निषेध करते है। जैन मुनिही अहिंसाका पूर्णांशोमें पालन करते है। गृहस्थ जन उसको आंशिक (अणुव्रत) रूपमें पालते है। —का॰ प्र॰]

'Ahimsā' is opposed to 'Himsā'. Himsā or violence is wounding life in either of its two forms, through 'Kasāya'. This definition of 'Himsā' requires careful analysis and a correct understanding of its nature is essential to the true conception of 'Ahimsā' or non-violence. 'Prāna' or life, according to the Jainas, is either the 'Bhāva-Prāna', i. e., the inner and the subjective self consisting in the conscious state in its utmost purity or the 'Dravya Prāna' i e., the outer and the objective modes and organs through which the inner self expresses itself. 'Himsā' or violence is committed when the inner self of a being or the outward vehicle of the expression e. g. the body is in any way hurt. It is to be observed that in order that 'Himsā' may be committed, the wound in the inner self or in its outward vehicle, the body, must be committed through 'Kasāya.'

What is 'Kaṣāya'? 'Kasāya' consists in a passionate excitation and is of four modes viz., 'Māna' (Pride), 'Krodha' (Rage), Māyā (Deceitfulness) and 'Lobha' (Avarice). Each of these passions may be of four degree of strength and duration. The first and the most inieradicable form of a passion is called the Anantānubandhī In this form a passion is as permanent as a line cut on a stone. Less strong is a passion in its Pratyakhyāna form, in which it is likened to a line on earth The third form of a passion on the descending scale of duration is the 'Apratyākhyāna' in which it is removable like a line drawn on dust. The fourth state of a passion is called the Samjvalana, in which it is only a passing phase of the mind, as evanascent as a line made on water.

Besides the four Kasāyas mentioned above, there are other modes of excitation which are called the No-Kaṣāyas and are nine in number. These are (1) Rāga, a feeling of attachment, (2) Dvesh, a feeling of aversion, (3) Moha, a feeling of infatuation, (4) Kāma, a craving for sexual union, (5) Hāsya, a feeling expressing itself in laughter, (6) Bhaya, a feeling of fear, (7) Shoka, a feeling of grief, (8) Jugupsā, a feeling of hatred (? abhorrance) and (9) Pramāda, a mistaken attitude shunning what is really good. These nine No-Kasāyas added to the four 'Kasāyas' with their sixteen modes make passions twenty-five in number.

Violence is comitted when owing to the rise of any of the above-mentioned passions, one's conscious state or body is adversely affected. Various interesting corollaries are drawn by the Jains from the foregoing definition of Himsā. They state that there may be cases of Himsā where no actual bodily violence is committted, whereas there may be cases also where although actual bodily violence is committed, no Himsā is committed. For instance, if a man be strictly pure at heart and in conduct and yet if he commits hurt through accident, he is not guilty of violence. On the other hand, if a man is full of passions and his movements are careless, he is guilty of violence, even though no actual hurt is committed to anybody. In the first case there being no Kaṣāya or passsionate excitation in the heart,

there is no Himsā although an actual hurt is committed, while in the latter case, though there is no actual hurt there is Himsā as the heart is impure. The *sine qua non* of Himsā, therefore, is the presence of Kasāya. This leads the Jain Moralists to recognise four modes of Violence. In the first mode of Himsā, there is passionate excitation in the mind, the words or the body of a man. Such presence of Kasāya is nevertheless Himsā, as thereby the 'Bhāva Prāna' or the tranquility of the man's soul is hurt. When owing to the extreme strongness of the passions, the man makes violent movements of his limbs or even kills himself he commits the second mode of Himsā which consists in hurting one's own 'Dravya-Prānā.' The third mode of violence consists in giving pain to another man's heart by derisive laughter, by show of force or use of hard words etc.,—hurting thereby the 'Bhāva-Prāna' or the subjective state of that man When, however, the man blinded by the fervour of his passions actually causes hurt to the body of another man, he commits the fourth mode of Himsā, whereby the 'Dravya-Prāna' or the gross material body of the other man is adversely affected. It would be seen that in all these forms of 'Himsā' Kasāya or passionate excitation is there and along with that and as a result of that, some sort of violence or disturbance of the tranquil state or order, either of the mind or of the body, either of the author or of the victim (person other than the author) of the passions

The presence of passionate excitation in the mind being the characteristic of Himsā, a comparison of an immoral act with a crime, as defined in the penal code may be conveniently made here It will scarcely be said that all acts which are prompted by evil motives and end in injury to others, are crimes in the eye of law as well as immoral acts according to all ethical judgment. A non-intentional and purely accidental act of violence is neither a crime nor a sin A patient dies on account of some medicine administered to him by the doctor with the best of his intentions and selected as the true medicine with the best of knowledge Here the doctor is guilty of no crime and his act is not bad from the moral stand-point also. If, however, he was careless about the selection of the medicine or about its proper dose, his act is immoral because the No-Kasāya of Pramād, tainted his heart and prompted his action His act is a crime also, because he failed to act with the ordinary intelligence or the deligence of a prudent doctor. In the next case the act of a man who abets the commission of a crime is a crime, from the moral stand-point also, the act of an abettor is sinful. Thirdly the attempt of a man to do some crime though not successful has been held in some cases to be criminal in the eye of law. Morally also, such an act is sinful, because the motive of the man is tainted with Kasāya.

The lists of criminal acts and moral acts, however, are not parallel. The latter has within its scope, many acts and matters which are beyond the

purview of the former. From the moral stand-point, the mere having of a Kasāya and all acts without exception, prompted by it, are sinful. The penal code, however, does not judge a mere intention, unless and until it is followed by an overt act. Then again, all acts prompted by improper motives are not criminal. Some are trivial, some do not cause injury to others' persons or property; these are beyond the scope of the penal code, although they are impure acts according to the moral standard.

In fact, the great point of distinction between a moral judgment and an estimate of the criminality or otherwise of an act, is that while the former is mainly and primarily concerned with the motive and the intention of the agent, the latter considers the ,overt act. True it is that the moral judgment does not lose sight of the overt acts; but its business is to consider the innerself; it passes judgment upon it; and it shows how much the subjective spirit of the man is uplifted or lowered by the motive and the intention. The penal code on the contrary considers the overt act, it looks to the motive of the man, just to estimate the nature of the act and it decides how in consideration of the act he has committed, the man's relations to his society, his surroundings, the State, are to be re-adjusted.

All criminal acts are immoral but all acts, bad from the moral stand-point need not be criminal. We have seen, how having a Kasāya lowers the spiritual nature of a man; it is morally bad, but it is not a crime to have the Kasāya e. g of Śoka or grief. So far as injury to others is concerned, it is to be seen that until and unless an actual injury to others' persons or property is caused, the criminal court will punish a man for merely harbouring an ill-will against his neighbours. But ill-will against others is itself immoral, according to the moral judgment. The Jain Moralists point this out by referring to the two modes of Himsā, so far as other persons are concerned. The first is Abiraman or Abirati and the other is Parinamana In the case of the former, one is not guilty of actually hurting another but continues in cherishing ill-will against him; while in the Parinamana mode of Himsā one actually wounds another. The penal code takes cognisance or the Parinamana of Himsā but not the Abirati. According to the Jain moral philosophy. Abiramana is as bad as Parinamana in as much as both are based on Kasāya or passion.

From the foregoing, it is not to be supposed that the subjective aspect of Ahimsā is all in all and that an act is to be considered moral, provided there is no ill-will behind it. The Jain philosophers point out that there may be acts which may not proceed from any selfish or active ill-will against others but yet may be bad acts as they are actuated by improper motives. In other words, motives are to be subjected to a thorough and searching examination. One, for example, may honestly believe like Hamlet.

" Now might I do it pat, now he is praying;
And now I will do it And so he goes to heaven".

Unlike Hamlet, he may not be prevented by any counter consideration and with the sole intention of sending the man to heaven, he kills him while he is devoutly praying. Would the act of murder be meritorious because the intention behind it is faultless? An imphatic "No" is the answer of the Jain moralists A prayerful man will reap the fruits of his actions sooner or later, but why should you soil your hands with his blood? Killing in any form, out of any motive, whatsoever is reprehensible.

The great apostle of Ahimsā in modern India killed a calf just to terminate its miseries, it had an incurable disease and was suffering from a terrible pain. Now, was his act morally justifiable? Actually, there was a great controversy upon the matter So far as the Jaina moralists are concerned, they would condemn the act unreservedly A being suffers as a result of his past actions. You cannot put an end to his miseries abruptly killing him. If the effects of his actions are not exhausted, he is still to suffer in his, re-incarnation. Then, why should you kill him?

It is generally accepted as a proposition of unchallengeable force that killing of ferocious animals which kill numerous creatures daily and are a source of perpetual awe, is morally justifiable. The Jains contend on the contrary that past Karmas make creatures suffer. You should believe this firmly. No doubt you should try to alleviate their miseries as much as possible but you should not kill any living being, even though it is ferocious.

Ancient Indian culture is loud in praising the act of the legendary king Śibi, who is reported to have cut the flesh of his own body in order to feed a hungry and voracious bird The Jain moralists, however, condemn such acts. Their grounds are (1) A carnivorous animal is not the proper guest for charity, (2) to make a gift of flesh is irreligious, and lastly (3) to kill or give pain to one's own self is morally bad.

It is well-known that the Jains condemned the practice of the followers of the Vedic School, of killing animals at the altar to please the gods. They condemned also the practice of killing animals for the dishes of Atithis or guests. The Jains criticised the arguements of those people who thought, it was better to kill one big animal instead of killing a number of small animals.

It cannot be denied that one may sometimes feel difficulty in wandering through the intricacies of the Jain arguments about the absolute refraining from the killing of animals. One may ask: If giving pain to one's ownself (to wit body) is Hiṃsā, how is it that the Jain scriptures recommend various

fasts and privations? If killing, in any form of even ferocious creatures, for example is reprehensible, how is it that wars are sometimes justified in the Jaina scriptures themselves? Lastly if one is to see that he is not to do any act, however, good it may be, if it involves the killing, intentional or non-intentional, of even a minutest animal how can the constructions of temples or Rest houses or hospitals be undertaken, which are admittedly highly moral acts but which nevertheless involves the killing of numerous sentinent beings? In all these cases, the doctrine of the strict adherence to the moral principle of non-violence seem to be relaxed to a certain extent and a different moral standard set up and kept in view.*

What then is the place of Ahimsa in the Jain moral philosophy?

We think, with the Jains, non-violence is generally the moral standard by which we are to judge our acts. It may be that here are cases in which, circmstanced as we are, the strict adherence to absolute Ahimsā may be impossibie for us, but that is no reason why the standard of Ahimsā should be criticised as defective. An act is to be morally judged by the measure in which it conforms to the principle of non-violence. The Jaina arguments for the forbearance from killing a suffering creature or a ferocious animal may not sound as conclusive to some people but they are undoubtedly illustrative. These arguments, show, in other words, that in order that your acts may not be sinful you are always to look to the principle of Ahimsā,—to see that your acts are not in any way violent. Small violences unintentional and regretted, may be often unavoidable but Ahimsā is the absolute standard of all moral acts and a morally disposed man is never to lose sight of it. In all his acts, he is to begin, to continue and to end by asking: Is my act strictly non-violent? Was I non-violent in my thoughts, words and manners of working? If yes,—the act is all right If not, it is morally bad, at least to some extent,—no matter that it is otherwise justifiable or commendable on other considerations.

A very good illustration of the fact that with the Jains, non-violence is the absolute moral standard, a supreme principle, in light of which all acts are to be morally judged, is afforded by the reasons which they put forward for abstaining from the enjoyment of the four things viz, wine, meat, honey and the five kinds of Udamvara (fig) fruits. All moralists inculcate on the avoidance of intoxicating liquor; because it lowers the spiritual nature of man or 'unmans' him, so to say. The Jains, however, would bring in the

* Here the learned writer seems to have overlooked the Ahimsā vow of a layman and that of an ascetic. The ascetic only observes the full Ahimsā. Battles in self-defence and construction of Temples are the works of a layman only. Even layman would try his best to minimiae Himsā and avoid intentional one altogether. Penance is not observed to cause injury to one self. No Kaṣāya stands in it. Hence no Hiṃsā. —GENERAL EDITOR.

principle of Ahimsā and in light of that principle would explain why wine should be avoided. They would say: Wine stupifies a man and a stupified man is prone to commit acts of violence; secondly, they would point out that in wine there abide numerous tiny animal cubs, so that a man drinking wine is guilty of killing innumerable creatures; thirdly a drunken man's heart becomes full of pride, anger, greed and other violent feelings. Intoxication is thus immoral because it is opposed to the practice of Ahimsā. In the case of meat, similarly, the Jains, would prohibit its eating, on the ground that it goes against the practice of nonviolence. One cannot get meat without killing an animal. It is well-known that the Buddhists also felt the force of this argument and were averse to killing animals for their food. They, however, had no objection to eating meat, provided the animal died of itself and was not designedly killed for the purpose of the dish The Jains, however, point out that innumerable animal cubs live in the joints and other parts of an animal's body; various other small creatures are generated in various parts of the body of the animal, as soon as it dies Accordingly killing of innumerable animal cubs and consequent violence is involved in the eating of meat, even though the animnl died of itself In the case of honey, the Jains say that you cannot get honey from a bee-hive without killing or maiming the bees. In honey, again, there live innumerable invisible creatures. The Jains contend accordingly that the drinking of honey is against the practice of strict non-violence The fig fruits are similarly said to be the abodes of numerous tiny creatures, so that one is bound to kill them, who eats the fig-fruits Eating of fig-fruit thus opposes the practice of Ahimsā. All acts which are condemned in the Jain scriptures are thus shown to be bad, for the reason that they go against the principle of non-violence Reasoning may appear to be strained in some cases but the vitimince with which the Jains apply the standard of Ahimsā, even in those cases, shows that Ahimsā or non-violence is with them the supreme moral standard, which should be the measure of all our moral acts.

जैन साहित्य और कला !

मथुरा कंकाली टीलासे प्राप्त कलापूर्ण आयागपट्ट !

(कुशन–काल)

JAINA LITERATURE AND ART.

❀ ❀ ❀

“ सवही विषयके शास्त्र थे शोभित यहां भंडारमे,
नहि अन्य उनकी जोडके थे ग्रन्थ इस संसारमें ।
निज २ विषयमे एकसे बढ कर यहां पर ग्रन्थ थे,
पढ कर उन्हे मानव सदाही देखते निज पन्थथे ॥ ”

—जैन भारती ।

“ As with everything else in life, the Jainas appear to have carried their spirit of acute analysis and asceticism into the sphere of art and architecture as well. ”

*   *   *   *

“ ...... the Jainas distinguished themselves by their decorative sculpture, and attained a considerable degree of excellence in the perfection of their pillared chambers which were their favourite form of architecture. ”

— PROF. S. R. SHARMA.

जैन-विद्या।

(ले० श्री० डॉ० **वासुदेव शरण** अग्रवाल, एम. ए., डी. लिट्., नई दिल्ली)

जैन-साहित्य और कलाकी सामग्रीके आधारपर भारतीय संस्कृति और इतिहासकी सामग्रीका उद्धार जैन-विद्याका क्षेत्र एव ध्येय होना चाहिये। पश्चिमी विद्वानोंने लगभग सौ वर्ष पहले बौद्ध साहित्यके उद्धार और प्रकाशनकी ओर ध्यान दिया। उसी सिलसिलेमें बौद्ध धर्म सम्बन्धी कला-सामग्री काभी प्रकाशन और अध्ययन शुरू हुआ। उससे भारतीय इतिहास और संस्कृतिके बहुतसे नये पर्दे खुल गए। बौद्ध-विद्याका साहित्य अब इतना बढ गया है कि उससे एक जन्ममें पार पाना मुश्किल है। उस साहित्यके छिपे हुए अनमोल ग्रन्थ चीन, बर्मा, सिहल, स्याम, तिब्बत, काश्मीर, मध्यएशिया आदि देशोंसे प्राप्त हुए हैं। सुदूर मगोलिया, कोरिया, जापाननेभी बौद्ध साहित्यके पुन-रुद्धारमें अपनी भेंट चढाई है। बौद्धकलाकी सामग्री भी खोजते-खोजते एशिया-भूखडके बहुत बडे भागमें छाई हुई मिली है। बौद्ध-विद्याकी अनेक छोटी बडी धाराओने मिलकर भारतीय संस्कृतिकी महागंगाका जी खोलकर विस्तार किया है। भारतकी संस्कृति अपने इस रूप-संपादनसे आज बहुत कुछ जगमगा उठी है।

कर्तव्य कर्मका कुछ-कुछ वैसाही उद्देश्य और मार्ग जैन-विद्याके आगेभी बिछा हुआ है। जैन-विद्याका भविष्य महान् है। भारतीय संस्कृतिको उसकी देन बहुत बडी थी। भविष्यमें भारतीय सस्कृतिकी जानकारी जैन साहित्य और कलाकी सामग्रीसे कितनी बढाई जा सकती है इस प्रश्नके ठीक-ठीक उत्तरपरही जैन विद्याकी आनेवाली सफलता निर्भर करती है। बुद्धके समकालीन महावीरके समयसेही जैन साहित्यका आरम्भ माना जा सकता है। कहते हैं कि पाटलिपुत्रकी वाचना, माथुरी वाचना और वलभीकी वाचनामे जैन धार्मिक साहित्य या आगम साहित्यका रूप क्रमशः निश्चित हुआ[1] अर्ध मागधीके मूल आगम साहित्यके अतिरिक्त बौद्धोंकी अट्ठ कथाओंकी तरह जैनोंमेंभी धार्मिक ग्रन्थो-पर बहुतसीही विस्तृत चूर्णियों और टीकाओका निर्माण एक हजार वर्षोंके लम्बे समय तक पहले प्राकृत और फिर सस्कृत भाषामे होता रहा। जिस जिस कालमे यह साहित्य बना उस-उस समयका सांस्कृतिक चित्र उस साहित्यमें अनायासही समाविष्ट हो गया है। भूगोल, सस्कृति, सामाजिक रहन सहनके हर पहलू पर जैन 'साहित्य' प्रकाशकी नई किरणें फैलाता है। रायपसेनियसूत्रमें बडे विस्तारसे एक देवविमान और स्तूपकी रचनाका वर्णन किया गया है। ऐसा जान पडता है जैसे लेखकने सांची-मथुराके स्तूपोका, उनकी वेदिकाओ और तोरणोंका आंखों देखा वर्णन किया हो। साहित्य और कला दोनो एक दूसरेका रूप उजागर करते जान पडते हैं। प्राचीन स्तूपके सांगोपाग वर्णनकी ऐसी बढिया सामग्री भारतीय साहित्यमें अन्यत्र कहीं नहीं है। इसी ग्रन्थमे प्राचीन नाट्य-विषय परभी अनमोल मसाला है। महावीरके जीवन-चरितको नृत्य प्रधान नाट्य (डांस—ड्रामा) में

१. यह श्वेताम्बर जैन साहित्य था। दिगम्बर मान्यताके अनुसार आगम ग्रन्थ पूर्णरूपमें अनुपलब्ध है। —का० प्र०

कैसे उतारा गया और उसके साथ नृत्यके कितने भिन्न-भिन्न रूपोंका प्रदर्शन किया गया, इसको पढते-पढते ऐसा लगता है मानों हम प्राचीन भारतके किसी प्रेक्षागारमे जा बैठे हो जहा चाक्षुष यज्ञके रूपमे नाटकका विस्तार हो रहा हो और जिसमें कलाके अनेक चिन्होंको नृत्यके रूपमें उतारा जा रहा हो। एकसौ आठ देवकुमार-देवकुमारिया सूर्याभ देवकी आज्ञासे बत्तीस प्रकारकी नाट्य विधि (बत्तीसइ—बद्ध णट्ट विहि) का प्रदर्शन करती हैं। इसके अन्तके कार्यक्रममे केवल महावीरके जन्म, अभिषेक, बालभाव, यौवन, कामभोग, निष्क्रमण, तपश्चरण, ज्ञानोत्पत्ति, तीर्थ-प्रवर्तन और परिनिर्वाणका अभिनय किया गया। शेष इकत्तीस प्रविभक्तियोंमे प्राचीन भारतीय गीतवाद्य नाट्यका उदार प्रदर्शन सम्मिलित था। उदाहरणके लिये पहले विभागमे स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्द्या-वर्त, वर्धमानक, भद्रासन, कलश, मत्स्ययुग्म, दर्पण इन आठ मांगलिक चिन्होंका आकार-अभिनय दिखाया गया जिसे मगल भक्तिचित्र कहते थे। इसमे नाट्यविधिसे इन वस्तुओका स्वरूप प्रतिपादन प्रेक्षकजन समूहके सम्मुख किया जाता था। दूसरे भक्तिचित्रमे आवर्त प्रत्यावर्त, श्रेणि-प्रश्रेणि, स्वस्तिक, पुष्पमाणावक, वर्धमानक, मत्स्याण्डक, मकराण्डक, पुष्पावलि, पद्मपत्र, सागरतरग, वासन्ती-लता, पद्मलता आदि अभिप्रायोका नाट्यके द्वारा रूप खडा किया गया। श्रेणि-प्रश्रेणिको प्राकृतमें सेढि-पसेढि कहा गया है। नृत्यमे सेढि या सीढीकी रचना किस प्रकारकी होती होगी इसका एक उदाहरण भरहुतसे मिले हुए एक शिलापट्टके दृश्यमें पाया जाता है, इस समय वह इलाहाबाद सग्रहालयमें है। इसमें एक प्रस्तार (पिरेमिड) का निर्माण किया गया है, नीचेकी पक्तिमे आठ अभिनेता हाथोको कन्धोके ऊपर ऊठाए हुए खडे हैं, दूसरी पक्तिमे चार व्यक्ति हैं, जिनमेसे हरएकके पैर नीचेवाले दो व्यक्तियोके हाथो पर रुके हैं, तीसरी पक्तिमे दो व्यक्ति हैं और सबसे ऊपर केवल एक पुरुष उसी प्रकार अपने हाथ ऊचा किये हुए खडा है। नाट्यके ये प्रकार विशाल भारतीय जीवनके अग थे, जैन बौद्ध हिन्दूकी धार्मिक परिचिया उनके साथ नत्थी नहीं की जा सकती। तभी तो यह सम्भव है कि वस्तुका नामोल्लेख जैन साहित्यमे मिले और उसका कलागत चित्रण बौद्ध स्तूपमें प्राप्त हो। बत्तीसी नाट्यविधिकी तीसरे भक्तिचित्रमें ईहामृग, ऋषभ, तुरग, नर, मकर, विहग, व्याल, किन्नर, रुरु, शरभ, चमर, कुजर, वनलता, पद्मलताका रूपविधान अभिनयमें उतारा गया। चौथी भक्ति (अग्रेजी मोटिफ) मे तरह-तरहके चक्रवाल या मडलोंका अभिनय किया गया। मथुराके जैन स्तूपसे प्राप्त आयागपट्टोपर इस प्रकारके चक्रवाल बने हुए मिले हैं जिनमें दिक्कुमा-रिया मडलाकार नृत्य करतीं हुईं दिखाई गई हैं। इस देशमे साहित्य और कला सदा हाथमे हाथ मिला कर पग रखते रहे हैं। प्रत्येक युगमे वे एक दूसरेकी व्याख्या करते हुए पाए जाँयगे। पांचवी आवलि प्रविभक्तिमे चन्द्रावली, सूर्यावली, वलयावली, हसावली, एकावली, तारावली, मुक्तावली, कनकावली, रत्नावली—इन स्वरूपोका चित्र प्रतिपादन किया गया। छटी विभ-क्तीमें सूर्योदय और चद्रोदयके बहुरूपी उद्गमनोद्गमनोंका चित्रण किया गया। भारतीय आकाशमे सूर्य और चन्द्रका उगना प्रकृतिकी अति रमणीय घटनाऐं हैं, जिनके दर्शनके लिये मनुष्यही 'क्या देवोके नेत्रभी ललचौहे बन सकते हैं। कवि और साहित्यकार अनेक ललित कल्पनाओके भाव सुन्दर शब्दावलीका उपहार इनके लिये अर्पित करते रहे हैं। अपने सूर्यो-

द्गम और चन्द्रोद्गमके अपरिमित सौन्दर्यको हमें जीवनकी भागदौडमें भूल न जाना चाहिए। बत्तीसी नाट्यविधिको जन्म देनेवाले नाट्याचार्योंके मन उसकी ओरसे अवश्य जागरूक थे। विशाल गगनांगणमे सोनेके रथ पर बैठे हुए उषःकालीन सूर्य समस्त भुवनको आलोक और चैतन्यके नवीन मंगलसे प्रतिदिन भर देते हैं; कितने पक्षी अपने कलरवसे उनका स्वागत करते है, कितने पुष्प उनके दर्शनके लिये अपने नेत्र उघाडते है, कितने चराचर जीव उनकी प्रेरणासे जीवनके सहस्रमुखी व्यापारोंमें प्रवृत्त हो उठते है—इसकी कल्पना सूर्योद्गमके नाट्याभिनयमें मूर्तिमती हो उठती थी। चन्द्रसूर्यके आकाशमें उगने, चढने, ढलने और छिपनेका पूरा कौतुक नृत्यमे उतारा जाता था। इन्हें क्रमशः उद्गमनप्रविभक्ति, आगमनप्रविभक्ति, आवरणप्रविभाक्ति और अस्तमयनप्रविभक्ति नाट्यबिधि कहा गया है। तदनन्तर चन्द्रमंडल, सूर्यमडल, नागमडल, यक्षमडल, भूतमडल प्रविभक्तिका अभिनय हुआ। ग्याहरवें स्थान पर ऋषभ ललित, सिंह ललित, हयविलम्बित, गजविलम्बित, हयविलसित, गजविलसित, मत्तहयविलसित, मत्तगजविलसित, मत्तहयविलम्बित, मत्तगजविलम्बित आदि आकृतियोसे सुशोभित द्रुतविलम्बित नामक नाट्यविधिका. प्रदर्शन किया गया। पुनः सागर-नागर प्रविभाक्ति, नंदा-चम्पा प्रविभाक्ति, मत्स्याडक-मकरांडक प्रविभाक्तिका अभिनय हुआ। इनमेसे अधिकाश नामोका यथार्थ स्वरूप इस समय स्पष्ट नहीं होता परन्तु सम्भव है विशाल जैन साहित्यके किसी भागमे उनका वर्णन बचा रह गया हो। इसके बाद पाचों वर्गोंके पच्चीस वर्णोंका नृत्यमे रूपाचित्रण किया गया। इसे वर्गक्रमसे ककार-खकार गकार-घकार-ङकार प्रविभक्ति आदि कहा गया है। तदनन्तर अशोकपल्लव, आम्रपल्लव, जम्बुपल्लव, कोशाम्बपल्लवकी आकृतियोको नाट्यमे दिखलाया गया। पुनः पद्मलता, नागलता, अशोकलता, चम्पकलता, आम्रलता, वासन्तीलता, वनलता, कुन्दलता, अतिमुक्तकलता, श्यामलता इनके स्वरूपका चित्रण अभिनयके द्वारा किया गया जिसे लताप्रविभक्ति नामक इक्कीसवी नाट्यविधि कहा गया है। इसके अनतर द्रुत, विलम्बित, द्रुतविलम्बित, अचित आदिक दस प्रकारके गति-नृत्योका प्रदर्शन किया गया। अन्तमे मुख्य विपय, अर्थात् महावीरकी जन्मसे निर्वाण पर्यन्तकी लीलाओके अभिनयका प्रदर्शन किया गया। पुनः देवकुमार और देवकुमारियोंने मिलकर बत्तीसिया नाट्यविधिकी परिसमाप्तिकी सूचना देनेके लिये मगलात्मक चार प्रकार के बाजोंको बजाया और चार प्रकारके गानका प्रदर्शन किया। इस प्रकार नृत्य गीत वादित्र और अभिनयके मनोभिराम प्रदर्शनका वह आयोजन सम्पन्न हुआ।

कुछ विस्तारके साथ उद्धृत किए हुए इस प्रकरणसे यह बात निश्चित रूपसे प्रकट हो जाती है कि जैनागम साहित्यमें और उसकी बडी बडी टीकाओमें भारतीय संस्कृतिके उद्घाटनके लिए कितनी बहुमूल्य सामग्री विद्यमान है। अभी तक व्यवस्थित रूपसे इस सामग्रीके अध्ययन, संकलन, विवरण और प्रकाशनकी परिपाटी विद्वानोमें प्रवर्तित नहीं हुई, परन्तु यदि एक वार यह सिलसिला चल पडेगा तो हम देखेंगे कि जैनविद्या भारतीय सस्कृति और इतिहासके लिए कामधेनुकी तरह हमारी आशाओंको पूरा करेगी। रायपसेनिय ग्रन्थके इसी प्रकरणमें प्राचीन भारतीय बाजोंकी लम्बी सूची दी गयी है, जैसे शंख, शंखिका, श्रृंग, खरमुखी, पेया, परिपिरिया (मुहका वाजा),

पशाव, पटह, भम्मा (ढक्का), होरम्मा (महाढक्का), भेरी, झल्लरी, दुन्दुभी, मुरुज, मृदंग, नन्दि मृदंग (एक ओर संकरा एक ओर चौडा मुरुज), आलिग्यक (एक प्रकारका मुरुज), कुस्तुम्ब, गोमुखी, मर्दल (दोनो ओर बराबर मुहवाला), विपंची (तीन तारकी वीणा), वल्लकी, भ्रामरी, षड्भ्रामरी, परिवादिनी, महती, कच्छपी, चित्रवीणा, झझा, नकुल, तूणा, तुम्बवीणा, मुकुन्द (एक प्रकारका मुरुज), हुडुक्का, चिविकी, करटी, डिंडिय, किणित, कडम्ब, दर्दरक, दर्दरिका, कलश, ताल, कास्यताल, रिगीरिसिका, मकरिका, शिशुमारिका, वशी, बाली, परिल्ली। इस सूचीमें जिन बाजोंके नाम आए है उनमेसे प्रत्येकका अपना एक इतिहास होना चाहिए। भारतीय सगीत और बाजो पर काम करनेवाले विद्वान्के लिए यह सामग्री अनमोल कही जा सकती है। भारतीय शिल्प-कलामे इनमेसे अनेक बाजोंका चित्रण आया होगा उनकी पहचान और ब्यौरेबार अध्ययन पूरे शोध निबधका विषय है। फ्रेंच भाषामें मार्शल-डुबुआने अभी हालमे प्राचीन भारतीय बाजो पर बहुतही सुन्दर साचित्र पुस्तक लिखी।[1] उस प्रकार एक ग्रन्थ शीघ्रही हमारी भाषामे प्रस्तुत किया जाना चाहिए।

जैन विद्वानोकी साहित्यिक रचनाओके द्वारा औरभी कई प्रकारकी भारतीय सस्कृतिकी सामग्रीकी रक्षा हुई है। जैन भण्डारोमे बहुतसे अलभ्य ग्रथ सुरक्षित रह गए हैं। पाटन और जेसल-मेरके भण्डारोकी जितनी प्रशसा की जाए कम है। पुरातन प्रबन्ध, विज्ञप्ति-पत्र, ऐतिहासिक-गीत, रास ग्रन्थ, इन सबमें इतिहास-शोधनकी सामग्री मिल सकती है। लेकिन दो दिशाओमे जैन-विद्याके लिए अभीभी अपरिमित क्षेत्र खुला है। इनमेंसे प्रथम तो भिन्न भिन्न विषयो पर जैन विद्वानो-द्वारा लिखे हुये फुटकर ग्रंथ है। इसके अंतर्गत गणित, ज्योतिष, वास्तु आदि विषयोके ग्रन्थ हैं। कभी कभी इस क्षेत्रमे विलक्षण सामग्री उपलब्ध हो जाती है। अभी हालमें अलाऊदीन खिलजीके सम-कालीन उनकी टकसालके अध्यक्ष श्री० ठक्कुर फेरूके ग्रन्थोंका परिचय प्रकाशित हुवा है। ठक्कुर फेरू प्रतिभाशाली लेखक थे। मध्य-कालीन वास्तु-विद्या पर उनका वास्तु-शास्त्र नामक एक ग्रन्थ छप चुका है। लेकिन अभी हालमें पुराने सिक्को पर लिखी हुई द्रव्य-परीक्षा नामक उनकी एक दूसरी पुस्तकका परिचय मिला है। इस पुस्तककी एक प्रतिलिपि श्री० अगरचन्द्रजी नाहटाकी कृपासे हमारे देखनेमे आई। इस पुस्तकमे लगभग आठसौ ईसवीसे लेकर तेरह सौ तकके भारतीय सिक्कोके नाम, तोल और मूल्यका बहुतही प्रामाणिक वर्णन किया गया है। भारतीय-मुद्राशास्त्रके इतिहासमे इस प्रकारकी कोई पुस्तक कभी पहले देखनेमें नहीं आई। ठक्कुर फेरूकी अपने देशवासियोके लिए यह अनुपम देन है और जिस दिन इस ग्रन्थका विस्तृत सचित्र सस्करण प्रकाशित होगा उस दिन हम इस महान लेखककी कृतिके महत्वको समझ पाएगे।

परन्तु इन सबसे बढ कर एक दूसरे क्षेत्रमे जैनविद्याका सर्वोपरि महत्व हमारे सामने आता है और वह है भाषा-शास्त्रके क्षेत्रमें। भारतकी प्रायः सभी प्रान्तीय भाषाओका विकास अपभ्रशसे

---

१ LES Instruments De Musique De L'Inde Ancienne by Claudie Marcel-Dubois

हुआ है। जैन साहित्यमें अपभ्रंश भाषाके ग्रन्थोंके मानो भण्डार भरे है। अभी बीसियो वर्ष तो इस साहित्यको प्रकाशित करनेमें लगेगे। लेकिन जोभी ग्रन्थ छप जाता है वहभी हिन्दी-भाषाकी उत्पत्ति और विकासके लिए बहुतसी नई सामग्री हमारे लिए प्रस्तुत करता है। हिन्दी भाषामें एक एक शब्दकी व्युत्पत्ति खोज निकालनेका बहुत बडा काम अभी शेष है। व्याकरणकी दृष्टिसे वाक्योकी रचना और मुहावरोंके आरम्भका इतिहासभी महत्वपूर्ण है। इसके लिए अपभ्रंश साहित्यसे मिलने-वाली समस्त सामग्रीको तिथि क्रमके अनुसार छांटना होगा और कोश और व्याकरणके लिए उसका उपयोग करना होगा। अभी पूरी तरहसे यह अनुमान लगाना कठिन है कि अपभ्रश साहित्यकी कृपासे हिन्दीका कितना अधिक उपकारसंभव है। यह कहा जा सकता है कि अपने भूत कालसे जीवन, रहन-सहन और भाषाका जो उत्तराधिकार हमें मिला है उस पर अपभ्रंश कालका एक खोल चढा हुआ है। इतिहासकी अपभ्रशकालीन तहमें हमारी भाषा और रहन-सहनके जो सूत्र है उनका उद्घाटन अपनेही विकासको समझनेके लिए अत्यन्त आवश्यक है। आजसे पच्चीस वर्ष पहिले अपभ्रंश साहित्यकी इस बहुमूल्य निधिका किसीको ध्यान या परिचय न था; लेकिन आज तो ऐसा जान पडता है कि हमारे साहित्यके कोठार इस नई सामग्रीके आ जानेसे माला-माल हो गए हैं। हिन्दी जगत्के बहुसख्यक विद्वानोंको और प्रकाशकोको अपने समय, परिश्रम और धनकी शक्ति इस ओर लगानी होगी तब कहीं हम अपभ्रश साहित्यके इस सम्पत्तिको अधिकारमे ला सकेंगे।

बौद्ध साहित्यसे भारतीय संस्कृतिको अपिरमित लाभ हुआ। एक प्रकारसे बौद्ध साहित्यने भारतीय संस्कृतिको विश्वसंस्कृतिके ऊन्चे आसन पर बिठा दिया। जैन साहित्यकी सहायतासेभी भारतीय संस्कृतिको नया प्रकाश प्राप्त होनेकी आशा और सम्भावना है।

'त एव कवयो लोके त एव च विचक्षणाः।
येषां धर्मकथां गत्वं भारती प्रतिपद्यते॥
धर्मानुबंधिनी या स्यात्कविता सैव शस्यते।
शेषा पापास्रवा यैव सुप्रयुक्तापि जायते॥'

—श्री जिनसेनाचार्यः।

सन्त-साहित्य और जैन अपभ्रंश ग्रंथ।

(ले॰ श्री॰ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, एम.ए., शान्तिनिकेतन)

सन् ईसवी की नवीं दसवी शतव्दीके आसपास जो विशिष्ट धर्ममत उत्तर भारतमे प्रचलित हुआ उसका परवर्तीरूप हिंदी साहित्यका निर्गुण मत है। इसके विकास और उद्भवके अध्ययनके लिये अवभी पर्याप्त परिश्रम नहीं किया जाता और न सामग्रीही बहुत अधिक उपलब्ध हो सकी है। इस विषयके अध्ययनके लिये बौद्ध सहजयानी साधकोंकी रचनाए, नाथ और निरञ्जनी सिद्धोके पद और दोहे आदिको तो अब आवश्यक और अपरिहार्य समझा जाने लगा है, लेकिन अवभी उस विशाल जेन साहित्यकी ओर दृष्टि नहीं दी गई हें जिसमें इस विषयके अध्ययनके लिये निश्चयही अनेक ग्रन्थ मिलेंगे। अभी केवल दो तीन पुस्तकें ऐसी प्रकाशित हुई हैं जिनसे इस विद्या पर कुछ प्रकाश पडता है। जोइन्दुका परमात्मप्रकाश और योगसार नामक ग्रन्थ हालही श्री आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय महाशयके सम्पादकत्वमें बवईसे प्रकाशित हुए हें। परमात्मप्रकाशकी हिंदी टीका प॰ दौलतरामने और योगसारका हिंदी अनुवाद प॰ जगदीशचद्र शास्त्रीने किया है। इससे पूर्वही कारजासे डा॰ हीरालाल जैनके सम्पादकत्वमे मुनि रामसिंह विरचित पाहुड दोहा प्रकाशित हो चुका है। इन पुस्तकोंमे उस युगकी तान्त्रिक और शैव रचनाओमे पाई जानेवाली अनेक विशेषताए ज्यो की त्यो पाई जाती हें। बाह्याचारका विरोध, चित्तशुद्धि पर जोर, समाधी भाव, स्वसवेदन आनदकी अनुभूति, अक्षय-निरजन-ज्ञानमय-शिवकी प्राप्ति पर विश्वास आदि बातें इन रचनाओंमेभी पाई जाती हें। उन दिनोंके नाथ पथियोंमें यह प्रसिद्ध सिद्धान्त प्रचलित था कि 'ब्रह्माण्डवर्तियत् किञ्चित्तत्पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा', जिसे परवर्ती कालमें कबीर और नानक आदि सन्त महात्माओंने 'जोइ जोइ अडे; सोई ब्रह्मण्डे' कहा था, उसकाभी आभास इन ग्रन्थोमे मिल जाता है। सहज साधकोंमें शरीरकोही सब सिद्धियोका आश्रय माननेकी जो प्रवृत्ति थी उस पर मृदु कटाक्षभी इनमें मिलता है। इस प्रकार के ग्रन्थ दसवी शताव्दीके आसपास प्रचलित धर्मविश्वासोंके अध्ययनके बहुत महत्वपूर्ण साधन हें। यह सत्य है कि जैन साधकोका 'परमात्मा' नाथ या निरजनी साधकोंके 'परमात्मा' से थोडा भिन्न हें। जैनधर्मके अनुसार प्रत्येक आत्मा परमात्मा हो सकता है, कर्मबधके कारणही वह आत्मा हें। तप और ध्यानके मार्ग पर चल कर वह 'परमात्मा' बन जाता है। ऐसे 'परमात्मा' अनेक हें। नाथपथी, शाक्त सेवक और निरजनी आदि सन्त अद्वैतवादी हें। वे मानते हैं कि ज्ञानप्राप्तिके बाद जब कर्मबध जन्म आवरण मुक्त हो जाता है तो जीव शिवमें मिल जाता हैं। परशुराम कल्प सूत्र १.५ मे कहा गया है कि शरीरके कचुक (आवरण) धारण करने पर शिवही जीव हो जाता है और निष्कचुक होने पर जीवही शिव हो जाता है। परन्तु इससे व्यवहारमें कोई विशेष अन्तर नहीं पडता। साधारण जनता इस पचडेमें नहीं पडना चाहती कि मुक्त

होनेके बाद यह आत्मा अनेक परमात्माओमें से एक होकर बना रहेगा या किसी एकही परमात्मामें विलीन हो जायगा।

परवर्ती कालके हिंदी साहित्यमें जो देवालयों, तीर्थों और शास्त्रोंके पठनकी ओरसे साधक को हटा कर अपनेही भीतर स्थित परमतत्वकी ओर देखनेका बराबर उपदेश दिया गया है वह बहुत सुंदर और सरस ढगसे इन जैन साधकोकी रचनाओमें प्राप्त होता है। मुनि रामसिंह कहते है कि 'देवालयमें पाषाण है, तीर्थमें जल है और पोथियोमें कल्पना-विलासी काव्य है—ये सब नश्वर है। जो फूलता है वह झडनेको वाध्य है, जो झडता है वह नष्ट हो जाता है, इंधन बन जाता है'—

देवलि पाहणु तित्थि जलु,
पुत्थइं सव्वइ कव्वु।
वत्थु जुदीसइ कुसुमियउ
इंधणु होसइ सव्वु।

(पाहुड दोहा, १६१)

'अरे ओ योगी, जिसके हृदयमें वह एक देवता नहीं निवास करता जो जन्म और मरणसे परे है, वह परलोकको कैसे पा सकता है?'

जोइय हियडइ जासु णवि
इक्कु ण णिवसइ देउ।
जन्मम्मरणविवज्जियउ,
किम पावइ परलोउ॥

(वहीं १६४)

जोइन्दु कहते हैं कि देवता न तो देवालयमे है, न शिलामे हैं, न चंदनादि उपलेपनोंमे हैं और न चित्रमें हैं। वह अक्षय-निरंजन ज्ञानघन शिव तो 'समचित्त' में निवास करता है!—

देउ ण देउले ण वि सिलए
णवि लिप्पइ ण वि चित्ति।
अखउ णिरंजणु णाणमउ
सिउ संठिउ समचित्ति॥

(परमात्म प्रकाश १.१२३)

ब्रह्मदेवने अपनी वृत्तिमे इस दोहेमें आए हुए 'समचित्त' शब्दका लक्षणके रूपमें एक पुरानी कारिका इस प्रकार उद्धृत की है—

सम सत्तुमित्तवग्गो
समसुहदुक्खो पसंस णिदंसमो

समलोह कंचणो विय
जीविय मरणो समो समणो।

अर्थात् वह श्रमणही 'सम' कहा जाता है जिसके लिये शत्रु और मित्र, सुख और दुःख, प्रशंसा और निंदा, लोहा और सोना, जीवन और मरण समान हों। परन्तु परमात्मप्रकाशमें एक दोहा इस दोहेके आगे पाया जाता है जिसमें समचित्तकी व्याख्या करनेका प्रयास जान पडता है। ब्रह्मदेव (टीकाकार) ने इसे प्रक्षेपक माना है। प्रक्षेपक हो या न हो, दोहा काफी महत्त्वपूर्ण है—

मणु मिलियउँ परमेसरहु
परमेसरु वि मणस्सु
बीहि वि समरसि हूवाहँ
पुज्ज चढावउँ कस्सु।

[मन परमेश्वरसे मिल गया और परमेश्वर मनसे। दोनोंका समरसीभाव हो गया, फिर पूजा चढाऊ तो किसे चढाऊं।]

यह भाव उन दिनोंके शाक्तों और नाथ मतके सिद्धोंके भावसे हूबहू मिलता है। 'समरस होना' या 'सम्यरस्य भाव' उस युगकी साधनामें बहुत प्रचलित और व्यापक शब्द है। समाधि-कालमें शिव और शक्तिका जो मिलन होता है उसे शाक्त साधक समरस्य भाव कहते हैं। पिंड और ब्रह्माण्डकी ऐक्यानुभूतिको नाथ साधक समरसीभाव कहते हैं। इस समरसके अनुभवसे योगनिष्ट व्यक्ति इतर बातोंसे वीतस्पृह हो जाता है। सिद्धसिद्धान्त सारमें कहा है—

समरस करणं वदाम्यथाहं
परमपदाखिल पिण्डयोरिदानीम्।
यदनुभवबलेन योगनिष्ठा
इतरपदेषु गतस्पृहा भवन्ति॥

और आगे चल कर उसी ग्रन्थमें जावसहितासे समरस होनेके विषयमें एक श्लोक उद्धृत करके बताया गया है कि उस अवस्थामें मन, बुद्धि, संवित्, ऊहापोह, तर्क आदि सब प्रशमित हो जाते हैं—

यत्रबुद्धिर्मनो नास्ति
सत्रसंवित् पराकला।
ऊहापोहौ न तर्कश्च
वाचा तत्र करोति किम्।

जान पडता है कि समरसभावसे जोइन्दुका कुछ ऐसाही मतलब था। उन्होंने उल्लासके साथ घोषणा की है कि बलिहारी है उस योगीकी जो 'शून्यपदं' का ध्यान करता है और 'पर' (पर-मात्मा) के साथ समरसीभावका अनुभव करता है जिसमें न पाप है न पुण्य है—

सुण्णउँ पयँ झायंताहँ
बलि बलि जोइयडाहँ।
समरसि भाउ परेण सहु
पुण्णु वि पाउ णासहँ।

यह शून्य क्या है? मुनि रामसिह बताते है। शून्य शून्य नही है। एक ऐसी अवस्था योगीको प्राप्त होती है जब वह त्रिभुवनमें केवल शून्यही शून्य देखता है, इस शून्य स्वभावको प्राप्त आत्मा पुण्य और पाप दोनोंको पचा डालता है--

सुण्णं ण होइ सुण्ण
दीसइ सुण्णं च तिहुवणे सुण्णं।
अवहरइ पाव पुण्णं
सुण्ण सहावें गओ अप्पा॥

उन दिनों इस प्रकारके योगीभी थे जो इस शरीरकोही समस्त सिद्धियोंका आश्रय समझते थे। जोइन्दुने उन योगियोंको सबोधित करके कहा है--

ऐ योगी इस घृणास्पद शरीरमेंही रममाण होकर तुम लज्जित क्यो नहीं करते। अरे भले मानस तू ज्ञानका उपासक है, धर्ममें प्रीति कर, आत्माको निर्मल बना--

जोइय, देहु घिणावणउ,
लज्जहि किं ण रमंतु।
णाणिय, धम्मे रइ करहि,
अप्पा विमलु करंतु

—प० प्र० २.१५१

अरे ओ योगी, देहकी साधना छोड दे, इससे तेरा भला नही होगा। देख, आत्मा इस देहसे भिन्न है, वह ज्ञानमय है, उसीको देख और समझ--

जोइय, देह परिच्चयहि,
देह ण भल्लउ होइ।
देह विभिण्णउ णाणमउ,
सो तुहुँ अप्पा जोउ॥

इस प्रकार उस युगकी साधनाके अध्ययनके लिये ये जैन ग्रथ अत्यंतिक उपयोगी हैं। इनकी अधिकाधिक चर्चा वाञ्छनीय है।

जंबूस्वामीचरित ।

(ले० श्री० प्रो० रामसिंहजी तोमर, एम. ए., शान्तिनिकेतन)

जंबूस्वामीके मनोरम चरित्रमें अनेक जैन कृतिकारोको अपनी कल्पनाके लिए पर्याप्त क्षेत्र मिला है। जबूस्वामी जैन संप्रदायमें अत्यत प्रतिष्ठित अंतिम केवली माने जाते हैं। उनके वैराग्यपूर्ण जीवन की परिणतिको नाना कवियोंने नाना प्रकारसे वर्णित कर अपनी लेखनीको कृतकृत्य समझा है। प्रारम्भमें जबूस्वामीका चरित्र कितने सरल और सक्षिप्त ढँगसे कवियोंने रचा था और क्रमशः उसका किस प्रकार विकास होता गया, कतिपय कृतियोंकी कथावस्तु पर विचार करनेसे स्पष्ट होगा।

जिनरत्नकोषमें अनेक जंबूके चरित्रसे सबधित कृतियोंका उल्लेख किया गया है। सबसे पीछेका और जंबूकी कथा का विकसित रूप स० १६३२ में रचित राजमल्लकविके जबूस्वामीचरित को मान सकते हैं। जंबूकी कथा प्राकृत, सस्कृत और अपभ्रंश तीनोंही भाषाओंमें मिलती है। जंबूकी कथाका सबसे प्राचीन रूप जिसमें कुछ साहित्यिकताभी है—वसुदेवहिण्डिमें प्राप्त होता है। वसुदेव-हिण्डि—प्राचीन जैन महाराष्ट्रीमे रचित सन् ई० की छठी शतीकी कृति है। इस महत्वपूर्ण कृतिके प्रारम्भमें जबूका चरित्र दिया गया है। यह प्रकरण बहुत सक्षिप्त है, इसकी संक्षिप्त कथा इस प्रकार है—

राजगृहके श्रेष्ठि ऋषभदासकी पत्नी धारिणीके जंबू पुत्र थे।' युवा होने पर सुधर्म स्वामीसे उन्होंने प्रतिज्ञा की कि वे आजन्म ब्रह्मचारी रहेंगे। वे अपने पितासे प्रव्रज्या लेनेका विचार प्रकट करते हैं। सभी जबूके निर्णयसे आश्चर्यमें पड जाते हैं। उनके पिता ऋषभदास उनसे विषयोंका उपभोग कर लेनेके पश्चात् सुधर्मस्वामीसे दीक्षा लेनेको कहते हैं। किन्तु जम्बू अनेक दृष्टात देकर पिताको निरुत्तर कर देते हैं। माताके कहने पर जंबूका आठ श्रेष्ठि कन्याओंसे विवाह हो जाता है। जंबूने इस बात पर विवाह किया था कि लग्नके पश्चात्ही प्रव्रज्या ले लेंगे।

जबू जिस समय बालगृहमें नवविवाहित वधुओंके साथ रात्रिको थे उसी समय विद्याबलसे ताले खोलनेवाला तथा लोगोंको निद्रित कर देनेवाला चोर प्रभव आया। जबूके ऊपर उस चोरकी किसी विद्याका प्रभाव नहीं हुआ क्योंकि वे प्रातःकाल सब कुछ त्याग कर प्रव्रज्या लेनेवाले थे और सुधर्म गणधरसे वे ससारविमोचनी विद्या ले चुके थे। प्रभव जबूसे कुछ काल पर्यंत ससारके विलासों का उपभोग करके दीक्षा लेने को कहता है, जंबू ससारके स्वजनोके कर्मानुकूल विचित्र सबंधोंका उल्लेख करके उसे समझाते हैं, जो एक जन्ममें माता है वही दूसरे जन्ममें पत्नी हो सकती है। प्रभव फिर कहता है कि विपुल धनका एक वर्षकी छै ऋतुओंमें उपभोग करके तब जंबूको प्रव्रज्या लेनी चाहिये। जंबू उससे कहते हैं कि धनका उपयोग उचित पात्रको दान देना है, उपभोग नहीं। फिर प्रभव जंबूको लोक धर्म-पालनकी प्रेरणा करता है और कहता हैं कि उन्हें पितृऋण चुकाना चाहिये। लोक-

धर्मकी असंगति बताते हुए जंबू सिद्धिसुखकी निरुपमेयता प्रतिपादित करते हैं। इस प्रकार जंबूकी दृढता देख कर प्रभव उनका शिष्य होना चाहता है और मोक्षमार्ग देखनेकी आकुलता प्रकट करता है। प्रातःकाल होतेही जबू पूर्वनिश्चयके अनुसार अलंकृत होकर प्रव्रज्याके लिए चल पडते हैं और सुधर्मस्वामीके समीप जाकर प्रार्थना करते हैं :—'भयव ! नित्थारेहिं मं सह सयणेण' (भगवन् ! स्वजनसहित मेरा निस्तार करो।) और वे विधिपूर्वक दीक्षा लेते है। उनकी पत्नियाँ और माता सुव्रताके समीप शिष्या हो जाती है। प्रभवभी राजाको आज्ञा पाकर जंबूका शिष्य हो जाता है।

कूणिकराजके प्रश्न करने पर सुधर्मस्वामी जंबूके पूर्वभवोंकी कथा कहते है। आज जनपदमें सुग्राम ग्राममें आर्यव नाम राष्ट्रकूट अपनी पत्नी रेवतीके साथ रहता था। भवदत्त और भवदेव दो पुत्र थे। भवदत्तने युवावस्थामेंही दीक्षा लेली थी। बहुत दिन पश्चात् भवदत्त साधुओं सहित अपने ग्रामके समीप से निकला और गुरुकी आज्ञा लेकर वह अपने भाईको देखने गया। भवदेवका विवाह हो रहा था, भाईसे मिलनेके लिए वह विवाह छोड कर चला आया। भवदत्त उसे अपने गुरुके पास लेगया और संकोचवश बडे भाईके वचनोके अनुसार भवदेवने दीक्षा लेली। भवदत्त तो ब्रह्मचर्यादि व्रतोका पालन करता हुआ बहुत काल पश्चात् अनशन करके समाधिको प्राप्त हुआ और इद्रके समान देव हुआ। भवदेव अपनी पत्नीको भूल नहीं सका। अतः स्थविरोंको विना पूछे अपने ग्राम सुग्रामकी ओर पत्नीके दर्शन करने पहुँचा। ग्रामकी सीमा पर एक मंदिरमें एक साध्वी स्त्रीको ब्राह्मणीके साथ पूजाके लिए आते देख कर वहाँ वह विश्रामके लिए बैठ गया। श्राविकासे उसने अपने पिता आर्यव और माता रेवतीके विषयमें पूछा। श्राविकाने उत्तर दिया 'तेसि बहू कालो कालगयाणं।' उनको बहुत काल हो गया। उदास होकर भवदेवने फिर पूछा– 'भवदेवस्स बहू नाइला जीवइ ?' अर्थात् भवदेवकी वधू नागिल जीती है ? श्राविकाने उत्सुक होकर प्रश्न किया कि वह भवदेवको कैसे जानता है और वहाँ क्यों आया है ? भवदेवने अपना परिचय तथा आनेका विचार कहा। श्राविकानेभी अपना परिचय दिया कि वह भवदेवकी स्त्री नागिल है, बहुत समय तक भवदेवको न आता देख कर वह साध्वी होगई थी। विषयोंकी निस्सारता बताते हुए भवदेवको नागिलने समझाया। उसे प्रतिबोध हुआ और स्वजनोंका मोह छोड कर तपस्या करने लगा। कालांतरमें वह देह छोड कर इन्द्रके समान तेजवान् देवपदको प्राप्त हुआ।

दूसरे जन्ममें भवदत्तका जन्म पुडरीकिणी नगरीमे राजकुलमें हुआ और सागरदत्त नाम रखा गया। भवदेवका जन्म वीतशोका नगरीके राजाके यहाँ हुआ, नाम शिवकुमार रखा गया। सागरदत्त विरक्त होनेके पश्चात् एक बार वीतशोका नगरी आया और शिवकुमारसे वहाँ भेट हुई। शिवकुमारको पूर्वजन्मोंका स्मरण हो आया और उसने दीक्षा लेनेका निश्चय किया। राजाकी इच्छानुसार वह तप धर्मका पालन करता हुआ रहने लगा और इस प्रकार बारह वर्ष तपस्या की उसके पश्चात् वह इन्द्रके समान देव होकर ब्रह्मलोक कल्पको गया और अगले जन्ममें वही जंबूकुमार हुआ।

वसुदेव हिण्डिमें वर्णित जंबू चरित्रका यही संक्षिप्त रूप है। बीचबीचमें अनेक रोचक कथाऐं भी दी गई है, इतिवृत्तात्मक प्रधान इस अंशमें कविकल्पनाका प्रयोग कम मिलता है। कथा कहने

का सरस ढँग मिलता है। केवल कुछ छोटे छोटे वाक्यो द्वाराही रचयिताने मार्मिक माननीय रससे पूर्ण चित्र उपस्थित किये है। जैनेतर भारतीय साहित्यमें कहा जाता है कि लक्ष्मणकी स्त्री उर्मिला काव्यकी उपेक्षिता रही। उनके त्याग, तपस्या, मूक पतिनिष्ठासे प्रभावित होकर, उनके चरित्रको काव्यका उपकरण बनाया गया है। जिस कौशलसे तपस्विनी नागिलका चारित्र वसुदेवहिण्डिमे प्रस्तुत किया गया है वह पाठकके हृदयमें समवेदना और करुण सहानुभूति उत्पन्न कर देता है। जिस समय विवाहका धार्मिक पक्षही सपन्न हो पाया था और भवदेव एक सामाजिक प्रथाका नव-वधूको आभूषण पहिनानेके रूपमे पालन कर रहा था उसी समय उसका बडा भाई भवदेव उसे बुलाता है। प्रेमपाशको एक ओर छोडकर भाईकी आज्ञानुकूल वह शिष्टाचारवश दीक्षा ले लेता है। नववधू प्रतीक्षा करती हुई अतमें तपस्विनी हो जाती है। भवदेवके हृदयकी प्रेमवासना मिटती नहीं, वह प्रेमसे आकर्षित हुआ फिर नागिलको देखने जाता है किन्तु नागिल प्रेम दौर्बल्यसे बहुत ऊपर उठ चुकी थी और वह अपने पतिकोभी उचित प्रबोध देती है। साधारण विश्वास ऐसा बन गया है कि जैन साहित्यमें शुष्कता और वैराग्य है, स्त्री मात्रके प्रति उदासीनता है, नागिल जैसी साध्वी स्त्रियोके करुण और आदर्श चित्र इसके प्रतिकार है। भवदेवकी इस जन्मकी दुर्बलता अगले जन्ममे दूर हो जाती है। राजप्रासादमें अनेक प्रकारके विलास और वैभवके साधनोंमें रहता हुआभी वह 'जलमें कमलवत्' व्यवहार करता है। सब दुर्बलताओसे ऊपर उठ कर वह दृढ आचरणवाला हो जाता है और तभी वह जबूके रूपमें अवतारित होता है। ब्रह्मचर्य और निवृत्तिका जबू जैसे अन्य आदर्श कम मिलेंगे। वसुदेवहिण्डिकी कथा गद्यमें है, उसके रचयिताने प्रत्यक्ष रूपसे अपने उत्कृष्ट कथाचरित्रोंकी प्रशसा नही की है लेकिन इस प्रकार व्यजनात्मक ढंगसे पात्रोंका चित्रण किया है कि अपने आप उनकी विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं।

जबूके चरित्रमें काव्य-विस्तारके लिए अनुकूल क्षेत्र देखकर अपभ्रशमें वीर कविने (स. १०७६ वि०) जबूस्वामी चरितकी रचना की है। जंबूके चरितका पर्याप्त विस्तार इस कृतिमें किया गया है। रचयिताने स्वयं अपनी कृतिको श्रृंगार-वीर काव्य कहा है। कृति ग्यारह सन्धियोमे विभक्त है। कथाका क्रम बिल्कुल स्वतत्र है। मगलाचरण, सज्जन-दुर्जन स्मरण आदिको प्रस्तावनाके रूपमें रख कर कृतिका प्रारम्भ महाकाव्यके समान किया है। दूसरी सधिसे कथाका प्रारम्भ किया गया है। जबूके पूर्वभवोंका वर्णन किया गया है। भवदेवकी कथाका रूप वसुदेव हिण्डिकेही समान है। पिता माताके नामोमें अन्तर है—आर्यक और रेवतीके स्थान पर श्रुतकठ और[1] सोमशर्मा नाम हैं। श्रुतकठकी करुण मृत्युका वर्णन बडा हृदयद्रावक है। नागवसु (नागिल) का चित्र उसी प्रकार करुण यहाँभी है। यथा उसकी क्षीणकाय दशाका चित्रण इस प्रकार है :—

> ता एक्क खणंतरे तिय कोणंतरि दिट्ठु नियम वय-खिन्न-तणु।
> अणुहरइ विरूवहो सूलि णिरूवहो सुक्क कवोलहे तसइ जणु॥ २.१६

---

१. आगे इसी सधिमें पिताका नाम आर्यवसु मिलता है—जब नागिलसे देवमंदिरमें भवदेव उसके विषयमें पूछता है।

चारित्रिक दृढताभी उसी प्रकार कविने चित्रित की है। सागरदत्त और शिवकुमारकी मूल कथा एकसी है। शिवकुमारकी चारित्रिक दृढताका कविने औरभी अधिक स्पष्ट वर्णन किया है। तरुणियों के पास रहते हुएभी वह निरासक्त रहता है :—

पासट्ठिओवि तरुणी णियरु, मण्णइ इवहिं पुंजिउव्व वयरु॥ ३.९.

दृढधर्म मंत्रीसुत द्वारा पारण करनेके लिए अन्न भिक्षा मॉग कर लानेका उल्लेख दोनोही कृतियोंमें हुआ है। इसी संधिमे विद्युच्चर नामक चोरका प्रवेश कराया गया है, वसुदेवहिण्डिमे यह चोर प्रभव नामसे आता है और अंतमे जबूका शिष्य हो जाता है।

जंबूका चरित्र बिल्कुल स्वतंत्र ढंगसे चित्रित हुआ है। समुद्रदत्त श्रेष्ठिकी चार कन्याओंसे जबूका विवाह होता है। वसुदेवहिण्डिमे आठ सेठोंकी आठ कन्याओके विवाहका उल्लेख है। सबसे विचित्र प्रसग वीर कविकी कृतिमे जंबूके पराक्रम दर्शनके प्रसंग है और जिनके आधार पर कविने अपनी कृतिको श्रृंगार-वीर काव्य कहा है। चतुर्थ संधिमे उनके द्वारा एक भयंकर मत्त हाथीके परास्त होनेकी कथा कही गई है। पॉचवी संधिमे जबू केरल जाते हुये दिखते हैं और वहाँ रत्न-शेखर विद्याधरसे युद्ध करते हैं। यह युद्ध तीन संधियोमे चलता है, वीर, बीभत्स, अद्‌भुत आदि कई प्रसंग इस प्रकरणमे मिलते है। अतमे जबूका विवाह केरलकी राजकुमारीसे होता है। आठवी सधिमे पूर्वभवोंका सक्षिप्त वर्णन दुहराया गया है। फिर प्रस्तावित विवाह पूरा होता है।

विवाहोपरान्त जबूके हृदयमें वैराग्य उत्पन्न होता है। अनेक आख्यान कहकर उनकी पत्नियाँ उन्हें समझाती है। इसी समय अर्द्धरात्रिमें विद्या बलसे लोगोको निद्रित करनेवाला तथा ताले खोलनेवाला चोर विद्युच्चर आता है। बडे नाटकीय ढंगसे उसका प्रवेश कराया गया है। जंबूकी माता अपना भाई कहकर जंबूसे उसका परिचय कराती है। विद्युच्चर अंतमें जंबूका शिष्य हो जाता है। जंबू, मातासहित प्रव्रज्या व्रत लेते हैं और पत्नियॉभी तपव्रत लेती है। विद्युच्चरका वर्णन अतिम सधिमें किया गया है। सभी स्वर्गको जाते है।

वीरकी कृतिमें कथा ज्योंकी त्यों है, भाषा अपभ्रश है, और काव्यात्मकता उसमें बहुत है। नागवसू, जबू, विद्युच्चरके चरित्रोंका चित्रण बहुत सफलतापूर्वक किया गया है। सरल काव्यात्मक अनेक वर्णन कृतिमे मिलते है। कृतिका रूप महाकाव्यका रूप है। रचयिता दिगबर सप्रदायके थे। अतः यह कथाकी एक धारा कही जा सकती है।

जंबूस्वामी चरितका तीसरा रूप हेमचद्राचार्यके परिशिष्ट पर्वमे मिलता है। पहिले जंबूके पूर्व-भवोंकी कथा दी गई है और उसमे कोई अतर नहीं है। जबूका जन्म होता है और वीरकी कृतिके समानही जबूका चार कुमारियोसे विवाह होनेवाला था, उसी समय सुधर्मस्वामी आते है और जंबू आजीवन ब्रह्मचर्य पालनका व्रत ले लेते हैं। विवाह होनेके पश्चात् प्रभव और जबूका सवाद वसुदेव-हिण्डिकेही समान है। जबू और पत्नियोंका सवाद वीरकी कृतिके समान है। अनेक कथा और आख्यानोकी सृष्टि हेमचद्रकी है। अतमे जब जबूकी पत्नियॉ सब प्रकारसे जबूको वैराग्य दीक्षाके लिए

दृढ देखती हैं तो वे स्वयंभी उसी प्रकार तप व्रत ले लेती हैं। चोर प्रभवभी अपने पिताकी आज्ञा लेकर तपव्रत ले लेता है। जबू अंतमे निर्वाण पद प्राप्त करते हैं। हेमचंद्रकी कृति संस्कृत पद्यमें है। कथामें कोई अतर नहीं मिलते। आख्यायिकाओंकी सुदर सृष्टि हेमचद्रने बहुत आकर्षक की है।

उपर्युक्त तीन जबू चरित्र तीन भाषाओमें है, तीनमेंसे दोमे कथा कहना प्रधान उद्देश्य लगता है, वीरकी-अपभ्रश कृतिमें काव्य सृष्टिकी ओरभी प्रयास है। अपभ्रशके एक अन्य जबूचरितकाभी उल्लेख बडौदासे प्रकाशित पत्तनस्थ भडारकी ग्रथसूचीमें मिलता है (पृ० २७१) विभिन्न लेखकों द्वारा प्रस्तुत इस तपस्वी चरित्रके विकासका अध्ययन मनोरजक हो सकता है। जबूके आदर्श चरित्र-की तुलना ब्राह्मण सप्रदायमें किससे हो सकती है, ढूढना आसान नहीं है। जैन आदर्शवादमें रंगा यह चरित्र अपने आपमे अनुपम है।

जिनवाणी—वैशिष्ट्य।

कुमति कुरंगनिको केहरि समान मानी,
माते इभ[1] माथें अष्टापद हहरात हैं।
दारिद निदाघ[2] टार प्रावृट्[3] प्रचंड धार,
कुनै-गिरि-गंड खंड विज्जु घहरात हैं॥
आतमरसीको है सुधारसको कुंड वृन्द,
सम्यक महीरुहको[4] मूल छहरात हैं।
सकल समाज शिवराजको अजज्ज जामें,
ऐसो जैन-वैनको पताका फहरात हैं॥

—कविवर वृन्दावनदासजी

---

१. हाथी. २. ग्रीष्मऋतु. ३. वर्षा. ४. वृक्षका.

जैन स्तूप और पुरातत्त्व।*

(ले० श्री० नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी, लखनऊ संग्रहालय)

अपने अपने प्रधान आचार्योंकी समाधियोंका पूजन प्रत्येक धर्म एवं संप्रदायमें अत्यन्त पवित्र कार्य माना जाता है। बौद्ध और जैन सप्रदायोंमें स्तूप निर्माण और पूजन इसी पद्धतिका प्रतीक है। मूलतः स्तूपोंका निर्माण, किसी आचार्य विशेषकी स्मृतिमें, किया जाता था। गौतम बुद्धके पाञ्च-भौतिक अवशेषों पर अष्टस्तूपोका निर्माण किया जाना प्रसिद्धही है। उसके उपरान्तभी भिन्न भिन्न बौद्ध आचार्योंके अवशेषों पर स्तूप बनते रहे। परवर्ती कालमे इस पद्धतिका इतना अधिक प्रचलन हुआ कि स्तूपके आकारकाही पूजन पुण्यकार्य माना जाने लगा। फलतः लाखों और करोडोंकी संख्या में लाक्षणिक स्तूप (votive stupas) बनने लगे और स्तूप स्वयही एक प्रकारकी देवप्रतिमामें परिवर्तित होगया। यही परपरा हमें जैनोमेंभी मिलती है। जैन और बौद्ध धर्म लगभग समकालीन होनेके कारण यह कहना कठिन है कि स्तूप-निर्माण-योजनाका उद्गम किस संप्रदायसे हुआ। जिस प्रकार आज बौद्ध स्तूप सारे भारतमें विद्यमान है उसी प्रकार एक समय जैन स्तूपभी थे परन्तु बौद्धोकी परपरा अक्षुण्ण बनी रही और जैनोंकी विलीन हो गई। इस लेखका विषय साहित्य और पुरातत्त्वकी सहायतासे एक समय भारतमें फैले हुए जैन स्तूपोंका सक्षिप्त अनुशीलन है।

'राजावलीकथा' में इस बातका उल्लेख मिलता है कि आचार्य भद्रबाहुके गुरु गोवर्धन महामुनि कोटिकापुरमें जम्बुस्वामिके स्तूपका दर्शन करनेके लिये अपने शिष्य समुदायके साथ गये थे।[१] यह तो दिगंबर और श्वेतांबर दोनोंहीको समान रूपसे मान्य है कि जम्बुस्वामि अन्तिम केवली थे और उनके बाद भद्रबाहु पाचवे श्रुतकेवली हुए हैं। आचार्य भद्रबाहु चन्द्रगुप्त मौर्यके दीक्षागुरु थे। इसलिये इनकाभी समय ई० पू० तृतीय शताब्दि था; अर्थात् इस कालसे कुछ पहिलेही कोटिकापुरमें जम्बुस्वामिका स्तूप रहा होगा।

भगवान महावीरके निर्वाणके पश्चात् पावापुरीमें देवोंद्वारा एक स्तूप निर्माणका उल्लेख जैन शास्त्रोंमें मिलता है;[२] परन्तु पुरातत्त्व इस विषयमें मौन है।

'तित्थोगाली पइण्णय' से इस बातका प्रमाण मिलता है कि एक समय पाटलिपुत्रभी जैन धर्मका प्रमुख केन्द्र था। नन्दोंने यहां पर पाँच जैन स्तूप बनवाये थे जिन्हें कल्कि नामक एक दुष्ट राजाने धनकी खोजमें खुदवा डाला था।[३] युवानच्वाँगनेभी पाटलिपुत्रके पास पश्चिममे पाँच स्तूप

---

* इस लेखके लेखनमें श्रीयुत कामताप्रसादजी जैनने मुझे अत्यधिक सहायता की है, अतएव मै उनका चिरकृतज्ञ हूं।

१. B. Lewis Rice–Inscription at Śravan Belgola, p. 3.

२. पावापुरी तीर्थका प्राचीन इतिहास पृ० १.

३. तित्थोगाली पइण्णय–कल्किप्रकरण.

भग्नावस्थामें देखे थे। परन्तु उसने इन स्तूपोंको बौद्ध माना था।[४] किसी अबौद्ध राजा द्वारा उनके उत्खननकाभी वह उल्लेख करता है। पहाड़पुरके ताम्रपत्रमें (ई० स० ४७९) आचार्य गुहनन्दिन और उनके शिष्य 'पञ्चस्तूपान्वयी' कहे गये हैं।[५] हो सकता है कि पटनेके प्राचीन पचस्तूपोंके प्रश्रयमे जो सघ रहता था, वह नदोके उन प्राचीन पॉच स्तूपोके कारण पञ्चस्तूपान्वयी कहलाता हो। नवनद जैनधर्मावलम्बी थे या नही यह हम नहीं जानते, हाँ इतना अवश्य ज्ञात है कि उनमेंसे किसीने कलिंगसे जिन-प्रतिमा लाकर अपने यहाँ रखी थी।[६] सम्भव है कि पूजनार्थही वह प्रतिमा वहाँ लाई गई हो। पाटलिपुत्रके उत्खननमें मौर्यकालीन स्तर पर कुछ चबूतरे ३०'×५' ४"×४½" के मिले हैं। डॉ० मोतीचन्द्रजीका अनुमान है 'कि इन लकडीके चबूतरोका ठीक ठीक तात्पर्य क्या था यह कहना कठिन है, लेकिन यह सम्भव है कि इनका सम्बन्ध नन्दोके स्तूपोसे रहा हो।[७]

जैनस्तूप अथवा जैनाचार्योंकी समाधियोका उल्लेख हमे खारवेलके हाथीगुंफावाले लेखमेंभी मिलता है। इन समाधियोको 'निसिदिया' या निषीदिकाएँ कहते थे। 'निषीधि' 'निशिद्धि' 'निषिद्धि' और 'निषिद्धिगे' इत्यादि एकही शब्दके भिन्न भिन्न रूप है।[८] इस प्रकारकी एक 'अर्हत् निसिदिया' खारवेलके समयमेभी वर्तमान थी।[९] यह किसी अर्हत्के स्मरणार्थ निर्मित साधारण समाधि न होकर वस्तुतः स्तूपही था क्योंकि 'निसिदिया' शब्दका विशेषण 'काय' इस ओर सकेत करता है कि स्तूपमें किसी अर्हत्के, जिसके नामसे हम परिचित नहीं है पाञ्चभौतिक अवशेष अन्तर्निहित थे।[१०]

कलिंग देशमे लाक्षणिक जैन स्तूपोकेभी होनेका प्रमाण हमे मिलता है। खण्डगिरीकी गुंफाओमें जैन सप्रदायकी वस्तुएँ जैसे तीर्थंकर प्रतिमाएँ, त्रिशूल, स्वस्तिक, वेदिकास्तभ इत्यादि पाई गई हैं परन्तु स्तूपोंको छोड कर कोईभी ऐसी वस्तु नहीं मिली है जो निश्चित रूपेण बौद्ध कही जा सके। अतएव ये स्तूपभी जैनस्तूपही होने चाहिये, बौद्ध नहीं।[११] इन वस्तुओका यहाँ पाया जाना कोई आश्चर्यका विषय नहीं है क्यों कि कलिंग प्राचीन कालसेही जैन धर्मका केन्द्र बन चुका था।

जैन अनुश्रुतिके अनुसार तक्षशिलाभी इस सप्रदायका प्रमुख केन्द्र था। प्राचीन टीका साहित्य में इसे 'धर्मचक्रभूमि' कहा गया है।[१२] प्रभावक चरितमें मानदेव सूरिकी कथाके अन्तर्गत तक्ष-

---

४ Watts—On Yuan Chawang's Travels in India, p. 96.

५. Epigraphia India, Vol XX pp 59, line 6th

६. Ibid pp 71 Hāthīgumphā Inscription of Khāravel, line 12th.

७. डा० मोतीचन्द्र–'प्रेमी अभिनन्दन ग्रथ' पृ० २३५.

८. Indian Antiquary Vol XII pp 202

९. Epigraphia India, Vol. XX p 71 Hāthīgumphā Inscription, line 14th

१०. Chimmanlal Shah—Jainism in North India p. 182.

११. Ibid, pp 157–158 and 248–49.

१२. बृहत्कल्पसूत्र १७-७४.

शिलाका वर्णन आया है।[१३] इस अनुश्रुतिके अनुसार तक्षशिला पर एक भयंकर तुरुष्क आक्रमण हुआ था, जिसके फलस्वरूप वह नगरी ध्वस्त कर दी गई। पुरातत्वविभाग द्वारा किये गये उत्खननसे यह सिद्ध होता है कि तक्षशिलाका प्राचीन कालसेही तीन भिन्न भिन्न स्थलो पर शिलान्यास हो चुका है। प्राचीनतम नगर आजके भीडके टीले पर था। दूसरा था तक्षशिलाका सिरकप नगर व तृतीय सिरसुख सिरकप नगर भारतीय-यूनानी राजाओ (Indo-Bactrian kings) द्वारा बसाया गया था। उसे ध्वस्त कर कुषाण नृपतियोने सिरसुखकी स्थापना की। डॉ० मोतीचन्द्रने यह दिखलानेका प्रयत्न किया है कि तक्षाशिला पर ' जैन अनुश्रुतिमे कथित आक्रमण ईसाकी पहली शताब्दिमे कुषाणों द्वारा किया गया था। अर्थात् इस आक्रमणके फलस्वरूप सिरकप नगर नष्ट कर दिया गया।[१४] इसी सिरकप नगरकी खुदाईमे हमें जैन मन्दिर व चैत्यके भग्नावशेष मिले है। इन चैत्य-स्तूपोंकी बनावट मथुराके अर्ध चित्रोमे अकित जैन स्तूपोसे बहुत मिलती जुलती है।[१५] यह आक्रमण ईसाकी प्रथम शताब्दिमें हुआ होगा। इससे पूर्व वहॉ पर जैनोका अस्तित्व रहा होगा जो अनुश्रुति द्वारा प्रमाणित है।

कनिष्कके समय पेशावरमेभी एक जैन-स्तूप था। धार्मिक होनेके कारण उसने स्तूपको एक बार प्रणाम किया परन्तु उसके प्रणाम करतेही स्तूप भग्न हो गया क्यो कि उसे राजाके प्रणाम करने का उच्च अधिकारही प्राप्त नही था।[१६] पुरातत्व इस जैन-स्तूपके विषयमे मौन है।

उत्तर भारतमे जैन स्तूपोंकी दृष्टिसे मथुरा अत्यन्तही महत्वपूर्ण स्थल है। यहॉ पर जैन अनुश्रुतियोंके साथ पुरातत्वभी हमारी महती सहायता करता है। व्यवहारभाष्य[१७] और विविध-तीर्थ[१८] कल्पमे मथुराके ' देवनिर्मित ' स्तूपके विषयमे अनुश्रुतियॉ मिलती हैं। उनको देखने पर हम निम्नांकित महत्वपूर्ण बाते जानते है :—

१. देवगणोने मथुरामें रत्नजटित सुवर्णके स्तूपकी रचना की। वह देवमूर्तियो, ध्वज, तोरण, मालाएॅ व छत्रत्रयीसे अलकृत था। उसमें तीन मेखलाएॅ थी। प्रत्येक मेखलामें चारो ओर देवमूर्तियॉ थी। इस स्तूपको देवनिर्मित कहा गया है।

२. इस स्तूपके कारण बौद्धो और जैनोमें झगडा हुआ था। फलतः स्तूप पर बौद्धोंका छै महीने तक अधिकारभी था। अन्ततोगत्वा जैन विजयी हुए।

३. पार्श्वनाथके जन्म तक स्तूप अनावृत पडा था। पश्चात् इसे ईंटोसे ढॅक दिया गया।

---

१३. प्रभावक चारित—मानदेव प्रबन्ध श्लोक २७ से आगे.

१४. डा. मोतीचन्द्र—प्रेमी अभिनन्दन ग्रथ पृ. २४३.

१५. Sir John Marshall-Guide to Taxila, (Calcutta 1918 p. 72).

१६. G K. Nariman—Literary History of Sanskrit Buddhism, Bombay 1923, p. 197 डॉ. मोतीचन्द्र द्वारा उद्धृत, प्रे. अ. ग्र. पृ. २३८.

१७. व्यवहारभाष्य, ५. २७.२८.

१८. विविधकल्पसूत्र (स. जिनविजय) पृ. १७-१८.

४. महावीरसे लगभग १३०० वर्षों पश्चात् बप्पभट्टीने स्तूप पर पत्थर लगवा कर उसका जीर्णोद्धार कराया।

अब हम कंकाली टीलेके उत्खननसे प्राप्त सामग्रीकी सहायतासे उपर्युक्त बातोंकी मीमांसा करनेका प्रयत्न करेंगे।

१. मथुराका जैन-स्तूप देवनिर्मित कहा जाता था, यह बात वहाँसे प्राप्त एक शिलालेखसे भी सिद्ध होती है।[१९] इसका नाम 'वोद्व' स्तूप था। ककाली टीलेसे जो आयागपट्ट तथा अन्य शिलाखण्ड प्राप्त हुए हैं, उनमेंसे कुछ पर छोटे आकारके स्तूप प्रदर्शित हैं।[२०] इनको देखकर हम बृहदाकार जैन-स्तूपोंके आकार प्रकारकी कुछ कुछ कल्पना कर सकते हैं। हम अभी देव-निर्मित स्तूपका वर्णन करते समय देख आये हैं कि देवताओने तीन मेखलाओ वाले छत्र-त्रय, ध्वज, माला इत्यादिसे अकित स्तूपका निर्माण किया था। उपर्युक्त शिलापट्टो पर पाये जानेवाले स्तूपोंमें अधिक तर दो मेखलाओसे युक्त है। केवल एक स्तूंप तीन मेखलाओंसे युक्त है।[२१] इस स्तूपका प्रदर्शनभी महत्त्वपूर्ण ढगसे किया गया है। द्वार-तोरण पर अकित इस स्तूपका पूजन करनेके लिये सुपर्ण और किन्नर आ रहे हैं। छत्रत्रयी किसीभी स्तूप पर नही है। सारे एकही छत्रसे शोभित हैं। वस्तुतः प्राचीन कालमे छत्रावली तो तीर्थंकर प्रतिमाओं परभी नही रहती थी। मध्यकालमें आकर छत्रावली की पद्धतिका प्रारभ हुआ। बिविधतीर्थकल्पभी जिसमेसे स्तूपका वर्णन उद्धृत किया गया है विक्रम की चौदहवीं शताब्दिका ग्रन्थ है। अतएव, उसमें उल्लेखित छत्र-त्रयींका प्राक्-कुषाण या कुषाण कालीन जैन स्तूपों पर न पाया जाना कोई आश्चर्यकी बात नहीं। माला, देवमूर्तियाँ इत्यादिभी इन स्तूपों पर पाई जाती हैं।

'देवनिर्मित' शब्दके कारण कुछ विद्वानोने इस स्तूपको प्राक्-मौर्यकालीन माना है।[२२] परन्तु पुरातत्वसे इसकी पुष्टिमें कोई प्रमाण नहीं मिलता। यदि ऐसा होता तो मौर्यकालके ध्वसावशेष अवश्यही मिलते। परन्तु प्राप्त वस्तुओमें लगभग सारी वस्तुएँ शुग, कुषाण या उसके बादके कालकी हैं। हो सकता है कि देवो द्वारा मूल-स्तूप निर्माणवाली कथाके कारण तथा स्तूपको दैवी शक्तिसे युक्त अथच महत्त्वपूर्ण दिखलानेके लिये उसके नामके साथ देवनिर्मित विशेषण जोड दिया गया हो। इसी अर्थमे 'देव' शब्दका प्रयोग हम उस कालके व्यक्तिगत नामोके साथभी पाते हैं। कुषाण नृपति अपनेको 'देवपुत्र' कहते थे, अशोकका 'देवाना प्रिय' नाम तो प्रसिद्धही है।

जैनों और बौद्धोंमें कुछ झगडा हुआ था इसकीभी पुष्टि पुरातत्वसे होती है। किसी तत्कालीन

---

१९. Smith—The Jain Stupa and other antiquities of Mathura, pl. VI, p. 12.

२०. Ibid plates, IX, XII, XV, XVII, XX Mathura Museum Guide Book Pl Also Lucknow Museum exhibit No J. 355.

२१ Ibid pl. XV, page 22

२२. श्रीनागरजी—प्रेमी अभिनदन ग्रंथ, पृ. २७२.

व्यक्ति या समूह द्वारा तीर्थंकर प्रतिमाओं तथा जैन कथाओंसे अंकित शिलापट्टोंको भग्न किये जानेके कई उदाहरण हमे प्राप्त हैं। कुछ पर तो लेख लिखे गये है[२३] और कुछको काँट-छाँट कर वेदिका-स्तंभ या सूचिकाओमे[२४] परिवर्तित कर दिया गया है। हो सकता है कि अनुश्रुतिके कथनानुसार बौद्धोंकाही यह कार्य हो। स्वयं जैनोंद्वाराही उनकी पूजनीय परन्तु भग्न मूर्तियोंका इस प्रकार उपयोग किया जाना–जैसा कि स्मिथ साहबका कथन है[२५]–अधिक उपयुक्त नहीं जान पडता क्यों कि भारत बर्षमें खण्डित प्रतिमा या तो जल-प्रवाहित कर दी जाती हैं या किसी अन्य सुरक्षित स्थल पर रखी जाती है। उसका पुनर्उपयोग नही किया जाता।

३ व ४ के विषयमे निश्चितरूपसे कुछ नही कहा जा सकता। संभव है कि किसी समय स्तूप केवल ईंटोंकाही बना हो जैसे अशोककालीन बौद्ध स्तूप पाये जाते हैं। कुछ कालके अनन्तर शुंग और कुषाणकालमें वह प्रस्तराकृत कर दिया गया हो।

दक्षिण भारतमे आचार्य भद्रबाहुके नेतृत्वमें जैन साधुओंकी एक बडी धार इधरके एक भयंकर अकालसे बचनेके लिये गई। श्रवणबेलगोला नामक स्थान पर भद्रबाहुकी मृत्यु हुई। चन्द्रगुप्तको छोड कर अन्य साधु दक्षिण पर्यटन एवं 'जिन बिम्बों' के दर्शनके लिये चल पडे। राजावली कथामें इसका उल्लेख मिलता है कि कुछ कालके अनन्तर सिंहसेनके पुत्र भास्कर नामक राजाने श्रवणबेल-गोलामे एक चैत्यालय बनवाया। सम्भवतः यह आचार्य भद्रबाहुकी स्मृतिमेंही बनवाया गया हो।[२६]

धारवाड जिलेसे प्राप्त कुछ शिलालेखोंसेभी अर्हतोंकी निषिदिकाओका बनना प्रमाणित होता है।[२७] हम पहलेही देख चुके है कि निषिदिकाभी स्तूपकाही पर्यायवाची शब्द है।

उपर्युक्त विवेचनसे हम कह सकते हैं कि जैन स्तूपभी किसी समय भारतवर्षमें अच्छी संख्यामें उपस्थित थे परन्तु परवर्ती कालमे उनका निर्माण बंदसा हो गया था। इसका एक कारण यहभी हो सकता है कि बौद्ध धर्मके समान जैन धर्म भारतमें चिरकाल तक प्रबल नही रहा। फलतः उसके प्रतीकोका निर्माण या जीर्णोद्धारभी उतनी अधिक मात्रामें नही हो सका।

---

२३. Smith—The Jain Stupa and other antiquities, p. 3.

२४. लखनऊ सग्रहालयकी प्रतिमाएँ नं. J. 354, 355, J. 356, J. 357 व J. 358.

२५. Smith—The Jain Stupa and other antiquities p. 3.

२६. B. Lewis Rice—Inscriptions of Śravana Belgola p 3.

२७. Jain Antiquary, Vol. XII, p. 102.

मथुराका 'देवनिर्मित वोद्व' स्तूप।

(ले. श्री. कृष्णदत्त वाजपेयी, एम. ए., पुरातत्व सग्रहालय, मथुरा)

सन् १८९० ई० का वह दिन बडा भाग्यशाली था जब कि लखनऊ सग्रहालयके क्यूरेटर डा० फ्यूहररको मथुराके प्रसिद्ध कंकाली टीलेकी खुदाई करवाते समय जैन कलाकी विविध वस्तुओं के साथ एक अभिलिखित शिलापट्ट प्राप्त हुआ। यद्यपि दुर्भाग्यसे यह शिलापट्ट भग्नावस्थामे मिला है और उसके ऊपरकी मुख्य प्रतिमा तथा नीचेका लगभग आधा दाहिना अश उपलब्ध नहीं हो सका तथापि जो अश प्राप्त हुआ है वह मथुरा क्या, सारे भारतमें जैन धर्म एव कलाकी प्राचीनता सिद्ध करनेके लिये एक महत्वपूर्ण अवशेष है। इस शिलाखड पर ई० द्वितीय शतीमें मथुरामे प्रचलित ब्राह्मी लिपि तथा प्राकृत भाषामे एक अभिलेख उत्कीर्ण है जिससे पता चलता है कि शक सवत् ७९ (= १५७ ई०) में भगवान् अर्हत्की प्रतिमा 'देवताओंके द्वारा निर्मित' वोद्व नामक स्तूपमें प्रतिष्ठापित की गई। यह स्तूप आधुनिक मथुरा नगरके दक्षिण पश्चिममें वर्तमान कंकाली नामक टीले पर स्थित था। ई० द्वितीय शतीमे इस प्राचीन स्तूपका आकार-प्रकार ऐसा भव्य तथा उसकी कला इतनी दिव्य थी कि मथुराके इस 'स्वर्णकाल' के कला-मर्मज्ञोकोभी उसे देख कर आश्चर्य-चकित हो जाना पडा। उन्होने अनुमान किया कि यह स्तुप ससारके किसी प्राणीकी कृति न होकर देवोंकी रचना होगी। अतएव उन्होने उसे 'देवनिर्मित स्तूप' की सज्ञा दी। यहाँ इस महत्त्वपूर्ण शिलापट्ट तथा उस परके लेखकी सक्षिप्त चर्चा की जाती है—

प्रस्तुत शिलापट्ट एक बडी अर्हत् मूर्तिका नीचेका भाग है और वहभी केवल आधेसे कुछ अधिक बचा है। शेष अश नही मिल सका।[१] डा० विंसेंट स्मिथका अनुमान है कि मुख्य प्रतिमा खडी रही होगी। (स्मिथ-'जैन स्तूप' पृ० १२-१३, फलक ६) परंतु चौकीके ऊपर चरणोके कोई ऐसे चिन्ह अवशिष्ट नहीं हैं, जिनसे स्मिथके उक्त अनुमानको ठीक माना जा सके। इसके विपरीत प्रस्तुत पाषाण-खडके काफी चौड होनेसे कहा जा सकता है कि प्रधान मूर्ति पद्मासनमे बैठी हुई ध्यानमुद्रामे रही होगी। बचे हुए टुकडेके बीचमें कमल पुष्पके ऊपर त्रिरत्न अंकित है और उस पर एक चक्र रखा है। कमलके एक ओर शंख है, उसके दूसरी ओरभी इसी प्रकारका शंख रहा होगा, जो टूट गया है। चक्रके बाईं ओर दाहिने हाथोमें कमलमालाएँ लिए हुवे तीन स्त्रियाँ खडी है। वे अपने बाएँ हाथोसे वस्त्र सँभाले है। ये वस्त्र गलेसे लेकर पैरों तक उनका सारा शरीर ढके है और ऐसा प्रतीत होता है कि वे गलेमें तथा कमरके समीप सिले हुए है। तीसरी स्त्रीके पीछे हाथ जोडे हुए एक छोटी लडकी खडी हैं।

---

१. यह मूर्ति लखनऊ सग्रहालयकी जैन दरीचीमें प्रदर्शित है। इसका नंबर जे. २० है।

मथुरासे प्राप्त 'वोद्वस्तूप' सम्बन्धी शिलापट्टपर उत्कीर्ण लेख।

उसके नीचे बाईं ओरको मुख किए हुए दीर्घकाय सिंह बैठा हुआ है। इसी प्रकारका सिंह पत्थरके दाहिने किनारे परभी चित्रित रहा होगा। त्रिरत्न तथा चक्रके दाईं ओर अपने बाएँ हाथमें वस्त्र डाले हुए एक साधु पूजक खडा है। उसके समीपही इसी प्रकारकी अन्य दो या तीन पुरुष प्रतिमाएँ रही होंगी, जो टूट गई है। कंकाली टीलेसे मिली हुई तीर्थंकर प्रतिमाओंकी अधिकांश चौकियों पर इसी प्रकार एक ओर पुरुष-पूजक तथा दूसरी ओर स्त्री श्राविकायें अंकित मिलती है।

इस शिलापट्ट पर उत्कीर्ण अभिलेख चार पक्तियोंमें था; परंतु अब केवल तीन पंक्तियाँ शेष हैं। तीनों पंक्तियोके अतिम शब्द पूर्ण है परतु आदिके अक्षर टूट गये है। चौथी पक्ति, जिसमें चार या पाँच अक्षर रहे होगे, बिलकुल टूट गई है। लेखको स्मिथने इस प्रकार पढा है—

(प० १)...स ७० ९ ग्र ४ दि २० एतस्यां पूर्व्वाया कोट्टिये गणे वईरायां शाखायां

(प० २)...को अय वृधहस्ति अरहतो नन्दि[आ] वर्तस प्रतिमं निर्वर्तयति

(पं० ३)...भार्य्यये श्राविकाये [दिनाये] दान प्रतिमा वोद्दे थूपे देवनिर्मिते प्र...

प्रथम पक्तिमें 'व' के नीचे रेफ न होकर ऊपर है, अतः उसे 'र्व' पढना ठीक होगा। जर्मन विद्वान् डा० ब्यूलर प्रथम पक्तिमे 'वइराया' पढते है (एपिग्राफिया इंडिया, जिल्द २, पृ० २०४, न० २०)। परतु दीर्घ 'ई' स्पष्ट है। दूसरी पंक्तिमें 'को' के पहले 'वाच' शब्द लगा कर वे 'वाचको' पूरा करते हे। यह असंभव नहीं, परंतु इस शब्दके पहलेभी एक या दो शब्द रहे होंगे। दूसरी पक्तिमें 'हस्ति' को 'हस्थि' पढना ठीक होगा, क्यों कि 'सि' के नीचे का वर्ण गोल है और उसके बीचका बिंदुभी दिखाई देता है। इसी पंक्तिमें 'नन्दि' के स्थान पर ब्यूलर 'णन्दि' पढते है। मैने लेखकी छापको ध्यानपूर्बक देखा है और मेरा विचार है कि 'न(ण)न्दि[आ]वर्तस' पाठ ठीक नही। पहला अक्षर 'न' न होकर 'म' है। इसके नीचेका त्रिभुज खुला न होनेके कारणही समवतः उक्त दोनों विद्वानोको भ्रम हुआ और एकने उसे 'न' पढा तो दूसरेने 'ण'। परंतु उसके ऊपरकी मात्रा जैसी रेखाओंकी ओर उनका ध्यान नहीं गया। दूसरा अक्षर निर्विवाद 'नि' है। उसके नीचे एक तिरछी रेखा लगी है। स्मिथ तथा ब्यूलर दोनोने इस रेखाको 'द' मान लिया है, जो छापको देखनेसे ठीक नहीं ज्ञात होता। मेरा अनुमान है कि लेख उकेरने वालेने 'म' के नीचे यह रेखा लगानेके बजाय भूलसे उसे 'नि' के नीचे लगा दिया। अतः अभीष्ट शब्द 'मुनि' के स्थान पर 'मुनिु' हो गया, जो अशुद्ध है। तीसरा वर्ण 'अ' या 'आ' न होकर 'सु' है। इसके ऊपर लगे हुए ऊर्ध्व रेफ (ˆ) की ओर उक्त विद्वानोंका ध्यान नहीं गया, पर यह छापमें स्पष्ट है। अतः इस वर्णको 'र्सु' मानना चाहिए। चौथा अक्षर 'व' अवश्य है, पर उसके नीचे रकार लगा है, अतएव उसे 'व्र' 'पढना ठीक होगा। पाँचवां वर्ण निस्संदेह 'त' और छठाँ 'स' है। इन दोनोंके ऊपर रेफ लगेसे दिखाई पडते है। स्मिथ तथा ब्यूलरने 'त' के ऊपर तो रेफ माना है पर 'स' के ऊपर नहीं। मेरे विचारसे दोनों वर्णोंके ऊपर के रेफ (यदि वे हैं) अप्रासंगिक हैं, और लेखकके प्रमादवशही आगये होंगे। लेखकी भाषा मथुरासे

प्राप्त अनेक कुषाण-कालीन जैन अभिलेखोंकी भाषा जैसी है, अतः इसमे व्याकरणके कई दोषोंका रह जाना आश्चर्यजनक नहीं।

अस्तु, मेरे विचारसे 'न(ण)न्दि[आ]वर्तस' पाठ न होकर 'मुनिर्सुव्रतस' होना चाहिए। यदि 'सु' के ऊपर वाले रेफको लेखककी भूल समझी जाय तो शुद्ध पाठ 'मुनिसुव्रतस' होगा। तीसरी पक्तिका अतिम अक्षर 'प्रि' है। संभव है कि चौथी पंक्तिमें 'यता जिनः' या 'अर्हतो' रहा हो। उपर्युक्त पाठ मानने पर लेखका अनुवाद इस प्रकार होगा।

...वर्ष ७९ की वर्षाऋतुके चौथे मासमे बीसवे दिन, इस तिथिमे आर्यवृद्धहस्तिने जो कोट्टिय गणकी वईर शाखाके [आचार्य] थे, अर्हत् मुनिसुव्रतकी प्रतिमाका निर्माण करवाया। [उनकीही प्रेरणासे] यह प्रतिमा, जो.....की भार्या श्राविका [दिना] का दान है, देवोके द्वारा निर्मित स्तूपमें [प्रतिष्ठापित की गई, अर्हत् प्रसन्न हो]।

लेखका वर्ष ७९ निस्सदेह शक सवत्को सूचित करता है जिसका प्रारंभ ७८ ई. से हुआ। ककाली टीलेसे मिले हुए अधिकाश लेखोंमें इसी सवत्का प्रयोग हुआ है। प्रस्तुत अभिलेखका समय (७९+७८) १५७ ई० आता है। यह कुषाण सम्राट् वासुदेवके राज्यकालमें पडता है, जिसने शक स० ७३ (१५१ ई.) से लेकर स० ९८ (१७६ ई.) तक मथुरामे शासन किया। लेखकी प्रथम पक्तिके प्रारभमे अन्य लेखोके समानही 'स ७०९ के पहले' 'महाराजस्य (या राज्ञः) वासुदेवस्य' शब्द रहे होंगे। उसके पहले सभवतः 'सिद्ध नमो अरहतान' आदि रहा होगा। कोट्टिय गण तथा वईर शाखाका उल्लेख मथुरासे प्राप्त अन्य अनेक लेखोंमेंभी हुआ है।

अब यह विचारणीय है कि प्रस्तुत शिलापट्ट पर किस तीर्थंकरकी प्रतिमा रही होगी। यदि लेखका 'मुनिसुव्रत' पाठ ठीक है तो अवश्य उन्हींकी मूर्ति रही होगी। परंतु त्रिरत्न चिन्हके नीचे कमलकी बराबर अकित शखसे भ्रम हो सकता है कि यह चिन्ह, जो भगवान् नेमिनाथ या अरिष्ट-नेमिका प्रतीक है, सुव्रतमुनिकी प्रतिमाके साथ क्यों दिखाया गया। इस सबधमे यह कहा जा सकता है कि कमलकी अगल बगल रखे हुए दोनों शख (दूसरा पूर्णस्पष्ट नही) तीर्थंकरके प्रतीकरूप नही उत्कीर्ण किये गये अपितु जैन धर्मके प्रशस्त चिन्होके अंतर्गत होनेके कारण कमल, चक्र, त्रिरत्न आदिके साथ यहा चित्रित कर दिये गये है। शखनिधिके रूपमें इनका चित्रण मथुरासे प्राप्त कुषाण-कालीन अन्य कतिपय शिलाखडों परभी पाया जाता है। यदि यह कहा जाय कि सुव्रतमुनिका चिन्ह विशेष कूर्म यहां क्यों नहीं बताया गया तो कह सकते है कि कुषाण तथा गुप्तकालीन कितनीही तीर्थंकर मूर्तिया मिली है जिन पर उन-उन तीर्थंकरोंके चिन्ह नहीं मिलते। चिन्हों या प्रतीकोंका चित्रण मध्यकालसेही विशेष रूपमें पाया जाता है। 'नदिआवर्त' पाठके आधारपर फ्यूहरर, स्मिथ आदिका मत है कि प्रस्तुत शिलापट्ट पर अठारहवें तीर्थंकर अरनाथकी, जिनका चिन्ह नाद्यावर्त है, मूर्ति रही होगी। परतु उपर्युक्त कथनके आधारपर यह मत निर्विवाद नहीं प्रतीत होता।

इस लेखकी सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात इसमें 'देवनिर्मित वोद्द स्तूप' का उल्लेख है। इस लेखके मिलनेसे पूर्व लोगोंकी धारणा थी कि भारतमें सबसे पहले बौद्ध स्तूपोंका निर्माण किया गया।

परंतु प्रस्तुत लेख द्वारा यह धारणा भ्रांत सिद्ध हुई और यह प्रमाणित होगया कि बौद्ध स्तूपोंके बननेके कई शताब्दी पूर्व जैन स्तूपों आदिका निर्माण हो चुका था। इस लेखकी पुष्टि साहित्यिक प्रमाणोंसेभी होती है जिन्हें ब्यूलर, स्मिथ आदि पाश्चात्य विद्वानोनेभी स्वीकार किया है। सबसे पहले ब्यूलरने जिनप्रभरचित 'तीर्थकल्प' की ओर विद्वानोंका ध्यान आकर्षित किया, जिसमें प्राचीन प्रमाणोंके आधार पर मथुराके देवनिर्मित स्तूपकी नींव पडने तथा उसको मरम्मत कराने आदिका वर्णन है।[२] इस ग्रन्थके अनुसार यह स्तूप पहले स्वर्णका था और उस पर अनेक मूल्यवान पत्थर जडे हुए थे। इस स्तूपको कुबेरा देवीने सातवें तीर्थकर सुपार्श्वनाथके सम्मानमें स्थापित कराया था। तेईसवें जिन पार्श्वनाथके समयमें इस स्वर्ण-स्तूपको चारों ओर ईंटोंसे आवेष्टित किया गया और उसके बाहर एक पाषाण-मंदिरकाभी निर्माण किया गया। 'तीर्थकल्प' से यहभी पता चलता है कि भगवान् महावीरकी ज्ञान-प्राप्तिके १३०० वर्ष बाद मथुराके इस स्तूपकी मरम्मत बप्पभट्ट सूरिने कराई। भगवान् महावीरका उक्त समय छठी शती ई० पू० का मध्य मानने पर स्तूपकी मरम्मत करानेका काल आठवीं श० के मध्य भागमें आता है। अतः यह निश्चित है कि इस काल तक कंकाली टीलेपर उक्त स्तूपका अस्तित्व था। पांचवीं शतीमें मथुरा पर आक्रमण करने वाले हूणोंने संभवतः इस स्तूपको नष्ट करनेसे छोड दिया। दसवी तथा ग्यारहवीं शतीके दो अभिलेखोंसे पता चलता है कि कमसे कम १०७७ ई० तक कंकाली टीलेपर जैन स्तूप तथा मंदिर बने हुए थे।[३] संभवतः देवनिर्मित स्तूपकाभी अस्तित्व इस काल तक रहा होगा क्योंकि बप्पभट्ट सूरिने लगभग तीन शताब्दी पहलेही उसकी मरम्मत करा दी थी और उसके अनंतर १०७७ ई० तक आक्रमणकारियोंका विध्वंसक हाथ इधर नहीं बढा था। भगवान् पार्श्वनाथका समय, जब कि 'बोद्ध' स्तूपका पुनर्निर्माण कराया गया, ६०० ई० पू० से पहलेका है, क्योंकि वे भगवान् महावीर (ई० पू० ५९९-५२७) के पूर्वज थे। द्वितीय शती ई० में स्तूपका यही पुनर्निर्मित रुप जनताके समक्ष था, जिसके कला-सौंदर्य पर मुग्ध होकर जनताने उसे 'देवनिर्मित' उपाधि द्वारा अभिहित किया।

"जैन-वचन अंजनवटी, आंजैं सुगुरु प्रवीन।
रागतिमिर तऊ ना मिटै, बडो रोग लखलीन॥"
—कविवर भूधरदासजी

---

२. ब्यूलर—ए लीजेंड ऑफ दि जैन स्तूप ऐट मथुरा, प्र० १८९७।
३. देखिए जैन ऐंटिक्वेरी, जुलाई, १९४६, पृ. ४०-४३।

Fig. IV कौशाम्बी से प्राप्त तीर्थंकर चन्द्रप्रभकी गुप्तकालीन खंडित मूर्ति। (चित्र नं. १)
(Mutilated Image of Tīrthaṃkara Chandraprabha from Kauśāmbī)
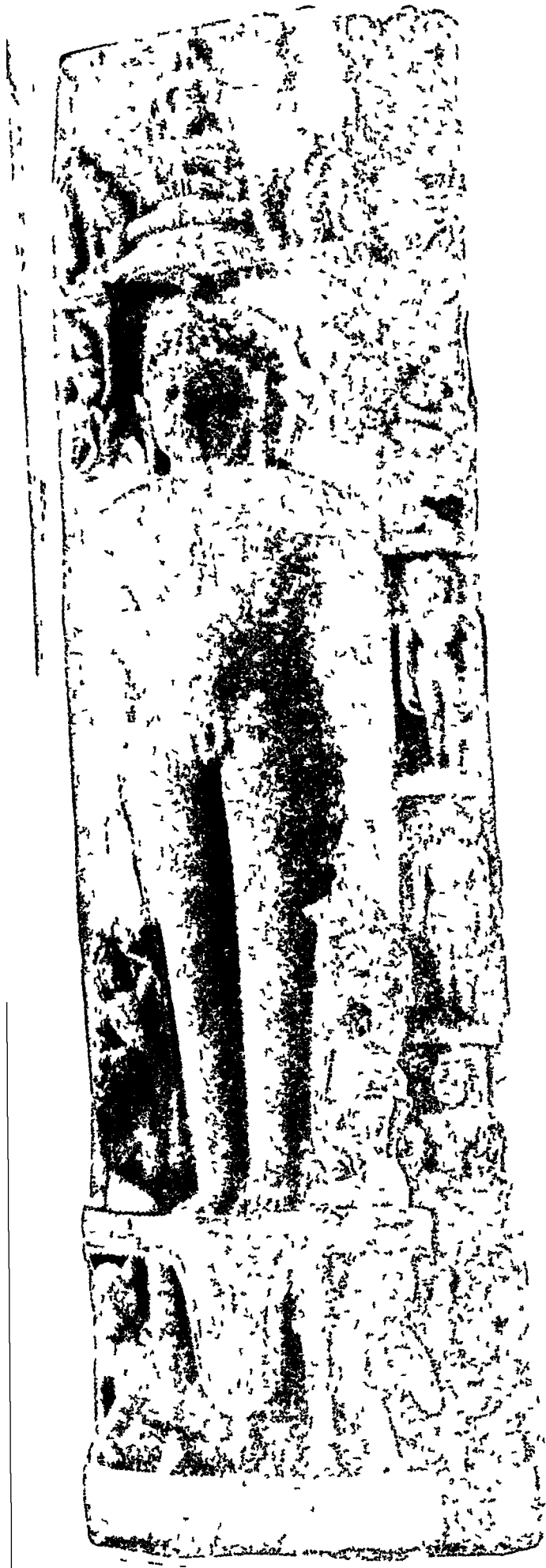
Fig VI जसो से प्राप्त जिन-मूर्ति।
(चित्र स. ३)

Fig. VII जसो से प्राप्त तीर्थंकर नेमिनाथ की मूर्ति।
(चित्र सं. २)

(" प्रयाग सग्रहालय मे जैन मूर्तिया "—लेख देखो)
Images of Jinas from Jaso, Dist. Allahabad

किंतु इन शताब्दियोंकी मूर्त्तियां अप्राप्य है। जैन मूर्त्तिपूजाका सबसे महत्वपूर्ण केंद्र मथुरा रहा है। वहा ककाली टीले पर जो मूर्त्तियां प्राप्त हुई वे अधिक तर कुषाणकालीनही हे और उनका निर्माण काल ८२ ई० से १७६ ई० के बीचका है। इन मूर्तियों पर प्रायः दाताओंके नामभी अकित हैं। जैन मूर्तियोका दूसरा विशाल संग्रह राजगृहमें प्राप्त हुआ है। स्मरण रहे कि अनेक जैन तीर्थकरोंने मगधमें या तो जन्म लिया या महाप्रचारभी किया।

जैन धर्मकी दो शाखाओ श्वेताम्बर तथा दिगम्बरकी मूर्त्तियोमें भिन्नता थी। श्वेताम्बरोंकी मान्यता है कि पार्श्वने तो वस्त्र पहिरनेकी अनुमति दी, परतु वर्धमान्‌ने नग्न रहनेका आदेश दिया। १२ वी शताब्दीके बाद अधिकतर मूर्त्तियोमें लिगको हाथोंके नीचे छिपानेकी प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है।[१]

प्रस्तुत सग्रहालयमे इस समय अनेक जैनधर्म सबंधी मूर्त्तिया सग्रहीत हैं। इनमें अधिकतर जसो, कौशाम्बी, तथा खजुराहोसे आई है। अभी तक इन पर न तो कहीं लिखा गया है और न ये प्रकाशितही हुई है। सबसे प्रारंभिक मूर्त्ति चंद्रप्रभकी (चि. स. १) है। यह मूर्त्ति १९३७ ई० में कौशाम्बीके खडहरोंसे प्राप्त हुई थी। इसका निर्माण काल छठी-सातवीं शताब्दीके लगभग जान पडता है। मूर्तिका मुह खडित हो गया है।

तीर्थंकर पलथी मार कर ध्यान मुद्रामे बैठे हैं। हथेली तथा पैरके तलवो पर कमल तथा वक्ष पर श्रीवत्स चिन्ह अंकित है। कमलके आसनके नीचे अलग दिशाओंकी ओर देखते हुये दो सिंह हे। इनके बीच लटकते पर्देमे तीर्थकरका लक्षण अर्द्धचन्द्रका है। सिरके पीछे सुदर अलकरण युक्त एक प्रभामंडल है। सिरके ऊपर एक एक छत्रके ऊपर ढोलका है और उसके दोनों ओर दो गधर्व हे। तीर्थंकरके अगल बगलमें चवर लिए दो चरभी खडे है।

कलाकी दृष्टिसे यह मूर्त्ति अद्वितीय है। तीर्थंकरके शारीरिक अवयव अति लावण्यमय है।

चंद्रप्रभ तीर्थकरकी एक और मूर्तिभी प्रयाग सग्रहालयमें है। यह इलाहबाद जिलेमें स्थित जसो नामक स्थानसे प्राप्त हुई है। जसोसे एक दर्जनके लगभग मूर्त्तियां प्राप्त हुई हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि यहा पर इस धर्मका कोई प्रसिद्ध केंद्र था। इस मूर्त्तिमें तीर्थंकर ध्यान मुद्रामें सिहो द्वारा उठाये आसन पर बैठे हैं। दायी ओर कोने पर हाथोंमें कुछ लिए एक देवी तथा बायीं ओर किसी पुरुषकी आकृति है। तीर्थंकरके दोनो ओर एक २ जिन खडे हैं जिनके पीछे चवंरग्राही अकित हे। इनके ऊपर फिर एक बैठे हुये जिन हैं। तीर्थंकरके सिरके ऊपर एक एक छत्र है जिसके दोनो ओर गधर्व हैं। सिहासनके मध्यमें एक लटकते पर्दे पर अर्द्धचंद्रमा बना हुआ है। इसके साथ किसी फूलका गुच्छाभी है।

जसोसे नेमिनाथकीभी अनेक मूर्तिया लाल पत्थर पर अकित प्राप्त हुई हैं। एक उदाहरणमे नेमिनाथ कायोत्सर्गकी मुद्रामे सिंहासन पर खडे है। पैरोंके दोनो ओर एक २ रक्षक खडे हैं। पैरोंके नीचेसे लटकते पर्दे पर शंख चित्रित है। (चि. सं. २).

१. कोई उदाहरण देना चाहिये था। —सं.

इसी स्थलसे प्राप्त एक दूसरी महत्वपूर्ण जिनकी खडी मूर्त्ति (चि. स. ३) प्राप्त हुई है। जिन सिंहासनके उपर कायोत्सर्ग मुद्रामे खडे हैं। सिहासनकी दायीं ओर एक पुरुष दो घडो पर स्थित आसन पर बैठा हैं। इसके ऊपर गोदमे बालकको लिए अम्बिका चित्रित है। देवीके ऊपर फिर दो जिन एक दूसरेके ऊपर उभाड कर बनाए गए है। खेद है कि इस मूर्त्तिका बायां भाग खंडित हो गया है। जिनके पैरोके निकट एक रक्षक तथा एक २ उपासक बैठे हैं। पैरोंके नीचे पर्दे पर कोई पशु जिसका पिछला भाग मात्र नष्ट होनेसे बच गया है, दीख पडता है। सिरके ऊपर ३ परतोंकी छत्री है, और कलशके ऊपर चौडे पर किए, एक व्यक्ति ढोल बजा रहा है। छत्रीके दोनों ओर गधर्व और हाथी पर बैठे तथा हाथमें घट लिए व्यक्ति चित्रित किए गए हैं।

ऋषभनाथकी केवल एक मूर्त्ति सग्रहालयमे है। तीर्थंकर ध्यान मुद्रामे एक सिहासन पर बैठे हैं। वक्ष, पैरके तलुवों तथा हाथो पर कमल अंकित है। दायी तथा बायीं ओर चवर लिए एक २ यक्ष खडा है। इनके सिरके ऊपर एक २ जिनभी ध्यान मुद्रामे बैठे चित्रित किए गए हैं। पैरोके नीचे जो पर्दा है, उसके निकटही तीर्थंकरका चिन्ह वृषभ अकित है। नीचे पीठिकाके एक कोने पर गोमेध यक्ष तथा दूसरी ओर चक्रेश्वरी स्थापित है। सिरके पीछे प्रभामडल तथा ऊपर एक तीन परतकी छत्री है। छतरीके सिरे पर, एक व्यक्ति पैर पीछे किए ढोलक बजा रहा है। प्रभामडलके दोनो ओर हाथी बने हैं।

ध्यान मुद्राकी एक दर्शनीय मूर्त्ति खजुराहोसे प्राप्त हुई है। आसन दो सिंहोकी पीठ पर स्थित है। तीर्थंकर पलथी मार कर पद्मासनमें बैठे है, दोनो बगलमे एक २ जिन खडे हैं। इनके ऊपर फिर गधर्व चित्रित हैं। सिरके पीछे प्रभामडल है जिसके मध्यमे छत्रीका डडा स्थित है। मूर्त्तिके ऊपरी भागमे कुछ तीर्थंकरोकी मूर्त्तिया बताई गई है। पैरोके नीचे झूलते पर्दे पर एक श्रृंगी या हिरन सदृश पशु अकित है। यह बतलाना कठिन है कि यह मूर्त्ति किस तीर्थंकरकी है : हिरन तो शातिनाथ का लांछन है, परतु अब तक प्राप्त मूर्त्तियोमे हिरन आसनके नीचे सिहोंके साथ चित्रित रहते है।

जसोसे प्राप्त एक अन्य ध्यान मुद्रामें अकित भारी मूर्त्ति (चित्र स. ४) उल्लेखनीय है। इसमें तीर्थंकर पद्मासनमें बैठे हैं। सिहासन पर कमल चित्रित है तथा वह दो सिंहकी पीठ पर स्थित हैं। दो चंवरधारी यक्ष दायीं बायीं ओर खडे हैं। इनके ऊपर फिर दो २ जिन है। सिरके पीछे अंडाकृति प्रभामंडल है और इसके दोनों ओर माला लिए तीन गंधर्व हैं, पीठिकाकी दायीं ओर कोने पर गोमुख तथा बायी ओर दो देविया अकित है। इस मूर्त्तिमें दो विशेष बाते दृष्टिगोचर होती हैं। एक तो इसमें तीर्थंकर विशाल जटा पहिने है। इस प्रकारकी जटाए राजगिर तथा कुंछ अन्य स्थानोंकी मूर्त्तियोंमेभी दीख पडती है। दूसरी उल्लेखनीय बात, चवरधारी रक्षकोंकी टोपिया है। इन टोपियोंका रूप वैदेशीयसा लगता है। मथुरासे प्राप्त कुछ मूर्त्तियोंमेंभी ऐसे तत्व दीख पडते हैं। कोईभी लक्षण प्रत्यक्ष न होनेसे इस मूर्त्तिका रूप बतलाना कठिन है। (जटाधारी मूर्त्तिया प्रायः प्रथम तीर्थंकरकी मिलती हैं। सभव है, यह मूर्तिभी ऋषभदेवकी हो। —का० प्र०)

एक दूसरी मूर्त्ति, जिसमें कायोत्सर्ग मुद्रामें जिन खडे हैं,भी महत्वकी है। पैरोंके निकट चंवर

Fig. VIII
जसो से प्राप्त एक विशाल जैन तीर्थंकर प्रतिमाका खंडित सिर ।

जसो (प्रयाग) से प्राप्त भ. पार्श्वनाथकी मूर्ति (चित्र सं. ९)
Fig IX Tīrthamkara Pārśva's Image from Jaso.

जसो (प्रयाग) से प्राप्त एक तीर्थंकर की जटाधारी मूर्ति । (चित्र स. ४)
Fig. X An Hair-Plated Jina Image from Jaso

यक्षी महामानसी की चतुर्भुजी मूर्ति। (चित्र सं. ६)
Fig XI An Idol of Four Handed Yaksī Mahāmānasī

लिए एक २ रक्षक है। सिरके ऊपर छत्री है जिसके दोनों ओर गधर्व उडते दिखलाई दे रहे हैं। जिन बायें हाथमें कोई फल लिए हुए है। मूर्त्तिमें कोई ऐसा लक्षण नहीं जिससे उसका रूप बतलाया जा सके।

इसी शैलीकी छोटे आकारकी एक दूसरी मूर्त्तिभी है। इसमेंभी जटाधारी तीर्थंकर पद्मासनमें बैठे हैं। बगलमें एक २ जिन चित्रित है। इनके ऊपर फिर दो ओर सबसे उपर तीन खडे जिन अंकित हैं। आसन तीन भागोंमें बना है। आसनकी दायीं ओर नाग-फणोके नीचे एक जिन बैठे हैं। बायीं ओर एक देवी बालकको गोदमें लिये हुये है। उसके साथ एक अन्य स्त्रीभी है। मूर्त्तिका ऊपरी तथा दायी ओरके भाग खडित हो गए हैं।

पार्श्वनाथकी कई मूर्त्तियां प्रयाग संग्रहालयमें है। प्रायः पत्थरके सामने तथा एक ओर यह तीर्थंकर कौसग्ग (कायोत्सर्ग) मुद्रामें खडे पाये जाते है। इनके पैरोके पीछेसे नाग घुमावमें उठ कर, सिंहके ऊपर फर्णोका चदोवा प्रस्तुत करते है। कुछ मूर्त्तियोमें दो रक्षक मात्र है, किंतु कुछमें रक्षकोंके साथ एक २ बैठे उपासकभी है। (चित्र स. ५)

जैन देवियोंकी थोडीसी मूर्त्तिया प्रयाग सग्रहालयमें है। सबसे महत्वकी एक सुदर गठित चतु-र्भुजी देवीकी मूर्त्ति है। (चित्र स. ६) इसके चारों ओर प्राकारमें अनेक देवी, देवता तथा अलं-करणके उपादान चित्रित है। देवीका कोई वाहन नही दीख पडता। चारो हाथभी खडित हो गए है। भावभंगी मात्रसे यह महमानसीकी मूर्त्ति लगती है। पैरोंके नीचे पीठिकाके मध्यस्थ एक नीलो-त्पल है जिसके दोनों ओर उपासक बैठे है, और अगलबगलमें एक खडा तथा दूसरा सिंह पर चढा रक्षक अंकित है। देवीके दोनों ओर आठ २ विद्या देवियां तथा कुछ खडे जिन-चित्रित हैं। इन विद्यादेवियोंके रूप ऊपर खुदे नामोसे ज्ञात हो सकते है। देवीके सिरके उपर एक उमडे हुये पटल पर नेमिनाथ तथा एक चतुर्भुजी देवी स्थापित है। इनके अगलबगलमेंभी कुछ देवियां बनी हैं।

कौशाम्बीसे कुछ सुदर आयगपट्टभी प्राप्त हुये है। प्रकृतिके नाशकारी तत्त्वोंसे ये नष्टसे हो गए है। एक बडे पत्थर पर २४ जिन अंकित है। पांच पंक्तियोमें तो जिन ध्यानमुद्रामें बैठे हैं। छटी पक्तिमें चारही जिन है। प्रायः सभी जिनोंके चेहरे जान बूझ कर खंडित किए गए है। दूसरा आयगपट्ट आकारमें छोटा है। इसमें दो पक्तियोमें आठ २ जिन खडे है। नीचेकी पक्तिमें बायीं ओरसे अंकित पाचवें जिनके सिरके ऊपर नागफणा है। इन आयगपट्टोके जिनोंके कोई लक्षण अंकित नहीं है, इसलिए अभी वास्तविक रूप नहीं जाना जा सकता। कुछ उदाहरणोंमें वक्ष पर केवल श्रीवत्स चिन्ह दीख पडता हैं।

जैन ज्योतिषकी व्यावहारिकता।

(ले० श्री० प० नेमिचन्द्रजी जैन, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न, आरा)

इतिहास एव विकासक्रमकी दृष्टिसे जैन ज्योतिषका जितना महत्त्व है, उससे कहीं अधिक व्यावहारिक दृष्टिसे। जैन ज्योतिषके रचयिता आचार्योंने भारतीय ज्योतिषकी अनेक समस्याओंको वडीही सरलतासे सुलझाया है। यों तो समस्त भारतीय ज्योतिप वाङ्मयही धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्थाओंको सुसम्पादित करनेवाला है। इसी कारण भारतीय आचार्योंने इसे नेत्र कहा है। यहाँ नेत्र शब्द केवल रूपक नहीं है; वस्तुतः समस्त ज्ञान विज्ञानको अवगत करने के प्रधान साधनके रूपमें व्यवहृत हुआ है। कहा गया है कि —

अन्यानि शास्त्राणि विनोदमात्रं न किंचि तेषां तु विशिष्ट मस्ति
चिकित्सितं ज्योतिष मन्त्रवादः पदे पदे प्रत्ययमावहन्ति ॥

अप्रत्यक्षाणि शास्त्राणि विवादस्तेपु केवलम्।
प्रत्यक्षं ज्योतिषं शास्त्रं चन्द्रार्कौ यत्र साक्षिणौ ॥

यथा शिखामयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेदांगशास्त्राणां ज्योतिषं मूर्धनि स्थितम् ॥

लोकाचार, लोकव्यवस्था और प्रकृतिके रहस्यका परिचय पानेके लिये ज्योतिष शास्त्रकी आवश्यकता भारतीय वाङ्मयमें प्रायः सर्वत्र बतलाई गई है। जैन ज्योतिषभी भारतीय ज्योतिष वाङ्मयका एक अंग है, अतएव इसकाभी प्रधान उद्देश्य लोक व्यवस्थाको सम्पन्न करनेके लिये व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करना है। रिष्टसमुच्चयकी प्रारम्भिक गाथाओंसे ध्वनित होता है कि छद्मस्थ अल्पज्ञानी ज्योतिष द्वारा अपने उदय और क्षयोपशमको ज्ञान कर धर्मसाधनमे प्रवृत्त हो, ताकि उसके कर्मोंकी निर्जरा जल्द हो सके। क्योंकि इस अनित्य संसारमें केवल एक धर्मही नित्य और स्थिर रहनेवाला है —

पत्तंमि अ मणुअत्ते पिम्मं लच्छी विजीविअं अथिरं।
धम्मो जिणिंददिट्ठो होइ थिरो निव्विअप्पेण ॥

— रि. स. गा० ३

तात्पर्य यह है कि जैन मान्यताकी दृष्टिसे यह शास्त्र भावी शुभाशुभ फलोंका द्योतक है, परन्तु वे शुभाशुभ फल अवश्यही घटित होंगे, ऐसा इस शास्त्रका दावा नहीं है। प्रत्येक आत्मा कर्म करनेमें स्वतन्त्र है, वह अपने अद्भुत कार्यों द्वारा असमयमेंही कर्मोंकी निर्जरा कर उसके सहज स्वभाव

द्वारा मिलनेवाले फलका त्याग कर सकता है। इसलिये जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित ज्योतिष भविष्य फल प्रतिपादक होनेके साथ साथ कर्त्तव्यकी ओर सावधान करनेवालाभी है। जैन मान्यताका एक मात्र ध्येय आत्मिक विकास है, अतः ज्योतिष इस विकासमे सब प्रकारसे सहायता प्रदान करता है।

यद्यपि प्रारम्भमें जैनाचार्योंने वैदिक ज्योतिषके समानही केवल समयशुद्धिको अवगत करनेके लिये इस शास्त्रके बीज मूलतत्त्वोंका विकास किया था। पर आगे जाकर जीवनका क्षेत्र जितना बढता गया ज्योतिषके विषयमेंभी उतनाही परिष्कार एवं विकास होता गया तथा मानव जीवनके विभिन्न आलोच्य विषयोंका सकलनभी इस शास्त्रके अन्तर्गत माना जाने लगा।

जैन ज्योतिषमें व्यञ्जन, अंग, स्वर, भौम, छिन्न अन्तरिक्ष, लक्षण और स्वप्न इन आठ निमित्तो द्वारा भूत, भविष्यत और वर्तमानकालीन सुखदुःख, जीवन-मरण प्रभृति अनेक रहस्योंका उद्घाटन किया गया है। व्यावहारिक पक्षको पुष्ट करनेके लिये जैन ज्योतिर्विदोने फलित अंग पर अत्यधिक रचनाएँ की है। अभी तकके उपलब्ध जैन ज्योतिषमें मुहूर्त्त, प्रश्न, जन्मकुण्डली, वर्षफल एवं संहिता सम्बन्धी अन्य जीवनके आलोच्य विषयोंका प्रतिपादन सरल और विस्तृत रूपमें मेरे देखनेमें आया है। जैन ज्योतिषकी प्रतिपादनशैली इतनी सरल और आशुबोध करानेवाली है कि मंगलाचरणके पश्चात् प्रत्येक ग्रन्थके प्रारम्भमेंही सारे लौकिक वर्ण्य विषयको दो चार गाथाओ या श्लोकोंमें बता दिया जाता है। उदाहरणार्थ कुछ ग्रन्थोंकी व्यावहारिक शैलीका नीचे विवेचन किया जाता है।

व्यवहारचर्चा नामक ग्रन्थमें रचयिताने ग्रन्थारम्भमें ग्रन्थ निर्माणके उद्देश्य और विषय प्रतिपादनका निर्देश एकही श्लोकमें कर दिया है —

दैवज्ञदीपकलिकां व्यवहारचर्या–
आरम्भसिद्धिमुदयप्रभदेव एताम्।
शास्तिक्रमेण तिथि[1]-वार[2]-भ[3]-योग[4]-राशि[5]-
गोचर्य[6]-कार्य[7]-गम[8]-वास्तु[9]-विलग्न[10]-मिश्रैः[11]

व्याख्या—दैवज्ञानां गणकाना दीपकलिकामिव स्पष्टार्थं प्रकाशितत्वात् व्यवहारः शिष्टजन समाचारः शुभतिथिवारमादिषु शुभकार्यकारणादि रूपस्तस्थचर्या इति कर्त्तव्यता रूपाऽभिधेयतया यस्या सा ताम। प्रयोजनं च द्वियानन्तरं परंपरंच। तत्रानन्तरप्रारम्भसिद्धिग्रन्थस्य प्रयोजनेश्रोतॄणां व्यवहारकौशलसिद्धिः, परंपर तु यथावद्व्यवहार प्रवृत्त्या धर्मार्थकामरूपाणा पुरुषार्थानां सिद्धिः, क्रमान्मोक्षपुरुषार्थस्यापीति।

अर्थात् आचार्यने व्याख्यामें बतलाया है कि व्यवहारको सम्पन्न करनेके लिये शुभ तिथि, वार, नक्षत्र, योग, करण, राशि आदिको अवग्रह कर प्रत्येक कर्त्तव्यकर्मको उचित समय पर सम्पादित करना चाहिये। इन कर्त्तव्योंकी यथासमय समाप्ति करनेसे लोकाचारका पालन ठीक होताही है, साथ ही धर्म, अर्थ और काम इन पुरुषार्थोंके सेवनमें प्रवीणता प्राप्त होती है। इनके हेयोपादेयकी विवेकशीलताही मोक्ष पुरुषार्थकी प्राप्तिमें सहायक होती है। अतएव तिथि, वार, नक्षत्र प्रभृति ग्यारह

अध्यायोंमें समयके शुभाशुभत्वका निरूपण कर सांसारिक प्राणियोंको चतुर वर्गके सेवनके लिये आगरूकताका निरूपण किया गया है।

ज्योतिषसारमें निरूपित विषयोका कथन करते हुए लिखा है कि लौकिक ज्ञानको सम्पन्न करनेके लिये निम्न बातोका ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। इनके ज्ञात हो जानेसे व्यक्ति शिष्टजन समुदायमें अपने कृत्योंको सुन्दर ढगसे सम्पन्न कर आदर प्राप्त करता है—

तिहि वार रिक्ख जोग, होडाचक्कम्मि रासि दिणसुद्धी।
वाहण हंसो वच्छो, सिवचक्कं जोगिणी राहो॥

भिगु कील परिध पंचग, सूलं रविचारु थिवर सव्वंकं।
रवि राजकुमार जाला, सुभ असुभं जोग अभियाय॥

अधपुहर कालवेलं कुलकं अवकुलकं कंटकं ओगं।
कक्कड यमघंटा यं, उप्पाय मिच्च काण सिद्धं॥

खंजो यमल संवत्त, सूलं सत्तु य भसम दंहाय।
कालमुही वज्जमुसलं, भद्दा कुंभोइ जिमदाढं॥

चरजोग कालपासं, छीया विजया य गमनं तारबलं।
गह सिखिवत्था गुणसट्ठि, भणियं बोलेहिं अणुक्कमसो॥

अर्थात्—तिथि, वार, नक्षत्र, योग, होडाचक्र, राशि, दिनशुद्धि, वाहन, हंस, वत्स, शिवचक्र, योगिनी, राहु, भृगु, कीलक, परिध, पचक, शूल, रविचार, स्थिरयोग, सर्वांकयोग, रवियोग, राजयोग, कुमारयोग, ज्वालामुखीयोग, शुभयोग, अशुभयोग, अमृतादियोग, अर्द्धप्रहर, कालवेला, कुलिक, उपकुलिक, कटकयोग, कर्कटयोग, यमघटकयोग, उत्पातयोग, मृत्युयोग, काणयोग, सिद्धयोग, खंजयोग, यमलयोग, सवर्तकयोग, शूलयोग, शत्रुयोग, भस्मयोग, दडयोग, कालमुखीयोग, वज्रमूसलयोग, भद्राफल, कुभचक्र, यमदाढचक्र, चरयोग, कालपाश, छींकफल, विजयमुहूर्त्त, गमनफल, ताराबल, नवग्रहचक्र और चन्द्रावस्था ये ५९ द्वार—प्रकरण इस ग्रन्थमे कहे जायगे। ज्योतिषके इन पारिभाषिक प्रकरणोके सम्बन्धमे ज्ञान प्राप्त कर लेनेसे सभी व्यावहारिक कार्य अच्छे ढंगसे सम्पन्न किये जा सकेंगे। समयानुसार कर्त्ताकर्त्तव्योका परिज्ञान उपर्युक्त ज्योतिषककी चीजोके ज्ञात हो जाने पर अवश्य हो जायगा। समयके शुभाशुभका जानना इस लिये आवश्यक है कि ससारके समस्त कार्यों पर इसका प्रभाव पडता है। भारतीय सस्कृतिमे इसी कारण समय विज्ञानको विशेषता प्रदान की गई है। जैन ज्योतिषके रचयिताओंने इसी कारण अपने समय विज्ञानवाले ग्रन्थोमे समय शुद्धिके साधक और असाधक कारणोंका विस्तारसे वर्णन किया है।

मुहूर्त्त विषयके अलावा जन्मपत्र निर्माण, उसका फलादेश, वर्षपत्र एव उसके फलादेशका चमत्कारपूर्व वर्णन जैन ग्रन्थोंमे है। मानसागरीमे जन्मपत्रके बनानेकी और फल कहनेकी सारी बिधियाँ सरलतापूर्वक रोचक ढगसे बताई गई हैं। इसी कारण आज यह ग्रन्थ समस्त जैना-जैन

ज्योतिर्विदोंका कण्ठहार बना हुआ है। शायदही ऐसा कोई भारतीय ज्योतिषी होगा, जो फल कहनेके लिये इसका उपयोग न करता हो। जन्मपत्र निर्माण विधिमे प्रतिपाद्य विषयसूची निम्न प्रकार दी है। पाठक इस सूचीके आधारसे ज्ञात कर सकेंगे कि एकही ग्रन्थमें कितने आवश्यक और उपयोगी विषयोंका समावेश किया गया है —

अथ जन्मकुण्डली—कलियुगफल सवत्सर फलायन फलगोलफल— ऋतुफल मासफल पक्षफल तिथिफल वारफल दिनजातफल रात्रिजातफल योगफल करणफल गणफल योनिफल वारायुर्लग्नफलांश फलानामग्रे चन्द्रकुण्डालिकाचक्रं चन्द्रकुण्डलीफलम्। चन्द्रात्फलराश्यायुर्भवसाधनार्थं सूर्यादिक-मध्यमसूर्यादिक स्पष्ट सूर्यादिकतात्कालिक भावचक्रविधि फलद्वादश भवने नवग्रहाणा द्वादशभवननिरीक्षणविधि द्वादशभवने नवग्रहाणां फलं द्वादशभवनेशफल द्वादशभवने द्वादश लग्नफलं द्वादशलग्नानां स्वामिफलं षड्वर्ग मैत्रीचक्रं षड्वर्ग कुण्डलीचक्रं पञ्चमहापुरुष योगफल सुतफाडनफादुर्धराकेमद्रुमवोसिवेश्यु मयचरी योगिनीफल राजयोग द्वादशायुर्गति नवग्रहफलदीप्त स्वस्थ नव प्रकार ग्रहफलम् अरिष्टभंग राजयोगचक्रम्, अश्वचक्रम्, शतपदचक्रम्, सूर्यकालानल चन्द्रकालानल यमदंष्ट्राभिनाडी यन्त्र, सर्वतोभद्रचक्रम्, चन्द्रावस्थाचक्र रश्मिचक्रं रश्मिफल।.....

अर्थात्—जन्मपत्रीमें जन्मकुण्डलीचक्र, जन्मकालीन युग-तिथि-वार-नक्षत्र-योग-करण-अयन-मास-ऋतु-समय-योनि-गण, दृश्यतारा आदिका फल, पश्चात् चन्द्रकुण्डलीचक्र और उसका फलादेश, नवग्रह स्पष्ट चक्र, द्वादशभाव स्पष्ट चक्र, तात्कालिक चक्र, द्वादश स्थानोमे ग्रहोंका फल, ग्रहोंकी दृष्टियोका फल, नवांश, द्वादशांश, त्रिशांशका फल, बारह भावोंमें लग्नेश आदि द्वादश घरोंके स्वामियोका फल, षड्वर्गचक्र, अनका, सुनका, दुर्धरा, केसद्रुम, आदि षोडश योगोंका फल, बारह प्रकारसे आयुका साधन, ग्रहोंकी दीप्त, स्वस्थ आदि दस अवस्था है उनका फल, अरिष्ट योग, अरिष्टभंग योग, द्रव्यप्राप्ति योग, विद्या सन्तान-विवाह आदि योग, अष्टोत्तरी, विंशोत्तरी और योगिनी दशाओंका गणित और उनका फल, एव इन दशाओंकी अन्तर्दशाओंका गणित, और उनका फलादेश इत्यादि विषयोंका सन्निवेश किया जाता है।

इस प्रकार अकेले इसी ग्रन्थसे कोईभी व्यक्ति अच्छा ज्योतिषी बन सकता है। त्रैलोक्यप्रकाश नामक ग्रन्थमें सारा भूत, भविष्यत और वर्तमानकालीन फल लग्नाधीन बताया है; इसलिये लग्नको ज्ञान, दीप, तत्त्व, माता, पिता, बन्धु, सरस्वती, देवी, सूर्य, चन्द्रादि नवग्रह, जल, अग्नि, वायु, आकाश सब कुछ बताया है। लग्न और ग्रहोंके सम्बन्धसे सुन्दर फलाफल बताया गया है —

> लग्नं देवः प्रभुः स्वामी लग्नं ज्योतिः परं मतम्।
> लग्नं दीपो महान् लोके लग्नं तत्त्वं दिशन् गुरुः॥
>
> लग्नं माता पिता लग्नं लग्नं बन्धुर्निजः स्मृतम्।
> लग्नंबुद्धिर्महालक्ष्मीर्लग्नं देवी सरस्वती॥

इस ग्रन्थमें आगे लग्नादि द्वादश भाव तथा उनमे रहनेवाले ग्रहोंके सम्बन्धसे लाभालाभ,

विवाह, जीवन-मरण, सुभिक्ष-दुर्भिक्ष, सन्तानप्राप्ति, रोगारोग, गमनागमन, राष्ट्र और देशकी शान्ति-अशान्ति, जय-पराजय, सन्धि-विग्रह, वृष्टि-अतिवृष्टि-अनावृष्टि, धान्योत्पत्ति, समर्घ-महर्घ, ईति-भीति इत्यादि विभिन्न जीवनोपयोगी विचारणीय विषयोंका विवेचन किया है। इस ग्रन्थमे ऐसा एकभी लौकिक विषय नहीं है, जिस पर ग्रन्थकर्त्ताने विवेचन न किया हो।

प्रश्न विषय तो जैन ज्योतिषका औरभी महत्त्वपूर्ण है। इसमें प्रश्नकर्त्ताके प्रश्नानुसार विना जन्मकुण्डलीके फल बताया गया है। तात्कालिक फल बतलानेके लिये इस अगकी बडी महत्ता है। प्रश्नोंका फल ज्योतिषमे तीन प्रकारसे कहा गया है —

१. प्रश्न समयकी लग्नकुण्डली बना कर उसके द्वादश भावोमे स्थित ग्रहोके शुभाशुभानुसार फल कहना। इस प्रक्रियामे फलादेश सम्बन्धी समस्त कार्रवाई समयके ऊपर अवलम्वित है। यदि समयमें तनिकभी हीनाधिकता हुई तो फलादेशमे बडाही अन्तर पड जाता है। जैनाचार्योने इस प्राक्रियाका प्रयोग बहुत कम किया है। दो-चार ग्रन्थोंमेंही यह विधि मिलती है।

२. स्वर सम्बन्धी सिद्धान्त है। इसमे फल बतलानेवाला अपने स्वर (श्वास) के आगमन और निर्गमनसे इष्टानिष्ट फलका प्रतिपादन करता है। इस सिद्धान्तसे फल बतलानेमे अनेक त्रुटियोंकी सभावना है क्योकि स्वरका वास्तविक ज्ञान योगी व्यक्तिही कर सकता है। सर्वसाधारणके लिये स्वरका साधन नितान्त कठिन है। इसी लिये जैन ज्योतिषमें इस सिद्धान्तका प्रयोग केवल नाममात्रकोही मिलेगा। कारण स्पष्ट है कि जो योगी है वे तो वातावरणको देख करही भविष्यत या भूत कालकी घटनाओको समझ जाते है। किन्तु साधारण व्यक्तिका ज्ञान उतना विकसित नहीं होता है जिससे वह ग्रन्थ पढ करभी उस चीजको समझ सके। इस योगज्ञानकी प्राप्ति साधनासे होती है, अतएव इसे जैनाचार्योंने ज्योतिषमें स्थान नही दिया है।

३. प्रश्नकर्त्ताके प्रश्नाक्षरोसे फल बतलाता है। इस सिद्धान्तका मूलाधार मनोविज्ञान है, क्योकि विभिन्न मानसिक परिस्थितियोंके अनुसार प्रश्नकर्त्ता भिन्न भिन्न प्रश्नाक्षरोंका उच्चारण करते हैं। यह सिद्धान्त अत्यन्त सरल और व्यावहारिक है; क्योकि कोईभी साधारण व्यक्ति पृच्छकके प्रश्नाक्षरोंको लिख कर जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित विधिसे विश्लेषण कर फल कह सकता है। जैन ज्योतिषमें इसी सिद्धान्तको लेकर दर्जनों ग्रन्थोंका निर्माण हुआ है।

इस प्रक्रियाकी मनोविज्ञानके सिद्धान्तोंके अनुसार सभीआ करनेसे ज्ञात होता है कि बाह्य और आभ्यन्तरिक दोनों प्रकारकी विभिन्न परिस्थितियोंके आधीन मानव मनकी भीतरी तहमे जैसी भावनाएँ छुपी रहती है वैसे प्रश्नाक्षर निकलते हैं। क्योकि शरीर एक मन्त्रके समान है जिसमे किसी भौतिक घटना या क्रियाका उत्तेजन पाकर प्रतिक्रिया होती है। यही प्रतिक्रिया मानवके आचरणमे प्रदर्शित हो जाती है। कारण अबाध भावानुषङ्गसे हमारे मनके अनेक गुप्त भाव भावी शक्ति, अशक्तिके रूपमें प्रकट हो जाते हैं तथा उनसे समझदार व्यक्ति सहजमेंही मनकी धारा और उससे घटित होनेवाले फलके समझ लेता है।

प्रश्नोंका विश्लेषण करनेके लिये अ ए क च ट[1] त प य श अक्षरोंका प्रथम वर्ग, आ ऐ ख छ ठ थ फ र ष अक्षरोंका द्वितीय वर्ग, इ ओ ग ज ड द ब ल स अक्षरोंका तृतीय वर्ग, ई औ घ झ ढ ध भ व ह अक्षरोंका चतुर्थ वर्ग और उ ऊ ङ ञ ण न म अं अः का पंचम वर्ग बताया है। इन अक्षरोंको एक स्लेट या कागज पर लिख कर प्रश्नकर्त्तासे स्पर्श कराना चाहिये, वह जिस अक्षरका स्पर्श करे, उसीके अनुसार आलिंगित आदि सज्ञाएँ ज्ञात कर फल कहना चाहिये। अथवा प्रश्नकर्त्ता आतेही जिस वाक्यका उच्चारण करे, उसी वाक्यके अनुसार अक्षरोकी सज्ञाएँ ज्ञात कर फल कहना चाहिये।

प्रश्नोंके प्रधानतः दो भेद बताये है —वाचिक और मानसिक। वाचिक प्रश्नोंके उत्तर अक्षरोंकी उत्तरोत्तर,[2] उत्तराधर, अधरोत्तर, अधराधर, वर्गोत्तर, अक्षरोत्तर, स्वरोत्तर, गुणोत्तर और आदेशोत्तरके द्वारा दिये गये हैं। और मानसिक प्रश्नोके–शब्दोंका उच्चारण बिना किये केवल प्रश्नोंको मनमें सोचनेसे, यानी कोई व्यक्ति अपने प्रश्नके सम्बन्धमे नहीं बताना चाहता है कि उसे कौनसी बात पूछनी है, ऐसे गुप्त रहस्य सम्बन्धी प्रश्नोंके उत्तर उससे किसीभी नदी, तालाव, देवता, फल, फूल आदिका नाम उच्चारण कराके उच्चरित अक्षरों परसे जीव, धातु और मूलभूत तीन प्रकारकी योनियोंकी संज्ञाओं द्वारा देने चाहिये। प्रश्न ग्रन्थोमे अ आ इ ए ओ ऊः इ क ख ग घ च छ ज झ ट ठ ड ढ य श ह ये इक्कीस वर्ण जीवाक्षर; उ ऊ अ त थ द ध प फ ब भ ष-स ये तेरह वर्ण धात्वक्षर एव ई ऐ औ ङ ञ ण न म ल र प ये ग्यारह वर्ण मूलाक्षर सज्ञक कहे हैं। प्रश्नाक्षरोंमें जीवाक्षरोंकी अधिकता होनेसे जीवसम्बन्धी प्रश्न धात्वक्षरोकी अधिकता होनेसे धातु सम्बन्धी प्रश्न और भूताक्षरोंकी अधिकता होनेसे मूल सम्बन्धी प्रश्न अवगत करना चाहिये। सूक्ष्मताके लिये जीवाक्षरोंके द्विपद, अपद, चतुष्पद और पादसकुल ये चार भेद बताये हैं। द्विपदादिकेभी अनेक भेद-प्रभेद करके प्रश्नोंका विचार किया गया है। इस प्रकार जैन प्रश्न शास्त्रमें अनेक विशेषताएँ है।

जैन सहिता ग्रन्थोमेसे प्रधान भद्रबाहु संहिता, केवलज्ञान होरा आदिमें अनेक व्यावहारिक विषयोका सन्निवेश है। इन ग्रन्थोमें पग-पग पर काम आनेवाली बातों पर प्रकाश डाला गया है। सामुद्रिक शास्त्र पर अनेक जैन रचनाएँ सरल और सुबोध रूपमें मिलती है। इनमे स्त्री और पुरुषोंकी शकल-सूरतके आधारसे शुभाशुभ फलोका निरूपण किया गया है। हाथ, मस्तिष्क और पैरकी रेखाओं परसेभी जीवनोपयोगी विषयोंकी मीमान्सा की गई है। निमित्तशास्त्रोंमें भौम, अन्तरिक्ष और दिव्य इन तीन प्रकारके निमित्तों द्वारा फलोंका निरूपण किया गया है। संहितासम्बन्धी रचनाएँ केवल ज्योतिष विषयकही नही कही जा सकती है, किन्तु इनमें आयुर्वेद, मन्त्रशास्त्र, रासायनिकशास्त्र आदि लोकोपयोगी अनेक विषयोंका सग्रह है। अकलंक संहितामें आयुर्वेदके सुन्दर और अनुभूतनुस्खे विद्य-

---

१. देखें–केवलज्ञान प्रश्न चूडामणि।

२. संज्ञाओंकी परिभाषा जाननेके लिये देखें–केवलज्ञान प्रश्न चूडामणिका प्रारम्भिक भाग तथा चन्द्रोमीलन प्रश्न।

मान हैं। इस प्रकार जैनाचार्योंने ज्योतिष विषयका क्षेत्र बहुत विस्तृत कर दिया है, जीवनके आलोच्य सभी लोकोपयोगी विषय इस शास्त्रके प्रतिपाद्य माने गये हैं।

गणित विषयकी उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए महावीराचार्यने अपने गणितसार संग्रहमें बताया है कि—

लौकिके वैदिके चापि तथा सामायिकेऽपि यः।
व्यापारस्तत्र सर्वत्र संख्यानमुपज्यते ॥

कामतन्त्रेऽर्थे शास्त्रेच गान्धर्वे नाटकेऽपि वा।
सूपशास्त्रे तथा वैद्ये वास्तुविद्यादि वस्तुषु ॥

सूर्यादिग्रहचारेषु ग्रहणे ग्रहसंयुतौ।
त्रिप्रश्ने चन्द्रवृत्तौ च सर्वत्राङ्गी कृतं हि तत् ॥

बहुभिर्विप्रलापैः किं त्रैलोक्ये सचराचरे।
यत्किञ्चिद्वस्तु तत्सर्वं गणितेन विना नहि।

इससे स्पष्ट है कि गणितका व्यावहारिक रूप प्रायः समस्त भारतीय वाङ्मयमें व्याप्त है। ऐसा कोईभी शास्त्र नहीं है जिसकी उपयोगिता गणितके बिना अभिव्यक्त हो सके। जैन ग्रन्थोंमें गणितके परिकर्म, व्यावहारगणित, राज्यगणित, राशिगणित, कलासवर्णगणित, जाव-तावगणित, वर्ग, घन, वर्ग-वर्ग और कल्प, इन दस भेदो द्वारा समस्त व्यावहारिक आवश्यकताओंकी पूर्त्तिके लिये जैनाचार्योंने प्रयत्न किया है। जैन गणितमे नदीका विस्तार, पहाडकी ऊँचाई, त्रिकोण, चौकोन क्षेत्रोंके परिमाण इत्यादि अनेक व्यावहारिक बातोंका गणित बिना नाप-तौलके रेखागणित और त्रिकोणमिति के सिद्धान्तो द्वारा बताया है। इस प्रकार समस्त जैन ज्योतिष व्यावहारिकतासे परिपूर्ण है।

———

विदेशोंमें प्राकृतका प्रचार।

(ले० श्री० डा० बनारसीदास जैन, एम.ए., पी-एच.डी.)

अपने व्यापक अर्थमें "प्राकृत" शब्द आर्य-भारतीकी एक अवस्था विशेषका नाम है जो प्राचीन आर्यभारती अर्थात् सस्कृत और वर्तमान आर्यभारती अर्थात् हिंदी, गुजराती आदिके मध्य-वर्ती है। इसीलिये आर्य-भारतीकी मध्यम-अवस्थाकोभी प्राकृत कहते हैं। इसके साहित्यिक रूपके अंदर एक दूसरेसे कुछ २ विशेषताओंको लिये हुए अनेक भाषाए शामिल है। जैसे—पाली, अशोकको धर्मलिपियोंकी भाषा, जैन साहित्यकी भाषाएं (अर्धमागधी, जैनमाहाराष्ट्री, जैन शौरसेनी), शिलालेखोंकी प्राकृत, सस्कृत नाटकोंमें व्यवहृत प्राकृतें, गाथा सप्तशती, रावण वहो आदि काव्योंकी प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा।

पूर्वकालमें प्राकृतका व्यवहार केवल जैनो और बौद्धो तक सीमित नही था। ब्राह्मण पण्डितभी इसको प्रयोगमें लाते थे जैसा कि उनकी रचनाओंसे सिद्ध होता है। पिछले कुछ वर्षोंसे भारतमें प्राकृतका पठन-पाठन जैनों तकही सीमित होगया था। "प्राकृत" और "जैन" शब्दमें ऐसा घनिष्ठ संबंध स्थापित होगया कि अब जैन कहनेसे प्राकृतका और प्राकृत कहनेसे जैनका स्वतः स्मरण हो जाता है।

यद्यपि प्राकृत कहलानेवाली भाषाओंमेंसे पाली अब पृथक् हो गई है और पठनपाठनमें उसने एक स्वतंत्र स्थान ग्रहण कर लिया है, तथापि वास्तवमें यह सबसे प्राचीन साहित्यिक प्राकृत है। इसमें प्राकृत अवस्थाके सभी लक्षण विद्यमान है। अतः पालीही वह प्राकृत है जिसने सबसे पहले भारतसे बाहर अपना पांव रखा। विक्रम सवत्से कई सौ वर्ष पूर्व बौद्ध धर्मके साथ यह लंका-(सिंहल-) द्वीपको गई और इसने बडी उन्नति की। वहां इसमें विशाल साहित्यकी रचना हुई। विक्रमकी प्रथम शताब्दीमें सिंहलराज वट्टगामणीके समयमें पाली त्रिपिटकको यहां लिपि-बद्ध किया गया। लकाके बौद्ध भिक्षुओंमें पालीका दूसरा नाम मागधी अब तक प्रचलित है। लंकामें पालीका पठनपाठन बराबर होता रहा है। वहां इसका वही स्थान है जो भारतमें संस्कृतका है। लंकाकी वर्तमान भाषा पर प्राकृतका इतना प्रभाव है कि लंकाद्वीपके उत्तर भागकी भाषा आर्यभारतीके अंदर गिनी जाती है।

भारतकी अपेक्षा लंकाको तो कोई विदेश कहे या न कहे परंतु ब्रह्मदेश तो विदेश कोटिमें समझाही जायगा। ब्रिटिश सरकारने कुछ समय तक ब्रह्मदेशको भारतका प्रान्त बना दिया था लेकिन अब वह फिर पृथक् हो गया है। लंकासे पालीने ब्रह्मदेशको गमन किया और वहां जाकर साहित्यिक वृद्धि की। वहांभी अब तक इसका पठनपाठन चलता है। वहांकी सामान्य भाषा पर पालीका कुछ

अधिक प्रभाव नहीं पडा। ब्रह्माके अतिरिक्त पालीका प्रचार श्याम देशमें जिसे अब "थाइलैंड" कहते है खूब हुआ है। लका, ब्रह्मा और श्यामसे अपनी २ लिपिमें पाली त्रिपिटकके सस्करण निकले है जो भारतकी कई यूनिवर्सिटियोंको भेटरूप दिये गये है। इन देशोंके साथ भारतके दक्षिणी विभागका व्यापारिक और धार्मिक संबंध चिरकालसे स्थापित हो चुका था। अतः पाली या प्राकृतका वहा चले जाना आश्चर्यकी बात नही। विदेशमे पाली-प्राकृतके प्रचारका मुख्य कारण बौद्धधर्म रहा है। इन देशोके साथ २ पालीका प्रचार तिब्बत तथा चीनमेंभी हुआ था जहा त्रिपिटक आदि ग्रथोंके तिब्बती और चीनी भाषामे अनुवाद किये गये। इनके अतिरिक्त पालीका थोडा बहुत प्रचार इडोनीशिया (विशाल भारत) मेंभी हुआ होगा। परतु महायानका जोर हो जाने पर वह घट गया। अब इन देशोंमें इसका पठनपाठन फिरसे जारी होने लगा है। मचूरिया प्रदेशमे अब तक प्राचीन देवनागरीके अक्षर सिखाये जाते हैं।

लेकिन आश्चर्य तो यह है कि एक समय प्राकृतका प्रयोग चीनी तुर्किस्तान जैसे सुदूर देशमें होता था और वहभी तत्स्थानीय राज-कार्यमें। पचास वर्ष पहले कोई व्यक्ति इस बातके तथ्यकी कल्पना नहीं कर सकता था क्योकि अब वहा कोईभी पाली-प्राकृत और भारतीय सस्कृतिका नाम तक नही जानता। परतु धन्य है पाश्चात्य विद्वानोकी जिज्ञासा, सतर्कता, धैर्य और साहसको जिनके द्वारा उन्होने ससारसे लुप्त हो गई हुई अनेक सस्कृतियोका पुनर्निमाण किया है। चीनी तुर्किस्तानमे प्राकृत लेखोकी उपलब्धिभी इन्हीं गुणों और प्रवृत्तियोंकी ऋणी है। इस उपलब्धिकी कथा बडी रोचक है। अतः सक्षेपमे यहा दी जाती है।

सन् १८८१ मे कूचा (तुर्किस्थान) से कर्नल बावरको भोज पत्रों पर लिखा हुआ वैद्यकका एक ग्रथ प्राप्त हुआ जिसके अक्षर गुप्तकालीन लिपिसे मिलते जुलते थे। इसकी भाषा सस्कृत थी। इस एक साधनसे सर आरॅल स्टाइनने जो ओरियटल कालिज लाहौरके प्रिन्सिपल थे यह अनुमान किया कि किसी समय तुर्किस्तानमे भारतीय सभ्यताका प्रचार रहा होगा। फिर सन् १८९७ में काशगरसे खरोष्ठी लिपिमें लिखा हुआ पाली "धम्मपद" का प्राकृत अनुवाद मिला। इससे सर आरॅल स्टाइनका अनुमान औरभी दृढ हो गया। अब उन्होंने भारतीय सरकारको लिखकर प्राचीन अवशेषोकी शोध खोजके लिये चीनी तुर्किस्तानमें जानेका प्रबन्ध कर लिया जिसके फलस्वरूप वे सन् १९००, सन् १९०६ और सन् १९१३ में चीनी-तुर्किस्तान गये। उन्होने अपनी यात्राओंका विस्तृत वर्णन बडे सरस ढगसे किया है और प्राचीन अवशेषोके सैकडों चित्र दिये है जिनमे प्रस्तुत लेखसे संबध रखनेवाले लकडी और चमडे पर स्याहीसे खरोष्ठी लिपिमें लिखे हुए प्राकृतके बहुतसे लेख हैं। कुछ लेख लकडीके कीलाकार टुकडो पर है और शायद इसी लिये इन लेखोमे इनका निर्देश "कीलमुद्रा" शब्दसे किया गया है। ये कीलमुद्राएं देशके राजाकी ओरसे सरकारी कर्मचारियोके नाम लिखी गई हैं। इनमे किसी मुकद्दमे या सरकारी मामलेकी चर्चा है।

कुछ लेख लकडीके चौरस टुकडों पर है जिनका निर्देश "प्रवनक" सस्कृत=प्रभाण, प्रापण,

प्रपन्न शब्दसे किया गया है। ये एक प्रकारकी रसीदें या प्रमाणपत्र है जिन्हें अधिकारी व्यक्ति साध्य या प्रमाणके लिये अपने पास रखता था।

अनधिकारी पुरुषसे कीलमुद्राओं और प्रवनकोंके पाठकी रक्षाके लिये इनके ऊपर उसी परिमाणका एक दूसरा टुकडा रख कर उन पर रस्सी लपेट दी जाती थी। फिर रस्सीके दोनो सिरे ऊपर वाले टुकडे पर रख कर उनको गीली मिट्टीसे ढाप दिया जाता था और मिट्टी पर प्रमाण पुरुषकी मोहर लगा दी जाती थी। इन लेखोंका काल विक्रमकी छठी सातवीं शताब्दी हो सकता है।

यह तो हुई प्राचीन समयमें प्राकृतके विदेश-प्रचारकी कथा। आधुनिक युगमें सोलहवी शताब्दीसे पाश्चात्य (यूरपीन) लोग भारतमें आने लगे। तभीसे उन्होंने भारतकी नवीन तथा प्राचीन भाषाओंको सीखना शुरू कर दिया था जिसके फलस्वरूप उन्होंने पिछले सौ डेढ सौ बरसमें प्राकृत-सबधी अत्यत महत्त्वपूर्ण और सराहनीय अनुशीलन किया है। इसका सविस्तर वर्णन करनेके लिये एक विशाल ग्रथकी आवश्यकता होगी। अतः यहा कतिपय मुख्य प्रकाशनोंकी सूची दी जाती है।

पाली—पाश्चत्य विद्वानोने पालीका बडा गहरा और सूक्ष्म अध्ययन किया है। लंदनकी "पाली टैक्सट सोसायटी" द्वारा रोमन अक्षरोंमें समग्र पाली त्रिपिटक तथा बहुतसी विशाल टीकाएं मुद्रित हो चुकी है।

जर्मनीके प्रोफेसर गाइनरने जर्मनमें पालीका व्याकरण रचा जो रोमन अक्षरोंमें मुद्रित हुआ है।

चिल्डरका पाली कोप तथा डेविड और स्टीडका पाली कोष बडे उपयोगी ग्रथ हैं।

अशोककी धर्मलिपियां। ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियोंके पढे जानेकी कथा बडी रोचक है। धर्मलिपियोंके सपादनमे कनिंघम, सेनार(ट) हुल्टश, ब्यूलर और वूलनरने अच्छा काम किया।

प्राकृत—प्राकृतका सबसे पहला स्वतत्र व्याकरण लैटिन भाषामे प्रो० लासनने रचा जो सन् १८३७ मे प्रकाशित हुआ। इसके बाद सन् १९०० में रिचर्ड पिशलने जर्मन भाषामें विशालकाय प्राकृत व्याकरणकी रचना की जो विद्वत्ता और धैर्यका नमूना है। सन् १९१७ में ए. सी. वूल्नरने प्राकृत प्रवेशिका "Introduction to Prakrit" बनाई जिससे योरप तथा भारतमें प्राकृत अनुशीलनका खूब प्रचार हुआ। खेद है कि प्राकृतके कोष निर्माणका काम अबतक किसी पाश्चात्य विद्वान्के हाथसे नही हुआ। प्रस्तुत लेखकके विद्यागुरु डा० ए. सी. वूल्नरने प्राकृत कोषके लिये सामग्री इकट्ठी करनी शुरू कर दी थी और वे अपने जीवनके अतिम दिनों तक ऐसा करते रहे। उनकी यह सामग्री एक बडे रजिस्टरके रूपमें जिसमें १२,००० सेभी अधिक प्राकृत शब्दोंकी सूची तथा स्थान-निर्देश है अब कदाचित् पजाब यूनिवर्सिटी लाहौरके कब्जेमें है।

चीनी तुर्किस्तानसे मिले प्राकृत लेखोंका पाठ-निर्माण, उनका अनुवाद, उनकी भाषाका व्याकरण इत्यादि सब पाश्चात्य देशोंमें हुए है।

प्राकृतके अनेक ग्रन्थोंका सपादन तथा अनुवाद पाश्चात्य विद्वानों द्वारा हुआ है, जो बहुधा इग्लैंड, जर्मनी, फ्रास, इटली और अमरीकासे प्रकाशित हुए। इन विद्वानोंमेसे वेबर, ब्यूलर, याकोबी, हर्नले, बार्नेट, ल्यूमन, शूब्रिंग, इजर्टन, नार्मन ब्राउनके नाम प्रसिद्ध हैं।

प्राकृतसे सबंध रखनेवाला एक और कार्य है, अर्थात् प्राकृतकी प्राचीन प्रतियोंकी सूची। इसका प्रारभभी ब्यूलर, वेबर, पिटर्सन आदिके हाथोसे हुआ।

अभी सन् १९३७ मे लुइज्या-निति दोलची नामक एक इटालियन विदुषीने प्राकृत-सबधी दो पुस्तक फ्रेंच भाषामें प्रकाशित किये हैं। इनमेसे एक तो अज्ञातपूर्व पुरुषोत्तमकृत प्राकृतानुशासन का सपादन है। इस व्याकरणकी ताडपत्रों पर लिखी हुई केवल एकही प्रति उपलब्ध हुई है जो नेपाल देशके खाटमडू भडारमें सुरक्षित है। यह प्रति नेवारी अक्षरोंमे विक्रमकी चौदहवीं शताब्दीकी लिपिकृत है। दूसरे पुस्तकका नाम प्राकृत वैयाकरण "Les Grammairiens Prakrit" है। इसमे प्राकृतके प्रमुख वैयाकरणोंके समय, उनकी रचनादिके विषयमें चर्चा की गई है।

उपर्युक्त लेखको पढ कर हमें भारतवासियोंको एक ओर तो पाश्चात्य विद्वानोंका धन्यवाद करना चाहिये और दूसरी ओर उनके द्वारा प्रारभ किये गये प्राकृत-अनुशीलनको अत तक पहुचाना चाहिये।

Māgadhī, Ardhamāgadhī and Sanskrit

By Dr. S. K. Belvalkar, M. A., Ph. D., F. R. A. S., Poona.

[श्रीमान् डॉ० बेलवल्कर सा० सस्कृत भाषाके सुप्रसिद्ध विद्वान् है। इस लेखमें आपने भारतकी राष्ट्रभाषाके प्रश्न पर एक नया प्रकाश डाला है। आप लिखते है कि यह प्रश्न अबसे बहुत पुराना है। भ० महावीरके समयमेंभी राष्ट्रके सामने यह प्रश्न उपस्थित था — भ० महावीरने वेदोंकी मूल भाषा सस्कृतको त्याग कर अर्द्धमागधी भाषाको अपने धर्म प्रचारका माध्यम बनाया था। उनके धर्माख्यानोंको आर्य अनार्य, सभी मानव (और पशुभी) अपनी २ भाषामें समझ लेते थे। यौगिक चमत्कारकी बातको यदि छोड दिया जावे, तो भी यह सभव नहीं दिखता कि भ० महावीरके व्याख्यानोंको तत्क्षण अन्य भाषाओंमें अनूदित कर दिया जाता होगा। डॉ० सा. का यह अनुमान ठीक भाषता है, यद्यपि शास्त्रीय उल्लेख यहभी है कि मागधदेव अपनी विशेष विज्ञान-कला द्वारा भगवान्की निरक्षरि वाणीको प्रत्येक जीवके लिये उसकी स्वभाषामें परिणत कर देता था, जिससे हर कोई उसे समझ लेता था। सभव है, आजकलके ध्वनिप्रसारक यंत्रोंकी तरह उस समय कोई विशेष यंत्र-माध्यम बना लिया गया हो जो एक भाषाका विस्तार भिन्न २ भाषाओंमें कर देता हो। किन्तु डॉ० सा० का सुझाव दृष्टव्य है। वह कहते हैं कि भ० महावीरने धर्मकी सीधीसादी बातें बताई जो शीघ्र हर किसीके मन चढ जातीं थीं। इस लियेही उनकी वाणी 'सार्वग्रह्य' मानी जाती थी। उसका ग्रहण "वैखरी" और "मध्यमा" रूपोंमें न होकर केवल 'पश्यन्ती' रूपमें हुआ था, ऐसा मानना ठीक जचता है। बौद्ध भिक्षुओंनेभी एक 'सार्वभाषा' का प्रश्न म० बुद्धके सम्मुख उपस्थित किया था और कहा था कि 'सक्कटभाषा' (सस्कृत) में पिटकग्रथ अनूदित किये जावें; किन्तु म० बुद्धने उनकी यह बात स्वीकार नहीं की थी। इसपरसे डॉ० सा. का अनुमान है कि उससमय बोलचालकी संस्कृतभाषा सारे भारतमें प्रचलित थी। संस्कृत भाषाके बहुप्रचारने जैनों और बौद्धोंकोभी संस्कृत अपनानेके लिये वाध्य किया। उनकी नई रचनायें व टीकायें सस्कृतमें है। इस समय हिन्दीको राष्ट्रभाषा बनानेका आन्दोलन चल रहा है; पर डॉ० सा० बोलचालकी सस्कृत भाषाको सार्वभाषा होनेके योग्य मानते है; क्योंकि अधिकांश जनताके हृदयमें उसके प्रति सम्मान है और बंगाली, मराठी, तामिली, तेलुगू आदि प्रान्तीय लोगोंके लिये वह सुबोध है। अंग्रेजी और उर्दूका प्रचार खूब हुआ, परंतु फिरभी वे सार्वभाषा नहीं हो पाई — शहेरी नागरिकों तकही वे सीमित रहीं। सस्कृत भाषाको धारा प्रवाह बोलनेवालोंका अबभी अभाव नहीं है। अतः सस्कृत राष्ट्रभाषा होनेकी अधिकारिणी है। डॉ० सा० का यह अभिमत श्लाघ्य और ऐतिहासिक आधार लियें हुये है; फिरभी यह सशयात्मक है कि सस्कृत भाषा हमारे देहातके निवासी ग्रामीणोंके लिये सुबोध और बोलचालकी भाषा हो सकेगी। अशोकने भारतके भिन्न २ भागोंमें धर्म लेख उस २ प्रान्तकी भाषामें खुदवाये थे — वे सब प्राकृत भाषाके भिन्न रूप है। अतः यह प्रश्न विचारणीय है। — का. प्र.]

The problem of a common language in India that " the Āryans and Non-Āryans" would alike understand is by no means a modern problem. It was present in the days of Lord Mahāvīra who discarding Sanskrit, the autho-

rised language of Vedic Religion, essayed to propagate his own Gospel through the medium of the Ardhamāgadhī. The *Aupapātikasūtra* No. 56 tells us .

> Bhagavam Mahāvīre ....Addhamāgahāe bhāsāe bhāsai, arihā Dhammam parikahei. Tesim savvesim Āriyamanāriyānam .... Dhammam āikkhai.

That language, the *Sūtra* goes on to say, had the miraculous virtue of being understood by the entire Congregation—Āryan as well as Non-Āryan—as though the sermon was preached through the individual Mother-tongues of the diversified audience :

> Sā vi ya nam Addhamāgahā bhāsā tesim savvesim Āriyamanāriyānam appano sabhāsāe parināmenam parinamai.

There could not here of course be any question of the Canon being actually rendered into the diverse current languages of the day. There is no evidence, nor much likelihood, of this having ever happened. Barring an appeal to miracle, all that this, in soberness, can mean is that the 'subjects' that Lord Mahāvīra essayed to discuss in his sermons (and a list whereof he immediately gives) were—as distinguished from the "arid profundities" of the Vedic Religion—so simple and of such a direct appeal that they went straight into the hearts of all listeners. In a somewhat technical (or mystic) sense this can mean that although the "Vaikharī" and the "Madhyamā" forms of the various languages current in the audience differed, their "Paśyantī" forms agreed ; and it was to that common form that the Lord Mahāvīra made his appeal and thereby succeeded in making his teaching fully comprehended by all

Curiously enough the same problem was raised by the Buddhist disciples of Gotama Buddha. In the *Cullavagga* (V. 33) we read :

> Te bhikkhū Bhagavantam etad avocum: "Etarhi Bhante bhikkhū nānānāmā nānāgottā nānājaccā nānākulā pabbajitā; te sakāya niruttiyā Buddhavacanam dūsenti, handa mayam Bhante Buddhavacanam Chandaso āropemā" ti.

The diversified Buddhist Congregation, hailing from all ranks and castes, high and low, felt the need of a common medium of communication and instruction , and the bhikkhus who, in the present case, were "Brāhmana-jātikā kalyānavācā kalyānavākkaranā" proposed the rendering of the Canon into Sanskrit[1] so as to prevent the possiblity of its being misunderstood and

1 Buddhaghosa explains : Chandaso āropemā ti. Vedam viya Sakkaṭa-bhāsāya vācanāmaggam āropema [Sakkata = Sanskrit].

misinterpreted under the influence of the diversified contemporary tongues and idioms. The Buddha, however, gave his ruling flat against the proposal:

> Na bhikkhave Buddhavacanam Chandaso ārbpetabbam. Yo āropeyya, āpatti dukkhatassa. Anujānāmi bhikkhave sakāya niruttiyā Buddhavacanam pariyāpunitun ti.

This passage unfortunately has been wrongly interpreted, and that by no less a scholar than H. Oldenberg, who says that the Buddha here decrees that every one should learn the sacred texts in his own language. Oldenberg imagined that as the holy texts of the Buddhists spread all over India, "they were certainly not handed over to the different parts of India in the Māgadhī language, but in the Vernacular dialects peculiar to the several districts." But, surely, grammar requires that the 'sva' in *sakāya niruttiyā* refer to the language in which the Buddha himself preached. In his commentary on the passage, Buddhaghosa makes this quite explicit:

> Ettha *sakā nirutti* nāma Sammāsambuddhena vuttapakāro Māgadhiko vohāro.

This in fact is the reason why the Māgadhī was designated the Mūlabhāsā, the basic or mother tongue of Buddhism; and it is the study of the Canon in this basic language that the above passage from the *Cullavagga* enjoins. This, however, did not solve — even after the fashion of the Jain *Aupapātika-sūtra* — the difficulty raised by the Bhikkhus. The Buddha calls upon his disciples to study the original Māgadhī of the Canon just as Lord Mahāvīra emphasises the study of the Addhamāgadhī; but that could not have guaranteed — apart from the miracle — that the words of the Canon would be easily and correctly understandable throughout the length and breadth of Bhāratavarsa. As a matter of fact, at the time we are speaking about, Sanskrit would have been understood by a much larger proportion of the peoples of India than the language of a small province such as the Māgadhī or the Ardhamāgadhī. These two languages were, like most other provincial Prākrits, derived from Sanskrit and had considerable common vocabulary. A Sanskrit-knowing person would have been able to understand, with a little effort, most of the provincial Prākrits, but not so the exclusively Māgadhī or Ardhamāgadhī- speaking commoner (assuming for the moment that the latter was, in its Canonical form, an actual spoken language). There was, therefore, something in the proposal of the Bhikkhus to convert the Buddhist Canon into Sanskrit.

Curiously enough, in course of time and as Jainism and Buddhism grew to attain an All-India status, they both of them did actually adopt Sanskrit as the medium for learned, disquisitive and commentorial writings intended to be read by the élite thinkers of Bhāratavarsa. In the seats of learning like

Nālandā that had gained a national and even international reputation, Sanskrit was adopted as the medium of instruction and learned compositions. Nay, in some of the advanced old-type Pāthaśālās of Banares, Calcutta, Madras, Mysore and Tanjore, even to the present day, Sanskrit continues to be the natural medium of instruction in Śāstric subjects. Having had to visit almost all the parts of India in connection with the Sessions of the All-India Oriental Conference, I have had many occasions to watch scholars from different Provinces, having no other language in common, trying to make one another tolerably well understood by means of Sanskrit. When, some twenty years ago, Rajaguru Hemaraj Pandit, C. I. E., of Nepal visited the Bhandarkar Oriental Research Institute of Poona, he had with him a youth of 14 or 15 who used Sanskrit for ordinary conversation with a fluency that could well have become the object of envy for many a Professor of Sanskrit. The explanation for this is naturally to be found in the circumstance that for the vast majority of Indians Sanskrit is still the language of their sacrament and worship, the repository of their outstanding literary heirlooms and their cultural and architectural monuments scattered all over the country, a language so- to- say which surcharges and enlivens the very atmosphere in which an orthodox Hindu child is reared up into adolescence And this is true irrespective of the mother-tongue to which the child may happen to be born. For, Sanskrit is at least as dear to the speakers of the modern Dravidian languages of India as to the speakers of the Sanskrit-derived languages of the other parts of India. A Mahārāstrian, a Bengāli, a Telugu or a Tāmilian may not possess the same intensity of love and loyalty for Hindī, our proposed *Lingua Franca*; but they would out-rival one another in their study and reverence for the holy language of the Vedas, the Epics, the Purānas and the Dharmaśāstras.

The case is not much altered when we turn to Jainism and Buddhism. It is true that Sanskrit is not the actual language of their Canon; but there is a vast amount of common mythology and folklore, besides belief in doctrines such as those of Karman and Transmigration, which all make them so intimately related to Hinduism. There also has been much mutual borrowing and assimilation between these three religions as regards beast-fable and ascetic and moral poetry. So that in ideology and phonology Sanskrit is not such an unfamiliar language to Jainism and Buddhism, even ignoring for the moment the fact that much of their later-canonic, secular and scientific literature is in Sanskrit. The Buddhist Bhikkhus' proposal in favour of the "Sakkaṭa-bhāsā" was not so absurd a proposition after all, and it has actually found its justification in the later history of the Church.

We must, however, guard against one inevitable but fatal misunderstanding. The Sanskrit that was to be the common means of communication in Hinduism and in the two allied Churches was not the same as the dread night-mare of the Pāninīya schoolmen. It was a very much simplified

affair with a limited and selected vocabulary, divested of all optional and out-of-the-way paradigms, possessing a simplified syntax and a definite tendency towards participial construction, thereby eliminating the use of too many verbs. It was, in other words and on the analogy of the modern Basic English, a "Basic" Sanskrit specially designed to facilitate intercommunication and so avoding all parade of learning as such. And there were specially prepared conversational grammars in existence—like the *Gīrvaṇapadamañjarī* of Dhuṇḍirāja[2]—which made the acquisition of average facility in the use of the language not a very difficult job for men and women of average intelligence. The beginnings of this attempt to provide India with an adequate inter-provincial means of communication belong to an age much earlier than that of the advent of the Urdu and the English; and our language possessed this great advantage over the Latin in Mediaeval Europe that there was no disharmony between the religious and mythological background of the proposed *Lingua Franca* and of the contemporary Vernaculars of the land, as there was between Latin and the growing Vernaculars of Christian Europe. The need of special State patronage for the proper development of such a "Sarvabhāsā" was realised and fully acted upon, of which the Dakshina Fund of the Peshwas is only one of the latest and most widely known example. History, unfortunately, stepped in and intercepted the further progress of the experiment and the consequent attainment by Sanskrit of its legitimate position as a common All-India language.

There were of course two inevitable dangers against which the experiment had to be carefully guarded. The first of these is the natural vanity of the learners which, unless severely and systematically checked, delights in parading one's scanty and newly acquired learning thereby defeating the very life purpose of a "Sarvabhāsā"[3] The second and the more real danger lay in the imposing and inculcating, along with the *Lingua Franca*, of certain socio-religious standards once formulated and preached by the original literature of that language, which, however, might not be exactly suited to the standards and requirements of the current times. When, for instance, the Christian Schoolmen of Mediaeval Europe, in their Latin perorations, occasionally brought in the Classical Divinities, that was understood as merely a stylistic flourish intending no harm to the established dogma. But if, with the introduction of Sanskrit as India's *Lingua Franca*, there were to follow an attempt to reintroduce, without an antecedent rigorous examination of their suitability to the changed conditions of

---

2 See P. K. Gode's paper in the Tanjore S. M. Library Journal for 1946-47.

3 This can happen and has happened in the case of the too much Sanskritised Hindī, just as much as in the case of the too much Persianised Hindustānī.

modern times, the old *Cāturvarṇya* foundations of society, there is much danger of the experiment achieving not a cementing of the union, but a fomenting of disunion

This race for India's *Lingua Franca*, as it turned out, was almost won by a rank outsider, viz. the English of the British conquerors of the Country. In its linguistic, cultural and religious background, English was of course utterly unsuited to be India's *Sarvabhāsā* The times were, however, propitious for it, and they were aided both by an insiduous Missionary propaganda and a sordid appeal to the lucre of employment which do not reflect much credit upon the moral and political stamina of the people The race, as I said, was almost won , but the fifteenth of August 1947 suddenly (and may we hope, permanently) upset the win. India certainly owes much to her English contact ; but culturally and otherwise, English is too alien a language to become in India the common man's *koiné*. With the English having become, let us hope, *hors de combat*, the race ought to be now won legitimately by our "Basic" Sanskrit, if we could effectively counteract the two-fold danger mentioned above that seems to be menacing its success. In that case, for the India of Tomorrow, our " Basic " Sanskrit has all the qualities demanded from a medium of inter-provincial communication and a vehicle for the dissemination of advanced thought. Hindī, its only serious rival, has admittedly a narrower literary range, to say nothing of its linguistic disaffinity with the languages of Southern India, which has been, after centuries of persistent efforts, overcome in the case of Sanskrit, but not yet in the case of the Hindī. May we therefore hope that the proposal of the Buddhist Bhikkhus, already endorsed as it had been by the ancient seats of learning like the Nālandā, is yet to find, in the fulness of time, its fullest realisation and completest justification ?

The Contribution of Jainism to Indian Culture

BY SHRI T. K. TUKOL, M.A., LL. B., Special Officer, Political Dept. Secretariat (Bombay)

[श्री तुकोल महोदय उच्च राजकर्मचारी और न्यायाधीश रहे हैं। प्रस्तुत लेखमें उन्होंने भारतीय सस्कृतिको जैन धर्मकी देनका प्रमाणिक दिग्दर्शन कराया है। उन्होंने पहलेही सिद्ध किया है कि जैन धर्म एक स्वतंत्र और अति प्राचीन धर्म है। जैन धर्मकी विचारसरणीका प्रभाव भारतीय धर्मोंकी विचारधारापर पडा हैं। धर्मके साथ जैन सस्कृतिभी निराली रही हैं। भारतके दैनिक लोक जीवनपर उसका प्रभाव भुलाया नहीं जा सकता — लोकजीवनको जैन सस्कृतिने ऊंचा उठाया है। जैन धर्मके आदि सस्थापक ऋषभदेव थे। आधुनिक इतिहासज्ञ पार्श्व और महावीर-इन दो अन्तिम तीर्थकरोंको ऐतिहासिक पुरुष मानते है। किन्तु अब तो ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं जिनके आधारसे यह मानना ठीक है कि जैन धर्म हिन्दू धर्म (वैदिक धर्म) इतना प्राचीन अवश्य है। जैन धर्मके सैद्धान्तिक मन्तव्योंमें आदिकालीन विचारोंका अस्तित्व मिलता है-(जैनोंका अणुवाद अति प्राचीन है) जिनका प्रभाव भारतीय दर्शन शास्त्रमें दृष्टव्य है। जैन धर्मका प्रचार उत्तर और दक्षिणभारतके दोनों भागोंमें रहा है। उत्तर भारतके शिलालेखोंसे एवं अनुश्रुतियोंसे उन राजाओंकी कीर्ति गाथा-ओंका पता चलता है, जो जैन धर्मके अनुयायी या उसके संरक्षक थे। गुजरातके-प्रसिद्ध सम्राट् कुमारपाल जैन धर्ममें दीक्षित किये गये थे। दक्षिण भारतकी जैन कीर्तिया इतिहासके पृष्टपृष्ट पर अंकित हैं। सम्राट् अशोकके समयसे वहा जैनका प्रभाव स्पष्ट हैं। दक्षिणमें १२ वीं शताब्दिक तक ऐसा कोई राजवंशही न हुआ जिस पर जैनधर्मका प्रभाव न पडा हो। दक्षिणके राजवंशोंमें कदम्ब, गंग, रट्ट, राष्ट्रकूट और कलचूर्य प्रमुख थे। इन सबका राष्ट्रधर्म जैन था। उनकी प्रजाभी जैन थी। इस प्रकार राज्यप्रश्रय और राजनैतिक महत्व प्राप्त करके जैनाचार्यों और जैन नेताओंने जनताका मनोवैज्ञानिक पथ प्रदर्शन किया। परिणामतः जनताको प्रत्येक धार्मिक विषय वैज्ञानिक दृष्टिसे समझनेका बोध प्राप्त हुआ। जैनधर्म ईश्वर कर्तृत्ववादको नहीं मानता; बल्कि वह तो कहता है कि प्रत्येक प्राणी स्वयं परमात्मा बन सकता है। वह स्वय अपने जीवका निर्माता है। दूसरेकी कृपा पर मानव को जीवित नहीं रहना चाहिये। जैनधर्मकी इस शिक्षासे भारतकी धार्मिक विचारधारामें विचार-स्वातंत्र्यकी सृष्टि हुई और यह उसकी अपूर्व देन है। पुरोहितवादके गढकी नींव इससे हिल गई थी। जैनधर्मने यज्ञ, श्राद्ध, तर्पण आदिको निरर्थक घोषित किया और याज्ञिकी हिंसाका अन्तही कर डाला। जीव-अजीवका भेद जैनका निराला है। एकेन्द्रिय-द्वेन्द्रियादि जीव व्यवस्थाको अन्य मतवाले हेय समझते थे; किन्तु आज विज्ञानसे जब वनस्पतिमें प्राण सिद्ध कर दिये गये तो जैन मान्यता स्वतः प्रमाणित हो गई। जैन पुद्गलवादभी आधुनिक विज्ञानकी दृष्टिसे अध्ययनकी वस्तु है। भारतीय दर्शनवादमें इस प्रकार जैनधर्म द्वारा एक नये वैज्ञानिक दृष्टिकोणका समावेश हुआ। न्याय-शास्त्रमें जैनोंका स्याद्वाद सिद्धांत अद्वितीय हैं। उससे मतमतान्तरोंके प्रति समन्वय भाव जागृत होता हैं। अन्य मतोंको अनेकान्तवादका पताभी नहीं था। जैनोंका कर्मसिद्धान्तभी विलक्षण हैं। ब्राह्मण तो वैदिक क्रियाकाडको करने और न करनेकोही कर्म मानते हैं। किन्तु जैन प्रत्येक प्राणीके

अपने कर्मका उत्तरदायी ठहराता है। कर्म जैनके निकट साधारण क्रियासे अधिक है। सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं–कर्म वर्गणाओंका जीवके साथ बधको प्राप्त होनेसे प्राणीका मनोवैज्ञानिक और शारीरिक जीवन निर्धारित होता है। प्राणिका जीवनक्रम उसके सञ्चित कर्मोंके अनुसार बनता है। सुख-दुखके अनुभव इसके ऋणी हैं। कर्म पुद्गलसे मुक्त होने पर आत्मा स्वतंत्र हो जाता है। आधुनिक मनोविज्ञानसे इसकी पुष्टि होती है। ब्राह्मणोंके आधिपत्यका अन्तभी जैन तीर्थंकरोंकी क्रान्तिमई शिक्षासे हुआ, जिसमें प्रत्येक प्राणीके लिये धर्म पालनेका द्वार खोल दिया गया था। समाजमें एक निराली लोकतंत्रात्मक विचारधारा वह निकली थी। दलितवर्गके लोगोंने जैनधर्मको त्राणदाता पाया, इसके ऐतिहासिक उदाहरण उपलब्ध है। महावीरके पश्चात् एक हजार वर्षोंतक अहिंसाका बोलबाला भारतके शासनचक्रमें रहा। सबही भारतीय नरेशोंने वर्ण और जातिका भेद रक्खे बिना ही शिक्षा, कला और साहित्यकी उन्नतिको प्रोत्साहन दिया। खेद है कि इस अहिंसा पर कायरता लानेका आरोप लगाया जाता है, किन्तु गांधीजीने अहिंसाकी व्यवहारिक महत्ताको स्पष्ट कर दिखाया है। जैनधर्ममें अहिंसाका नियमित विवेचन मिलता है। जहा अन्य मतोंमें श्रद्धा, ज्ञान, चारित्रमेंसे किसी एक पर जोर दिया गया मिलता है; वहा जैनधर्ममें तीनोंका ग्रहण किया गया और सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान–सम्यग्चारित्रके मिलनेसे मुक्तिमार्ग बनता बताया गया है। इनसे भारतीय विचारधारा प्रौढ हुई। इसके अतिरिक्त जैनोंकी साहित्य और कला सम्बन्धी देनभी अपूर्व है। जैनने भारतीय सस्कृतिमें एक नया जीवन सिरजा, यह मान्य करना पडता है। का० प्र०]

1. "Let me assert my conviction that Jainism is an original system, quite distinct and independent from all others; and that, therefore, it is of great importance for the study of philosophical thought and religious life in ancient India." Thus concluded Dr Hermann Jacobi his article on the "Metaphysics and Ethics of the Jainas." These observations of a pioneer savant who made signal contributions to the study of the Jain Philosophy bear ample testimony to the indelible marks and influence which Jainism has left on the growth and evolution of religious thought in India. India is regarded as the home of all religions, not merely because the different systems of philosophy which are now holding the field of human thought took their seeds from our soil but also because at a time when all the West was in a state of blissful ignorance of the life that matters, India had long before the Christian era drunk deep into that sweetness and light which dawned upon Europe only in the 19th Century. Every religion has something distinct to say about the meaning and value of life and to answer in a reasoned and compreheneive manner all problems that meet a wayfarer, every moment in his long pilgrimage.

2. The life of Culture is really such a pilgrimage and the whole history of Indian culture is permeated with thoughts of different faiths. For ages religion has been a fountain of solace to afflicted minds, and has afforded peaceful solutions to bewildered souls. But Jainism, in which was found a satisfactory teaching by a great scholar and thinker like Herbert Warren after a period of search and cogitation, has received little or no attention from the

non-Jain philosophers and scholars. It is misunderstood and misrepresented by those who have written or spoken about it. Writers like Mrs. Sinclair Stevenson stigmatised its principle of "ahimsā as grotesque exaggeration" and its philosophy as possessing an "empty heart." It needs a big volume to meet such misrepresentations. The present article has no such ambition but is imbued with a modest motive of giving a brief exposition to changes that Jainism has brought about in Indian culture.

3. What is culture? It is difficult to define the word "culture" and its exact connotations, it is hard to understand. Culture may be defined as an essence of human experience of a group of people in any country or nation. It is a spontaneous and free assimilation of what is best in human thought, tradition and action. The Earth, the Universe and the Life have created "an accumulated tradition of human feeling for thousands of years and culture represents the power to realise this tradition and nourish it with a peculiar vision. It necessarily varies with climes and countries, though the substratum of all cultures may be based on the same ultimate spiritual sensibility. The characteristics of each culture can best be understood from the literature, the folklore, tales, proverbs, dress and many other numerous modes of conduct and thought." "The whole purpose of culture," as John Cowper Powys said in his book 'The Meaning of Culture', "is to enable us to enjoy life with a consciousness that has been winnowed, purged, directed made airy and porous, by certain mental habits." I remember having read some writer saying that culture consists in unlearning what you have learnt in schools and colleges. The humorous sally only points out that the academic paraphernalia of book-learning is not to be given undue emphasis in judging the standard of any particular culture. And so far as religion is concerned, culture aims at a free spirit in the deepest sense and is free from the fanaticisms of any dogma or creed.

4. Viewed in this light, Jainism contributed immensely towards the enrichment of the general life in India, not only amongst its followers but also amongst the laity whose thought and conduct had been circumscribed by the ritualistic teachings of the Vedas and Upanishads. It is idle to speculate about the antiquity of Jainism. There were days when Professors like Wilson, Lassen and Weber spoke of it as an off-shoot of Buddhism. It is now historically established that Pārshwanāth, the 23rd Tīrthankara who attained 'nirvāna' 250 years prior to Lord Mahāvīra was a historical personality and it would be wrong to argue that a faith propagated by Him could be an off-shoot of what was preached by Buddha 300 years later. In the Ādi Parva and the Ashwa-Medha Parva of the Mahābhārata there are references to "sapta-bhanginayajñāna" which admittedly apply to the Jains. Much of the confusion sprang from the apparent similarity in the popular doctrines of the two religions and as Buddhism went on gaining more power and strength after the Christian era certain kinds of prejudices also appear to

have crept in the appreciation of the two religions to claims of antiquity. Similarly there is ample material in the writings of the Western scholars who partly on acccount of the scantiness of material about Jainism and partly on account of their meagre study of the Hindu Shāstras drew hasty conclusions from the similarity of some rules of conduct and principles of faith and argued that Jainism was an offshoot of Hinduism. According to the Jain tradition the founder of the Jain religion was Lord Vrishabhadeva who lived millions of years ago. In his lecture on Jainism published by the Jain Itihās Society in 1902, Lala Benarsi Dass has quoted in detail from Mahābhārata ('Shānti Parva') and Bhāgwata Purāna Skandha 5 to show that these scriptures contain references to Lord Vrishabha as the founder of Jainism. He has also quoted from the inscriptions found at Muttra by Dr. Fuhrer in support of the propositions. The Inscriptions are ascribed to be 2000 years old and if further research brings out some historical material to bear out these vital details of tradition from different sources, there cannot be any doubt in concluding that Jainism was as old as Hinduism. Apart from these references, Dr. Jacobi said that "the interest of Jainism to the student of religion consists in the fact that it goes back to a very early period, and to primitive currents of religious and metaphysical speculation, which gave rise also to the oldest philosophies—Sānkhya and Yoga—and to Buddhism."

5. Whatever may be the divergent views about the antiquity of Jainiam, there cannot be any difference of opinion about the influence that it had both in the North and the South of India. In the North there are inscriptions and legends which sing of the glories of kings that were either Jains or had embraced Jainism The conversion of Kumārpāla, the King of Gujerāt is regarded as a great event of historical importance. Events during the earlier period of the rule of Asoka, the great Emperor are not wanting. But the tangible and at the same itme historical proof of the sway that Jainism had in Southern India is a matter of common history. Till the 12th century, there was not a single dynasty in the South that did not come under the influence of Jainism. The Kadambas, the Gangas, the Rāshtrakūtas, the Rattas and the Kalachūryas are some of the influential and powerful dynasties that either followed Jainism as the religion of the state or had innumerable followers within their fold.

6. The support of the political power and the status accorded to Jain priests, philosophers and writers naturally influenced every field of human activity and thought. The most fundamental contribution of Jainism is the introduction of a really scientific outlook in approaching all religious problems, particularly in the field of Metapaysics. Though the Jain doctrine, that to attribute the qualities of creation, protection and destruction to some external agency like God is the negation of the Supreme Being was ridiculed by many as a doctrine of athiests, as times passed on and intellectual

rationalism came to hold sway in philosophy as in religion, the doctrine of a kind and almighty creator governing the Universe is fast losing hold. I was amused to find Mrs. Stevenson writing that "the Jain believe strongly in the duty of forgiving others, and yet have no hope of forgiveness from a Higher Power for themselves." It is indeed regrettable to find this observation in the last chapter of her book: "The Heart of Jainism", which indicates that she had approached the subject without any heart to find out the truth about the religion. While Jainism refuses to recognise a Creator God and a Protector God, it has offered the highest and the most potent solution for evils of living beings by propounding that each soul possesses the inherent power of attaining to that state of liberation where omniscience and infinite bliss would eternally mark out the destination (moksha). "Thou art thine own master" is a doctrine of supreme potentiality and consolation. I cannot see whether there could be better "grace" or stronger heart in any religion. This teaching of the Jain religion must have come to the Indian people as bringing in the freedom of thought even in the field of religion which hitherto had been blocked and monopolised by the Brahmanical priesthood as their special province.

7. In ancient India, "whoever desires paradise, should sacrifice" was a common preaching and sacrifices and slaughter in the name of religion were very common. Jainism raised a revolt against this misnomer of a religion popularised by a selfish priestly class, and established equality and sacredness for all lives and in all states. Probably the old ideas had been based on a wrong concept of the soul. The Aryans appear to have believed that after death every soul exists in the same shadowy form in some higher region, and the same idea seems to have dominated the ritualistic part of the Vedic religion which preached the performance of Shrādha or the offering of oblations to the departed as a primary duty of a house-holder. As Dr. Jacobi concluded one of his learned discussion, "the concept of immortal souls is entirely absent in the Brāhmaṇas and the oldest Upanishads." A clear concept of the Jīva and Ajiva was given by Jainism. The Jainas recognised that while jīva was essentially intelligent and free, its contact with matter was responsible for the various bodies that keep it in bondage. The classification of the jīvas into ekendriya, dwi-indriya etc. was not easily appreciated by the other religions until modern science demonstrated that even plants have a sensient life resembling our own. Still more astounding is the analytical theory of pudgala or matter existing in atomical state, either bādara (gross) or sukhṣma (subtle) each occupying some pradesh or space. It is worth a detailed study to compare the modern theories of electrons with the minute classification which this religion formulated long ago.

8. To my mind, this scentific and analytical approach to the study and in the propagation of religion was the most significant contribution

which heralded a new era in the field of Indian philosophy. It is indeed a matter of common knowledge that the Jainas reached a very high sense of perfection in the field of logic by their introduction of the doctrine of Syādvāda. Besides assisting in the development of deductive and inductive thinking, it helped immensely in the cultivation of an impartial and all-round approach to every object or problem. In fact, Anekantawāda or the method of all-sided approach was a principle unknown to many other systems. Hegel's idea of the identity of being and non-being comes very near our branch of logic.

9. The singularity of Jainism is to be found yet in another field which has escaped the attention of some Western and Eastern scholars. The rationalistic idealism of the Jainas existed not only in their metaphysics but also in their ethical teaching. The doctrine of Karma is common to all religions in India but a distinct stamp of scientific and analytical classification is to be found in the Jain interpretation of it. The performance or the omission to perform certain rituals is regarded as a source of Karma amongst the Brahmins. The Jains however recognised the responsibility of each being for his or its karma. While other philosophies attributed the various antecedents and accidents of life to a divine power far beyond the control of human vision and thought, Jainism emphasised that the law of cause and effect permeated not only the physical aspect of our existence but also the psychical or mental make-up of all souls. The contact of matter with the soul produces new energies which in relation to their space, duration, intensity and nature produce myriads of changes in the living beings. The characteristic which any being possesses at any given moment is the natural result of the various karmas or energies which are generated by his past and present contact with the atoms of matter. Every moment a person attracts to himself and assimilates different particles or atoms of matter and it is common experience that accumulation of matter means some change. This law of moral causation brings about into existence different waves of feeling, either of sorrow or joy, merit or demerit and the attainment of complete perfection necessarily means a liberation from the foreign matter of karmic atoms. It is an imperceptible victory of the Jain doctrine that modern science and rationalism have demonstrated beyond doubt that this explanation offered by Jainism was true and conformable to known theories of acceptable doctrinaire.

10. It is common experience that the ideal of original founders often lose their spirit and retain only the form with the progress of times. The selected class which is first intended for safeguarding the rights of the masses ordinarily appropriates to itself all power and position which such selection brings with it. That is what exactly happened in the case of Brahmins. To them was first assigned the spiritual guardianship of the other three classes: but as times went on, the intellectual field was so much

monoplised by them that the others began to feel that aristocracy in religion created by priests was an artificial and suffocating barrier. The fact that all the Tirthankaras were Kśhatriyas by birth and that the religion that they preached threw the portals of religious knowledge and the attainment of spiritual perfection through it open to every soul irrespective of its antecedents of birth was really an unexpected revolution in those times. The wave of this religion fostered such enlightenment and change in outlook that all people must have felt a relief from the tyrrany of the priesthood. In fact the movement must have democratised the whole social system and showed to the people that to know it was to study it well and that to live it was not merely to love it as an object of reverence but to regard it as an essential element of life. Historical instances may be quoted from the South to point out that many people from the lower classes felt that Jainism was regarded by them as a Saviour from the thraldrom of priesthood and ritualism, and practised the principles with pride and reverence. I may only draw the attention of inquisitive students to Prof. S. R. Sharma's book on "Jainism and Karnatak Culture" for examples on this point. For a student of Indian Social History, it is absolutely necessary to note that Jainism brought with it and sowed the seeds of religius toleration to such an extent that for nearly a thousand years after the death of Lord Mahāvīra the principle of Ahinsā which was another form of universal respect for the life of every living object held sway in all activities of Kings and rulers in India. We know that all kings that came after the Christian era patronised learning, art, and literature regardless of class and creed.

11. It is unfortunate that this principle of Ahinsā which brought into the Indian life a new spirit of humanism and enhanced respect for all lives was subjected by different writers to unmerited criticism, if not hatred. Till Gandhiji demonstrated that the use of ahinsā as a weapon against an opponent was posssible only amongst those who were great in spirit and moral strength, the Jains were often charged with cowardice and as having brought about the downfall of many empires. Such critics forget that while laying down that the practice of non-killing physically and mentally was an idealism of the highest degree attainable by supremely spiritualised souls, Jainism did not forget to prescribe a code of conduct for an ordinary householder whose lapses in that field could be excused owing to the disabilities induced by his profession, calling, age or other circumstances. When Mrs. Stevenson characterised the doctrine as "grotesque exaggeration" she was oblivious to the principles that classified a house-holder into different classes or stages according to the standard of his mental make-up. The triumph of Gandhiji was the triumph of Ahinsā, nay of that religion which preached it as a stepping stone for divine perfection. As Gandhiji often emphasised we should remember that it is this "ahinsā" which has kept the

banner of Indian life much above the materialistic outlook of the West and has secured an ever green corner for our religion in the hearts of the great.

12. Lastly, it is to be noticed that the different philosophies that flourished in our country have emphasised either on the importance of devotion, or conduct or knowledge as the basis of liberation. Jainism was singularly vocal in insisting that the right path of liberation lay through a unity of all the three and the non-development of any one of them meant a step away from the true path of liberation. How true it is to say that a man of devotion, not backed up by right knowledge and right conduct cannot progress beyond the shallow sentiment of a showy devotee. It is equally true that knowledge and devotion not strengthened by right conduct have no value in the development of the mind and the soul, since absence of cohesion between the thought and the deed destroys the harmony which would have otherwise developed in such a person.

13. These chaanges in the outlook of human life so profusely and freely preached by Jainism and practised by its followers were not confined to the field of religion only. The Jains were patrons of great learning and the history of South Indian literature is a history of the power and force which Jain thought wielded for centuries over the minds of writers and readers alike It is impossible to disassociate religion from the different activities of the mind and the credit of having used religion as a vehicle of higher thought and poetic flights must always go to the Jains whenever the early history of Indian literature comes to be written. It is a boast amongst the critics of modern poetry and art to advocate that love of nature was a new phenomenon infused by the West. Would it be too much to claim that the Jains have always exhibited the highest sense of respect for nature and almost a sort of mystic rapture over the beauties and the serenity of nature by selecting for their holy shrines such hills and sites of luxuriant beauty that sing a song of austere love and veneration, a song that almost lulls the visitors into devotion by a captivating music of the " Om ".?

Here I close my article , but before I do so let me assert once more that it is Jainism that " inaugrated the new period of Indian culture which lasted through the middle ages almost down to the present time " and now holds out a hope of future rejuvenation and renaissance in all our life, literature and philosophy.

क्षेत्रपाल (कारकळ)
Fig. XII Kṣetrapāla, Neminath Temple, Kārkal.
(Copy-right reserved. U. P. Shah, Esq.)

क्षेत्रपाल, मूडबिदरी
Fig XIII Ksetrapāla
(Chandranātha Temple,-Moodbidri).

Kṣetrapāla In Jain Iconography

By Shrī Umākānt Premānand Shāh M. A., Baroda

[श्री० उमाकान्त प्रेमानंदजी शाहने जैनमूर्ति-कला-विज्ञानका विशेष अध्ययन किया है। प्रस्तुत लेखमे वह जैनमूर्ति कला विज्ञानमे क्षेत्रपालकी मूर्ति स्थितिका परिचय कराते है। क्षेत्रका रक्षक देवता 'क्षेत्रपाल' कहलाता है। सबही मतोंमे उसकी मान्यता है। जैन शास्त्रोंमेंभी क्षेत्रपालका वर्णन मिलता है। श्वेताम्बरीय 'निर्वाणकलिका' में क्षेत्रपालका वर्ण कृष्ण, टेडे दांत और भयंकर मुखाकृति लिखी है। आंखें छोटी और भूरी तथा केश बर्बर होते है। काठकी खडाओं पहने और मुद्गर लिये नंगधडंग यत्रतत्र घूमते उसे बताया है। सीधे हाथमें डमरू और अंकुश लिये तथा वाममे कुत्ता, गेंडिकादि लिये होता है। तीर्थंकर मूर्तिके दाहिने पार्श्व पर क्षेत्रपालकी मूर्ति बनाई जाती है। श्वे० 'आचारदिनकर' मे बीस हार्थोंवाले क्षेत्रपालका उल्लेख है, जो सर्प पहने होता है। 'निर्वाणकलिका' मेंभी अनेक हार्थोंवाला क्षेत्रपाल बताया है और उसका वर्णन लिखा है। माणिक्यचन्द्र सूरिके 'नलायन' ग्रंथमेंभी एक अन्य प्रकारके क्षेत्रपालका उल्लेख है, जो घंटिकाओंकी ध्वनि पर तेजीसे नाचता रहता है। दिगम्बर जैन सम्प्रदायमेंभी क्षेत्रपाल माना जाता है। 'बृहत्स्नपन' ग्रथमें गुणभद्रने इनका स्नान तेलसे करना बताया है। उनके माथे पर जिनेन्द्रकी मूर्ति बनी होती हैं। पं० आशाधर और श्री नेमिचन्द्रजीने अपने प्रतिष्ठा पाठोंमें क्षेत्रपालकी मूर्ति बनानेका विधान लिखा है। उसके ऊपर दोनों हाथोंमें ढाल-तलवार और नीचेके दो हाथोंमे मुद्गर और कुत्ता लिये लिखा है। "जैनेन्द्रयज्ञविधि" में उसका रंग कृष्णनील और उसे नंगा, सर्पाभूषण पहने और तीन आंखोंवाला बताया है। उसके चारों हाथोंमें स्वर्णपात्र, तलवार, मुद्गर और डमरू लिखे हैं। मूडबद्रीके चन्द्रनाथ मंदिरमें क्षेत्रपालकी एक ऐसी मूर्ति है। (चित्र नं. १) कारकलके दिगम्बरीय नेमिनाथ मंदिरसेभी क्षेत्रपालकी एक मूति मिली है (चित्र नं. २) यह मूर्ति भयकर मुखाकृतिकी है और कमरमें छुरी बांधे हुए है। सीधे हाथोंमें डमरू और अंकुश है। शेष हाथ खंडित है। सर्पफणा और तीसरी आखभी दृष्टव्य हैं। आसन पर कुत्तेका वाहन अङ्कित है। मूछें लम्बी है और खडाऊँ पहने है। ग्वालियर रिसायतके गंधावळ स्थानसेभी एक क्षेत्रपाल मूर्ति मिली है। वह त्रिभंग खडी है--पैरोंमें कुत्ता बना है। सिरपर पचसर्पफणमंडल बना है। देवगढ किलेके मंदिर नं. १ के सम्मुख स्तंभ नं. २ पर अति सुंदर क्षेत्रपालकी मूर्ति बनी हुई है। वह ललितासनमें बैठी है। यह क्षेत्रपालकी सर्व प्राचीन उपलब्ध दिगम्बर मूर्ति है। मारवाडके जोधपुरस्थ पार्श्वनाथके श्वेताम्बरीय मंदिरमे क्षेत्रपालकी मूर्ति दर्शनीय है। जैन उसकी गणना भैरव और योगिनियोंमे करते है। दिगम्बर ग्रंथ 'अभिषेकक्रम' में क्षेत्रपालके पाच नाम (१) विजयभद्र, (२) वीरभद्र, (३) मणिभद्र, (४) भैरव, (५) अपराजित मिलते है। इसका साम्य हिन्दूओंके देवता भैरव-योगिनीसे हैं। क्षेत्रपालका रूप हिन्दू भैरव जैसा है। सभव है, हिन्दू देवताके आधारसे जैनोंने क्षेत्रपालको माना हो। (?) किन्तु जैनोंमें क्षेत्रपालकी पूजा प्राचीन कालसे प्रचलित है।
--का. प्र.]

The Ksetrapāla is the protecting deity of a *kṣetra* or place. Every village, town, city and even country can have a protecting deity and such references are found in Jain literature as well. Belief in such deities is found in all folklores, and the worship of a ksetrapāla must be regarded as the common heritage of all the sects from very early times. Objects of nature—the river, the mountain, the water, the fire, the rain and the thunder-storm, the tree or the forest—all were supposed to have a *devatā* or a presiding deity and the ksetrapāla may be a product of this primitive belief.

It was, therefore, natural that the human mind first thought of propitiating the lord of the place in which a temple was erected or a rite was being performed.[1]

The Śvetāmbara text Nirvānakalikā says that Ksetrapāla bears the name of the place (where he is worshipped). Black in colour, he looks fierce with crooked teeth, round and tawny eyes and curly (? *barbara*) hair. Wearing wooden sandals and naked, he wanders at will, carrying the mace (*mudgara*), the noose and the *damaru* in the right hands and the dog, the goad and the *gadikā* (?) in the left one His image is to be consecrated on the right side of the Tirthankara, in the north-eastern quarter, with his face turned towards the south.[2]

The Ācāradinakara, another Śvetāmbara text, describes a twenty-armed form of the god. In his twenty long hands he carries the sword, the spear, the bow, the arrow, the staff, the trident, the disc and such other symbols. He wears snake ornaments and is aaid to use the lion-throne (*simhāsana*)[3]

---

1. यस्याः क्षेत्र समाश्रित्य साधुभिः साध्यते क्रिया।
सा क्षेत्रदेवता नित्य भूयान्नः सुखदायिनी॥

Ācāradinakāra I p 44.

2. तथा क्षेत्रपाल क्षेत्रानुरूपनामान श्यामवर्णं वर्बरकेशमावृत्तपिङ्गनयनं विकृतदंष्ट्रं पादुकाधिरूढं नग्नं कामचारिणं षड्भुजं मुद्गर-पाश-डमरुकान्वितदक्षिणपाणिं श्वानाङ्कुशगेडिकायुक्तवामपाणिं श्रीमद्भगवतो दक्षिणपार्श्वे ईशानाश्रितं दाक्षिणाशामुखमेव प्रतिष्ठाप्यमिति।

Nirvāṇakalikā, page 38.

3. समरडमरसङ्गमोद्दामराटम्बराडम्बलम्बोल्लसद्विंशति
प्रौढबाहूपमाप्राप्तसर्पाधिपालङ्कृतिः।
निशितकठिनखङ्गखङ्गाङ्गजाकुन्तविस्फोटकोदण्डकाण्डा-
च्छलीयष्टिशूलोरुचक्रक्रमभ्राजि हस्तावलिः।
अतिघनजनजीवनपूर्णविस्तीर्णसद्वर्णदेहद्युताविद्युदुद्भूति-
भाग्भोगिहारोरुरत्नच्छटासगतिः।
मनुजदनुजकीकसोत्पन्नकेयूरताडङ्करम्योर्मिकास्फार-
शीर्षण्यसिंहासनोल्लासभास्वत्तमः क्षेत्रपः॥

Ācāradinakara, II, page 181.

The Nirvānakalikā supports this form also as it refers to a many-armed form, black in appearance, and carrying the *ḍamaru*, the mace, the noose and such other weapons.[4]

The same text further calls him black, white, golden, grey or tawny in complexion and adds that he wears a *jaṭā* (matted hair) and that his hair are curly (*barbara*). The snake Vāsukī has become his sacred thread while the Taksaka Nāga is worn as the girdle and the Śesa as the necklace. Three-eyed, he covers his body with a lion-skin and sits on a corpse while the dog serves as his vehicle. The Ksetrapāla is surrounded by the eight Bhairavas–Ānande and others–and sixty-four Yoginis. He is known by various well-known epithets such as *Kālamegha*, *Meghanāda*, *Girividāraṇa*, *Khañjaka*, *Bhīma*, *Gomukha*, *Bhuṣana*, *Duritavidāraṇa*, *Duritārī*, *Priyankara*, *Pretanātha* and the like.[5]

The Nalāyana of Mānikyacandra sūrī describes a form of Ksetrapāla, fierce and naked in appearance, with red sandal marks all over the body and dancing swiftly with the jingling of bells tied to the girdle. The deity carried the sword, the shield, the human skull and had the dog as his vāhana. This seems to be a four-armed variety of the deity.[6]

The Kṣetrapāla is known to the Digambara sect as well. Gunabhadra in his Brhat-snapana prescribes oil for bathing this deity. The Ksetrapāla is said to have the mark of the Jina image on his forehead.[7] But the iconography of this deity in the Digambara traditions is supplied by the authors of

---

4. ॐ नमो दक्षिणदिग्भागासीन-स्निग्धाञ्जनद्युति-मुद्गरपाशडमरुकाद्यनेकशस्त्रालङ्कृतानेकपाणि-कामचारिणे क्षेत्रपालाय स्वाहा ।

Nirvānakalikā, page 19.

5. ॐ क्षा क्षीं क्षूं क्षौं क्षः नमः श्रीक्षेत्रपालाय कृष्णगौरकाञ्चनधूसरकपिलवर्णाय कालमेघ-मेघ-नाद-गिरिविदारण-आल्हादन-प्रल्हादन-खञ्जक-भीम-गोमुख-भूषण-दुरितविदारण-दुरितारि-प्रियंकर-प्रेतनाथ-प्रभृतिप्रसिद्धाभिधानाय विंशति भुजादण्डाय बर्बरकेशाय जटाजूटमण्डिताय वासुकीकृतजिनोपवीताय तक्षककृतमेखलाय शेषकृतहाराय नानायुधहस्ताय सिंहचर्मावरणाय प्रेतासनाय कुक्कुरवाहनाय त्रिलोचनाय आनन्दभैरवाद्यष्टभैरवपरिवृताय चतुःषष्टियोगिनीमध्यगताय श्रीक्षेत्रपालाय......।

Ācāradinakara, page 181.

6. *Nalāyana*, 8-2 28-33. Mānikyacandra Suri lived in 13th Century V. S. Also see Mantrādhirājakalpa of Sāgaracandra, 3.120. (published in Mantrādhirāja–Cintāmani, ed. by Sārābhāi Nawāb).

7. *Bṛhat–snapana of* Gunabhadra, verses 62-64, published in *Abhiṣeka–pāṭha–saṁgraha p. 28.* The date of Gunabhadra is uncertain but the work seems to have been composed between 1000 and 1200 V. S. Gunabhadra, the author of Brhatsnapana, florished before Āśādhara.

the Pratisthāsaroddhāra (Pandit Āśādhara)[8], and the Pratisthātilaka (Nemicandra),[9] who say that the Ksetrapāla carries the sword and the shield in his two upper hands while the club and the dog are held in the lower ones. It may be noted that the Pratiṣthātilaka assigns to him the south-eastern quarter.

Another Digambara form is supplied by the Jainendrayajñavidhi.[10] Dark-blue in complextion and naked, Ksetrapāla wears snake ornaments and has three eyes. In his four hands he carries the golden bowl, the sword the club and the *ḍamaru.*

A stone sculpture in the Chandranātha temple at Mūḍabidri, in the South agrees with this tradition inasmuch as the deity carries the *ḍamaru* and the sword in the right upper and lower hands respectively, while showing the club and the bowl in the corresponding lower ones. Ksetrapāla here stands on a lotus and wears various ornaments. On the pedestal is carved a figure of his dog vehicle (fig. 1).

A metal image of a Ksetrapāla from the Digambara temple of Neminātha at Kārkal is interesting (fig. 2) Here the deity is represented terrific in appearance and carries a dagger on his girdle. In his two right hands are seen the *ḍamaru* and the noose symbols while the right upper hand probably carried the club, its upper portion being mutilated. The symbol of the right lower hand is indistinct. A snake-hood rising over his right shoulder as well as the third eye may be noted. On the pedestal is

---

8. दप्यनूर्ध्वभुजा धृतासिफलकः सव्येन राह्वासितं
श्वानं सिंहसम करेण भयदामन्येन बिभ्रद्गदाम् ।
नागालकरणः किलाशु डमरुकारावोल्वणाग्रिक-
सेखतर्धरमत्रयोत्स्यधिकृतः क्षेत्रे स साक्षादयम् ॥ ५५ ॥

Pratisthāsāroddhāra, page 135.

The printed text of this work is vey corrupt and a scientifically edited text is a long felt need.

9. ऊर्ध्वस्तेन करद्वयेन फलक खड्गं कराभ्यामधो-
र्वार्त्तभ्यामुरुसारमेयमसित स्फूर्जद्गदा विभ्रतम् ।
प्रत्यूहक्षपणक्षमं समवितक्षेत्रव्रज क्षेत्रपं
तैलाद्येन सताभिषिच्य विदधे सिन्दूरकैर्धूसरम् ॥

Pratiṣṭhātilaka, pages 115-16.

10. प्राप्ताभ्यङ्गविधिर्जटामुकुटवान्नीलाञ्जनाभः सदा
हैमं पात्रमसिं गदां च डमरु बिभ्रच्चतुर्भिः करैः ।
नग्नो नागविभूषणस्त्रिनयनः श्रीजैनपूजार्चितः
सिन्दूराङ्कितमौलिरिष्टफलदः क्षेमं क्रियात्क्षेत्रपः ॥

Oriental Mss. Library, Madras, Catalogue XVI. Ms. no. 8755.

carved his dog vehicle. Other noteworthy features are the long moustache and the pair of sandals.

A third Digambara image of Ksetrapāla is obtained from Gandhawāl in the Gwalior State. Here the deity is standing in tribhanga with his dog emerging from behind his legs Five snake-hoods over the head of the deity emphasise his association with snakes familiar to the Jain texts referred to above. In his right hands, the Ksetrapāla here carries the club and the *damaru* while the left upper one probably carried the snake. The left lower hand is mutilated [11]

A more beautiful sculpture of the Ksetrapāla is, however, preserved on a pillar no. 2 in front of temple no 1 at Deogarh fort. Here he sits in the *lalita* pose and carries the chain and the mace in his right upper and lower hands respectively while holding a three-hooded snake and the fruit in the corresponding left ones. The dog vehicle is seen near his right leg. It is the earliest representation of a Digambara Ksetrapāla hitherto discovered and is fortunately well-preserved.[12]

Of the Śvetāmbara specimens one may be noted here. The Pārśvanātha temple in Jodhpur, Marwar, has a sculpture of a Ksetrapāla enshrined in one of its niches. The deity here carries the *damaru* and the shield in the right and the left upper hands. The right lower holds the sword while the left lower shows the water-pot. The dog is his vāhana.

The above account of Ksetrapāla shows that the Jains associate him with the Bhairavas and Yoginis both of which conceptions are foreign to Jainism. The Ācāradinakara prescribes the same *pratisthā-vidhi* (consecration rite) for Ksetrspāla, Batukanātha, Kapilanātha, Hanūmān, Narasimha and such other deities, who are *Vīras* or deities of a town or a country.[13]

The Digambara text *Abhiseka-krama* of unknown authorship gives the following five names of Ksetrapālas : *Vijayabhadra*, *Vīrabhadra*, *Manibhadra*, *Bhairava* and *Aparājita* [14] These as well as the other names cited

---

11. B. C Bhattacharya, *Jain Iconography*, plate XI.

12. A photograph of this figure is being published in my paper on Jaina art and Antiquities : North in the new edition of the Cultural Heritage of India.

13. क्षेत्रपाल–बटुकनाथ–कपिलनाथ–हनुमन्नारसिंहादिवीरपुरपूजितदेशपूजिताना एक एव प्रतिष्ठाविधिः किंतु गृहक्षेत्रपालस्य गृहे कपिलगौरकृष्णादीनां प्रसादे बटुकनाथस्य श्मशाने हनुमतः पुरपरिसरे नारसिंहादीना पुरपूजितानां देशपूजिताना नागादीनां गूगा(?) प्रभृतीनां तत्तस्थानेषु प्रतिष्ठार्थं मन्त्राश्च तत्तदाम्नायतो ज्ञेयाः ।

Ācāradinakara II, page 210.

14. ॐ आं क्रों अत्रस्थ विजयभद्र–वीरभद्र–मणिभद्र–भैरव–अपराजित–पंचक्षेत्रपालाय अर्घ्यं गृण्हा गृण्हा स्वाहा ।

Abhiśeka-pātha-samgraha, pp. 280-81.

by Ācāradinakara show how closely the form as well as the worship of the Jain Ksetrapāla are associated with Hindu deities like the Bhairavas and Yoginis, Nāgas like the Śesa and others, and Yaksas like Mānibhadra. Of these the form of the Ksetrapāla especially corresponds with the Hindu conception of the Bhairavas, notably the Batuka-Bhairava.[15] The worship of Ksetrapāla is, as suggested above, presumably of primitive origin. But the iconography of the Jain Ksetrapāla is based upon the Śaivite Ksetrapāla and Bhairava.[16]

Worship of the Ksetrapāla in Jainism was popular and pretty old as can be seen by the fact that Jinaprabha-sūri notes the existence or images of Ksetrapāla, worshipped by the Jains, at Mathurā, Valabhī, Phalodhi and Śrīpura along with those of Ambikā, Padmāvatī and Dharanendra.[17]

---

15. The dhyāna for Vaṭuka or Batuka Bhairava is :—

विकीर्णलोहितजटं त्रिनेत्र रक्तविग्रहम् ।
शूलं कपाल पाश च डमरु दधत करैः ॥
नानारूपैः पिशाचैश्च नानारूपगणैर्वृतम् ।
श्वानारूढं च निर्वाण बटुक भैरवं भजे ॥

Vatuka-Bhairava-kalpa, quoted by Gopinath Rao, *Hindu Iconography*, II, 2 appendix, page 93.
Also see *Rūpamaṇḍana* quoted op-cit p 92.

16. For the "*Śaivite deity Ksetrapāla,*" by Chintāharana Chakravarti, see, *Indian Historical Quarterly*, Vol. IX, pp. 237-243 Also, Gopinath Rao, *Elemeats of Hindu Iconography*, Vol. II, part 2, pp. 495 of *Āpastamba-gṛhya-sūtra*, 7.19.13 and 7.20 12-19 prescribe offerings to Ksetrapati where he is to be invoked like Iśāna or Śiva.

17. Vividha-Tīrtha-Kalpa, ed. by Muni Jinavijaya, op. 19, 29, 103, 106 Also see, Supāsanāha-caria, p 152. Śrāddhapratikramana-sūtravṛtti, gāthā 47.

The Tree of Life and other group symbols in Jaina Art.

By Aśokakumār Bhattāchārya, M. A.

[श्री प्रो० अशोककुमार भट्टाचार्यजीने जैन कलाका विशेष अध्ययन किया है। इस लेखमें आपने जैन कलागत सांकेतिक चिन्होंका सुंदर विवेचन किया है। आप लिखते है कि हिन्दू, बौद्ध और जैन कला विज्ञानमे जीवनवृक्ष सकेतका विश्लेषण अन्य चिन्होंके अध्ययनमें उपयोगी है। त्रिशूल चिन्ह निरीह जैनोंका नहीं है। बौद्ध और शैवोंमेंभी यह मिलता है। मोहनजोडरोके पुरातत्वमेंभी इसके दर्शन होते है। कडफिस द्वि० के शैव सिक्कों परभी त्रिसूल बना हुआ था। जैन कलामें त्रिशूल एक दिक्‌पाल देवताका चिन्ह माना गया है। त्रिशूलकी मान्यता जैन और बौद्धोंके निकट एक पवित्र वस्तु रही है और जैनोके अमूर्तिमय धार्मिक मान्यताका मूल आधारभी। कंकाली टीलासे प्राप्त जिनमूर्तिके आसनमें सम्मुख त्रिशूल पर धर्मचक्र अंकित है। बौद्धोंके निकटभी धर्मचक्र मान्य है। भारतीय कला विज्ञानका सभी सम्प्रदायोंने समान उपयोग किया है। भारतमें कलाको साम्प्रदायिक रूप प्राप्त नहीं था। त्रिशूल या त्रिरत्न चिन्ह जैन कलामें सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान्-सम्यग्चारित्ररूप रत्न त्रय धर्मका द्योतक है। बौद्धोंमे उसका भाव वुद्ध-धर्म-संघसे है। ॐ जैन धर्ममें पांच अक्षरों अ-आ-उ-ऊ-म से बना, जो 'पंचपरमेष्ठी' के ज्ञापक है। चक्र वैष्णव मतमें भी मान्य है। जैन लेखक ठक्कर फेरूने शासनदेवता चक्रेश्वरीके परिकरमेंभी धर्मचक्रका होना आवश्यक बताया है। चक्रवर्तीके रत्नोंमेंभी एक चक्र रत्न होता है। ककाली टीला मथुराके कुषाण-कालके जैन आयागपटोंमें धर्मचक्र अङ्कित है। जैनोंमें अष्टमंगळद्रव्य विशेष महत्वपूर्ण है, जो तीर्थंकरकी मूर्तियोंके साथ होते है। वर्द्धमान सूरिके 'आचार दिनकर' मे इनका वर्णन मिलता है। अष्टमंगल द्रव्योंमें पहला दर्पण है। इससे भाव यह है कि जिनेन्द्रका आदर्श भक्तके हृदयमे दर्पणवत् प्रतिविम्बित होगया है। दूसरा चिन्ह भद्रासन है जिससे स्पष्ट है कि भक्त जिनेन्द्र-चरणों की निकटता पा रहा है। तीसरा चिन्ह वर्द्धमान सम्पुट इस बातका द्योतक है कि जिनेन्द्र महावीरकी छत्रछायामें भक्तका सौभाग्य प्रस्फुटित हो रहा है। चौथा चिन्ह पूर्णकलश है, जो यह प्रगट करता है कि त्रिलोकमें जिनेन्द्रही सर्वेच्छापूरक है। हिन्दू धर्ममेंभी कलश मान्य है। कलश जिनेन्द्रका प्रतीक है-इसीलिये उस पर दो नेत्र बनानेका रिवाज है। शिवके सागरमंथन प्रसगमेभी कलश मिलता है। सभव है जैनोंने वहांसे इसे लिया हो। (प्रो० सा० को यह ध्यानमें रखनेकी वात है कि जैन धर्ममें अष्टमंगळ द्रव्य अकृत्रिम चैत्योंमेंभी माने हैं। अतएव वे जैनकी निजी वस्तु ठहरते हैं। —स०) पांचवा चिन्ह श्रीवत्स है जो रेखाङ्कण द्वारा चतुर्दली सुमनाकार बताया जाता है। सुमनका श्वेत और पवित्ररूप ठीकही केवलज्ञानका द्योतक है। वैष्णवोंमेंभी यह विष्णुमूर्तिका चिन्ह माना गया है। छठा चिन्ह मीनयुगलका है। मोहनजोडरोके मीन लोगोंका कुल चिन्हभी मीनका था। वहाके ज्योतिषचक्रमेंभी मीन बना हुआ है। मोहनजोडरोके लोग मीनको ईश्वर मान कर पूजते थे। मीनाक्षी औरत देवता शिवका रूप था, ऐसा माना गया है। कामदेवका सम्बन्धभी मीनसे उपरान्त कालमें स्थापा गया है। विष्णुका मत्स्यावतार प्रसिद्ध है। सृजन और उत्पत्तिके सकेत रूपमेभी मीनकी मान्यता लोगोंमे है। बंगालमें नववधू और वरको घरमें घुसतेही हाथमें

मछली थमा देते है। इलोराके चित्रणमेंभी मीन देखनेको मिलती है—वहां शिवलिंगसे उनका सम्बन्ध बिठाया है। 'महाभारत' में मत्स्यराज और मत्स्यगधा सत्यवतीको मीन-कुक्षिसे जन्मा लिखा है। 'हरिवंश' मेंभी ऐसी कथायें है। द्रौपदी स्वयंवरमें मीनाक्ष-वेधनका उल्लेख है। (सभव है कि इन शास्त्रीय उल्लेखोंमें मीनसे भाव मीन जातिके मानवोंसे हो। स०) जैन तीर्थकरोंकी मूर्तियों पर चिन्ह रखनेकी प्रथा प्रचलित होने पर पुष्पदंतका चिन्ह मकर (मछली) का रक्खा गया। तीर्थकरकी माता जो स्वप्न देखती है उनमें मीनयुगल सृजन और समृद्धिके सकेत रूपमें होता है) बौद्धोंकोभी मीन चिन्ह मान्य है। गुप्त कालके बाद तक मीन चिन्ह प्रचलित रहा है। इस चिन्हका जैन अर्थ महत्वपूर्ण है। जैन कहते हैं कि मीनलक्षणयुक्त कामदेव जिनेन्द्रसे हार कर उनकी शरणमें आगया है। सातवा चिन्ह स्वस्तिका है। प्राचीन कालसे स्वास्तिकाकी मान्यता विश्वव्यापी रही है। जैन दृष्टिसे स्वस्तिका शान्ति और समृद्धिका शुभचिन्ह है। सुसाकी अन्यतम खुदाईमेंभी-स्वस्तिका मिला ,जिससे सुमेर लोगोंका सम्पर्क भारत एवं अन्य आर्यदेशोंसे स्पष्ट है। खंडगिरिकी हाथीगुफामें भी स्वस्तिका बना हुआ है। दूसरीसे तीसरी शताब्दि ईस्वी पूर्वके सिक्कों परभी स्वस्तिका चिन्ह मिलता है। कोसम, अवंती और तक्षशिलासे ऐसे सिक्के मिले है। जैन लोग स्वस्तिकाका निर्माण अपनी सैद्धान्तिक मान्यताओंको लक्ष्यकर करते है। स्वस्तिकाकी चारों बाहें चार गतिकी निर्देशक हैं जिनमें संसारी जीव भ्रमण करता हैं। तीन बिन्दु रत्नत्रय धर्मके द्योतक हैं और अर्द्धचन्द्राकार चिन्ह निर्वाणका सूचक है। अतिम चिन्ह नन्द्यावर्त है जो जिनेन्द्रके वैभवको बताता है। —का॰ प्र॰]

In Buddhism as well as in orthodox Brahminism the tree of life has occupied a definite place as a significant product of the speculations about life and its relations. A consideration of the symbolic forms for the representation in art of this conception is surely a point which one cannot afford to miss in evaluating the place of symbolism in art forms, whether of the Hindu, the Budhhist or the Jain. The representations in symbols of the head and feet of the jewelled tree of life at Sanchi[1] and those of the fiery pillars at Amraoti[2] are associated with the more widespread symbolism of the Triśūla in Buddhism. But we should bear in mind that the symbol of Triśūla is not exclusively found in Jainism and Buddhism but that its significance can be traced further back to a still older tradition The three aspects of Agni Vaiśvānara have been metamorphosed into this three-pronged symbol of a Triśūla. We know the association in later Śaivism of the Triśūla with Śiva himself.[3] This latter association can be traced to a very early tradition, the art-forms from the early seat of religious art, Mathurā, bearing unmistakable witness to it. Even still earlier, in the Pre-historic civilisation of Mahenjodaro, the beginnings of this association can be clearly recognised.[4]

1. Arch. Survey, Reports for W. India, Vol. V p. 12, fig. 7.

2. Ibid fig. 6

3. The Ellora Cave temple images of Śiva can be cited as an instance in point of fig. 3, pl. XXX, Arch. Survey Reports, for W. India, Vol. V.

4. Mohenjodaram *Marshall*. pp. 55 ff.

The Śaiva coins of Kadphises II and the Śaiva seal from Sirkap[5] are some of the earliest representations of this association of the Triśūla with the Śaiva cult.[6] The Triśūla in Jaina art stands for one of the early symbols of a Lord of the Quarters. In texts, relating to religious and secular architecture, it is prescribed that on the land selected for the construction of a palace, a Kurmaśilā is to be placed, as a matter more of religious necessity than anything else.[7] This prescription is followed in also the later texts of the Jains. The *Vatthusāra-payaraṇam* following this tradition lays down the same formulae with regard to the establishment of Kūrmaśilā. On the eight sides of this are to be placed the eight symbols for the Dikpālas in the eight or more properly nine khuraśilā, one being placed just beneath the Kūrmaśilā.[8] The symbol there used for the eighth Lord of the Quarters is the Triśūla placed on the Sanbhāginī slab of stone.[9] Here Triśūula symbolises the Tantric character of Iśāna, the eighth Lord of the Quarters.[10] It really signifies and makes clear one fact, namely, that the idea of a Triad that is all sacred to Buddhism and Jainism in the formation of the Triratna and which dates as early as most probably the Kuśāna period, was one that formed one of the fundamental principles in aniconic religious attitude of the Jain. Attention may in this connection be drawn to a find from the Kankālī Tīlla at Mathurā.[11] On the front of the pedestal of this image of a Jina is the figure of a wheel placed on a trident carved in relief, being

---

5. Arch. Survey of India, Ann. Report for 1914-15, p. 51, pl. XXIV.

6. The association of Triśūla with the Śaiva cult, is however, not universal; the use of Triśula with the floating banner is also met with in connection with royal signia which are purely secular in significance—A. K. Coomarswamy, History of Indian & Indonesian Art p. 25 fn.

7. Vide, Ksīrārnava, attributed to Viśwakarmā.

8. Paḍdham gaddāvivaram jalam tam aha Kakkaraṁ tam Kunaha, Kurumanivesam aṭtham Khurassilā tayanu Sutta vihī. III. 2.

Also cf. The description of a Kūrmaśilā in the Prasādamandana of Sūtra Dhāra-Manḍana—Ardhāngulo bhavat kūrma eka haste Surālaya '
Ardhāngulāt tato Vridhih kāryā tithi kārā vadhih "
Ekatrimśat Karāntaṃca tadardhā vidhirisyave '
Tatordhāpi, satārodhāntam kuryādarigulamtānatah
Caturtthāṁ sādhikā jyeṣṭhā kaniṣṭhā hīnayogatah.
— quoted in Vathusārapayaranam (Ed. by B. Jain) P. 103.

9. Ksīrārnava of Viśwakarmā

10. Nirvānakalikā (Ed. by M. B. Jhaveri) p. 30.

11. J. Ph. Vogel : Catalogue of the Archaeological Museum at Mathurā, p. 67 Image No. B.5.

worshipped by a group of monks (?). This indeed bears a close relationship with the Buddhist art of representing the wheel or the Dharmacakra which in early sculpture was a substitute for the Lord himself. Indeed to quote Buhler, " the early art of the Jains did not differ materially from that of the Buddhists. Indeed, art was never communal. Both sects used the same ornaments, the same artistic motives and the same sacred symbols, differences occurring chiefly in minor points only. The cause of this agreement is in all probability not that adherents of one sect imitated those of the other, but the both drew on the national art of India and employed the same artists." [12] The tri-ratna symbol, in Jainism represents the three-fold character of the perfects, viz., Knowledge, Faith and Conduct. This idea of a triad which in Buddhism took the form of three Jewels, viz., Buddha, Dharma and Sangha was represented sometimes by the trilateral figure or trikona which according to Beal was used to denote 'the embodied form of the Tathāgata' or sometimes by the trilateral symbol a-u-m.[13] It must be mentioned here that the Om in Jainism does not consist of the three syllabus a-u-m but rather of five viz., a-a-u-u-m representing the five 'worthy' personages or 'Parmeshthīs' to whom homage is offered at the beginning of any undertaking or worship. In Brahmanism too, the mystic symbol Om is sometimes represented in art as consisting of the five fold divinities of Brahmā, Vishnu, etc , as in a very late picture from Baroda.[14] The tri-ratna symbol in many of its varieties in Buddhism is available from the Buddhist sites of Taxila and round about from early Kuśāna period [15]

The consideration of the above piece of sculpture from the Kankālī Tīlā at Mathurā also leads us most consistently to the estimation of the place of the *Cakra* as the symbol for the Law which found conspicuous favour with early as well as medieval Buddhism. Cakra as the symbol or *Rūpa* of the Vaisnava iconography beginning from that of the Lord Visnu Himself is as early a tradition as to be traced in the very oldest of the Punch-marked coins dating from the 7th Century B. C. The Cakra associated with the triratna symbols[16] is not peculiarly Jain. It is also found in the Taxila art of the far pre-christian era where it is undoubtedly Buddhistic. It is there

---

12. Epigraphia Indica II P. 322.

13. For a fuller discourse on these symbols, *vide* A. Getty, Gods of Northern Buddhism p 197 ff

14. Annual Report, Deptt. of Archaelogy, Baroda, 1938-39, No. 99.

15. Arch Survey of India, Annual report for 1916-17 Fig. No. 75

16. The Triratna in Jainism, it must be stated consists of Jñāna, Darśana and Cāritra, and probably it was Jñana or knowledge par excellence, the knowledge of the scriptures not excluded that is the Dharma in essence. The Cakra in art represents this Jñāna.

represented symbolically in association with the Trident or Tri-ratna symbols.[17] The Buddha's hand touches the wheel of Law which is placed on the tri-ratna symbol flanked on two sides by a deer each depicting the preaching of the first Sermon at the DEER Park. In late period probably such symbols came to transgress their limits of narrow sectarianism. For the Jaina writer Thakur Feru mentions that goddess Cakreśvarī's *parikara* is not complete without a *Dharmacakra* flanked by stags being shown on the front face of the pedastals." [18] Attention may also be drawn to the Cakra-ratna which is attributed to a cakravartin as his symbol as well as weapon.[19] The representation of the Cakra in Jaina art can be traced as early as the first few centuries near the beginning of the Christian era. The votive tablets, the Āyāgpatas, belonging to the Kusāna period and unearthed from the Kankālī Tīlā at Mathurā contain the figure of Cakra and the elephant placed on two figures placed on two pillars of the Persepolitan type on either side of a seated Jina at the centre.[20]

A consideration of the Astamangalas will not be out of place here. The Aṣtmangalas are a kind of device in figures which are to be drawn before the Tīrthankara images or for the matter of that, in connection with any auspicious undertaking such as the study of the scriptures, etc. The kind of hieroglyphic art that is associated with the representations of this kind is not, however, of any particular religious sect, Brahmanic, Buddhist, and Jaina, but must be studied in the light of the peculiar senses in which they were taken by each sect. The vocabulary and the forms were equally accessible to all the sects the difference lay only in interpretation. The Ācāradinkara of Vardhamāna-sūri records to some extent the significance of these eight kinds of the auspicious marks.

The Mirror (darpana) which forms the first of the group symbolises the facts of the pious devoties standing very near the ideal of the Tīrthankara. In fact, what the mirror, signifies to the fact of a pious inquirer after Truth flourishing in a blessed region after having practised penance and performed

---

17. Arch. Survey of India, Ann. Report for 1937-88 Fig No. 984.

18. Cf. Cakkadharī garudankā Tassāhe dhammacakka ubhaydisam' harinajuam ramanīyaṁ gaddiyamajjhammi Jinacinham" — II 28 - Vatthusārapayaranam (Ed. by B. Jain). Here the symbol of *dharmacakra* is to be placed on the pedestal at its centre The *Parikara* is not complete without it. The goddess Cakreśwarī primarily a śāsanadevī of the first Jina is also attributed here with the Cakra symbol in her upper two hands (Cakkadharī).

19. Vide, Jinacitra-kalpadruma, pl. XCVI, fig 278.

20. A. K. Coomaraswamy—History of Indian and Indonesian Art, p. 37, pl. XIX figs. 71 & 72.

pious deeds in the shape of charity and service to Brahmins etc., in his endeavour for self-illumination.[21]

The second symbol of the Astamangala group, the *Bhadrāsana* is to be drawn in order to show the devotees near approach to the pair of feet of the Lord. This second symbol practically is an extension of the first from an ideological point of view. *Bhadrāsana* is to be represented as the *pītha* on which is to be placed the feet of the Tīrthankara.[22] This bears a close parallel to the mode of representing *pādukas* in place of the Lord. The Lord's presence was felt through the *pādukas*. Attention may also be drawn to the tradition of representing Visnupadas, Buddhapada etc.[23]

The third symbol in the group is the *vardhamāna Samputa*. This symbolises the favour of Lord Mahāvīra through whose grace the devotee (bhavyajana) gets piety, fame, influence, greatness, prosperity, learning, peace and fulfilment of all desires. The *Vardhamāna Samputa*, therefore, is the embodiment of all the boons conferable by the Lord Himself.[24]

The full Jar (pūrna Kalaśa) which forms the fourth symbol in the Astamāngalika group symbolises the facts of the Lord being the fulfiller of all wants in the three worlds. This symbol of a *pūrna kalaśa* is common to Hinduism as well. That the Lord here is identified with the Kalaśa is quite clear from the representation of the kalaśa which is attributed, in anthropomorphic analogy, with a pair of eyes. According to Jaina conception, the Lord Jina (Tīrthankara) is said to flourish in all his aspects and with all glory in the three worlds like a full Jar distributing favour and blessings all around.[25] Indeed, the Kalaśa that we regard as symbolic of all fulfilment, originated from the ocean in course of the " Great Churning " and contained

---

21 Ātmālokavidhāna janopi sakalstibram tapo dussaram dānam, brahmaparopkāra kāranam kurven parisphūrjati soyam yatra sukhena rājati sa vai tīrthādhipasyāgrata, nirmeyah parmārtho vrttividureh sajjñānibhirdarpanam—Ācāradinkara of Vardhamāna sūri pp. pp 197–198

22 Jinendrapādaih paripūjyaprsthaih atiprabhāvairapi sanikrtem Bhadrāsanam bhadrakaram Jinendrapuro likhen Mangalsatiprayogam " — Ibid.

23 A. K Coomarswamy—History of Indian and Indonesian Art p 44

24. Punyam Yaśah samudayah prabhutā mahatvam, / Sanbhāgyadhī vinayaśarma manorathassa // Vardhanta eva Jinanāyaka te prasādāt / tad Vardhmānayuga samputamādadhānah // Ācāradinakara, loc cit

In fact Lord does not confer any boons on anybody as He is beyond desires. But since by worshipping the Lord, the devotee relates and realises the characteristics of his own soul, he acquires *punaya*, which awards him good fortune, the Lord is said, being an indirect cause, to confer that fortune on the devotee, though he gains it by his own good efforts. —*Ed*

25. Viśwatraya ca swakulo Jineśo vyākhyāyate Śrikalaśāyamānah – Atotra pūrnama kalaśam likhitvā Jinārcanākarmakrtārthayāmah – Ibid.

all the divinities.[26] The Kumbha, therefore, is co-eval with the Highest Divinities we can conceive of and has an origin as sacred and ancient as the *amratatva* of the Gods in Hindu mythology. It seems, a distinct borrowing from Brahmanism and is another of clear signs of dependance on the Hindu system of thought and ideology. (?)

The next symbol, fifth in the list, coming under the same group is the *Śrīvatsa* symbol. It is a geometrical pattern of a four petalled flower, the petals being arranged at right angles. The choice for a flower is very significant here. The purity and whiteness of a flower is designed to represent the pure knowledge, the *Kevala Jñāna* of the Lord which he holds in his heart within.[27] This *Śrīvatsa* it may be noted here is common to Vaiṣṇava and Jaina icons where in the former it is a symbol of Viṣnuite images. The Śrīvatsa is a lunar symbol according to a Brahmanical Tradition. The *Śrīvatsa* symbol as the ornamental mark representing gem on the breast of Viṣṇu is said, in Brahmanical conception, to stand for the Moon while the Kaustubha stands for the Sun [28]

A pair of fish is the next to come in the list under consideration. The insignia of the Fish formed the distinctive characteristic of the Minas of the Mohenjo-Daro peoples. Whether as one of the sight forms of Śiva, the Fish was one of the eight constellations of the Mahenjodrro Zodiac. Iudeed, one of the most popular forms of God with the Mahenjo-daro peoples was the fish.[29]

---

26. Deva-dānava samvādo mathyamāne mahodadhan /
Utpanno sianahā-kumbham Visnunā vidhrkaraḥ //
tat to'ye sarvadevāh śyuh sarvadevā samāstritā /
tvayi tiṣthanti bhūtāni tvayi pranāh pratisthitah //
śivatvam ca gavāśitvaṃ visnutvamca prajāpatih /
Ādityādāḥ grahāh sarve viśva devāh sapitrkāh //
tvayi tisṭhanti kalaśa yatah kāmaphalapradāh /
tvat prasādāṭ imam yajñam kartuñiho jalodbhavam //
tvadātokanmātrena bhukti-muktiphalāni mahat /
sannidhyam kuru me kumbha prasanno bhava sarvadā //

ms in author's own collection p. 7.

27. Cf. Āntah paramajñānam yadbhāti Jinādhinātha hṛdayasya '
tacchrīvatsa vyājāt prakaṭibhūtam bahirvamde "
—Ācāradinakara. loc. cit.

28. Varāh-Purāṇa ch. 31, v. 16—(Ed. P. Tarkaratna)
Maheyaṁbhūtamātā te kanṭha tisṭhatu sarvadā '
Śrīvatsa-kaustubhanceman candrādityacchalena ha "

29. *Marshall*, Sir John, Mahenjo-daro inscription No. 214 " The Supreme Being of the Fish God (is) in front ".

One of the inscriptions excavated out of Mahenjodaro[30] has a representation of a very large sized ram with the head of a fish bearing horns on both sides. Ān, the Mahenjodaroan God, is called 'fish-eyed'. The connection of the Fish-eyed Ān, of Mahenjo-Daro with the Pauranic Śiva has already been established and the Fish forms one of the connecting links between them.[31] The later texts like Kālikā Purāna states that the Cupid (Kāma) became devoted to Śiva after being restored to life so much so that he installed the image of Śiva in his Fish-form.[32] Studied in the light of the pauranic conception of the Fish-Form of Lord Visnu, in which He appeared in one his ten Avatāras, the Fish-ideology seems to have inspired the Paurānic seers with a sense of reverence for the symbol as embodying the idea of beauty and creation. With the idea of creation and abundance in view the fish is also associated with the Mother-Goddess. Indeed, such a figure has been actually excavated out of the ruins at Rairh in Jaipur State.[33] The modern practice in Hindu homes, specially in Bengal and some other places,[34] is to put a fish in the hands of a newly wedded bride on her first arrival at the place of her husband, perhaps symbolising the idea of fertility and abundance of the household In so remote an age as that of the Mahenjo-Daro, specific symbolism of fertility had been conveyed by the fish in that the "Spraig Fish" of one of the inscriptions of the Indus Valley civilisation has been interpreted as standing for the Spring God.[35]

In the Gupta age, among the paintings at Ellora, there is a curious composition of two fishes above the stem of an inverted lotus touching each other at their mouths. An emblem of a Linga surmounted by two others is placed in between the two fishes. This is clearly a mode of representing the other tradition of fertility as perhaps originating in the third millenium before Christ in the Indus Valley civilisation. In the age of the epic beginning roughly from the 4th. Century B. C. the fish played a very important part in the life of the Indian peoples. The story of king Matsya in the Mahābhārata has it that the king was born along with Matsyagandhā Sátyavatī from the womb of a fish. The Harivanśa[36] corroborates the above stories along with a

---

30 Ibid No. 42.

31 A C. Karmarkar—Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Vol XXIV p 191 ff—" The Fish in Indian Folk-lore ".

32 Kalikā Purāna, Ch 82, Vs 50–52

33. Excavations at Rairh Archaelogical Department, Jaipur, pp. 28–9.

34. The custom prevails among some southern peoples e. g., the Holeyaras of Canara that the newly wedded couple is taken to a river and made to catch fish with the wedding mat woven by brides, signifying the fertility of the couple. See A K. Karmarkar—The Fish in Indian Folk-lore, Annals, B O R. I. loc lit.

35 Heras : Mahenjo-Daro, the people and the land (Indian Culture, III).

36. Harivansa 1, 32 91–93

number of others. The piercing of the eye of the fish in the Swayambara ceremony of Draupadī is a prominent episode in the great Drama of the Kuru-battle. The Jaina images of Tīrthankaras came to be associated each with an emblem at a late stage of their development. The images of the ninth Tīrthankara Puṣpdanta has the insignia of a Makar or a fish. The fourteen dreams of Jina-mothers include a pond with playing fish in it, signifying creation, freedom, and prosperity. In Buddhism, too, the artists' eye did not leave the fish out in their search for artforms. A Buddhist votive tablet of soapstone from Taxila belonging to the 1st century A. D. has the figure of a fish embossed on it along with a number of other aupicious symbols, such as the blowing couch etc. This shows how the Buddhists took the piscal symbol as very sacred at so remote an age as the 1st Centy. of the Christian era. It is indeed, worthy of note that the same āyāgpata contains a figure of Swastikā on the right hand side with its outer arms turned to the right. Although exactly there is nothing to prove the Buddhist affiliation, of the find under discussion, we have reasons to believe in consideration of the associate objects from Tafkian where the present āyāga-paṭa, was found, that it is a Buddhist votive tablet. Indeed in some of the ether tablets of offering (votive) attributed to the Buddhists and excavated out of Taxilian sites we have definite and conclusive evidence of the traces of a pair of fish as a sacred symbol. In the terracotta votive tablet just referred to there is a pair of fish on its left corner at the bottom sur-mounted by the figure of a lady dressed in flowing robes in the fashion of the Indo-Greeks with both hands raised upward as if holding the jar-like substance above head. The foliage ornamentation, the shape and conception of the jar (pūrnakalaśa) at the centre on the above together with the peculiar dress of the female figure on the out border speak of the Kusāna period of the tablet, when it seems, the fish motif continued to be used on votive tablets and other objects down up to the Gupta and the post-Gupta era. In the recent excavations at Nandangarh we have the alternation of fish designs on a pot-shera interspersed with a figure resembling a Cakra. The composi-tion, if could be found in entirety, might well have established the popular acceptance of the piscal symbology in the late Gupta Period. The Jain significance for this symbol is very important. It represents the fact of the defeat of the Cupid before the Lord. The pairs of Fish which represents the Cognisance for Cupid on his banner is shown to be serving the Lord in humble submission.[37]

---

37. Tadvandhyapañcaśara ketanabhāva kaḷpatam
Kartum mudha bhuvananātha nijāparādham /
Sevām tanote puratastava mīnayugmam
Śrāddhaih puro vilikhitoru nijānga yuktyā //

Ācārdinkara, *loc. cit.*

The seventh symbol, the Swastikā, in the Astmangala group has very wide application in art is of a very ancient tradition in the history of world thought. Among the symbols bearing a hoary antiquity the symbol of svastikā finds a conspicuous place. It is the most 'philosophically Scientific' of all of them, as also the most comprehensive. The entire theory of creative evolution is summarised, as is said, in the few lines represented by it. From the universal principles of god-head or cosmeotheogony down to anthropogony or the principle underlying human forms of the deities, from the indivisible unknown Parabrahman to the humble moneron of common materialistic Science, it represents but one simple summary of them all. This is why Swastikā, in whatever form or design it may be, is present as a mystic symbol in almost all the ancient nations of the world. The lines represented in the combination are those of the 'Worker's Hammers' of the Chaldean Book of Numbers.[38] The sparks coming out from the strikes of these Hammers form the nucleus of the worlds themselves The Jain interpretation of the svastikā as given in the Ācāradinakara is but quite simple. According to that text the symbol being only an auspicious mark is to be drawn in front of the Lord as signifying peace and prosperity that reigned on earth on the eve of the birth of the Tīrthankara [39] The discovery of the Swastikā in the lowest stratum at Susa suggests the connecting link between the Sumerian and the other Western Asiatic countries and the Indian or the Arean This is in fact one of those 'Constituent elements' in Indian art that are not peculiarly Indian but properly speaking, found in common with many of the countries in Western Asia.[40] In the Hāthīgumphā caves at Khandagiri this Swastikā symbol has been found to exist as early as the first Cent. A. D. Numistratic evidence too points to the same conclusion that along with other symbols like the wheel, taurine etc, the Swastikā was used as a Coin mark on the early coinages, from the 2nd and the 3rd. Cent. B. C. An anonymous coin from Kosam[41] and another from Avanti and a third from Taxila[42] show this symbol. The Swastikā along with the Taurine etc., is thus very ancient Peculiarly to Jain ideology it has a meaning of its own. The 'Sāthiā' as it is called in modern Guzrati, is the most important of all

---

38. Compare in this connection the hammers of Viswakarman of Hindu mythology, who comes nearest to the conception in the Chaldean civilisation.

39. Cf. Svastibhūgagananāga vistapesuditam Jinavarodayo Ksanāt /
Svastikam taddnumānato Jinasyāgrato budhajanairvitikhyahe //
—Ācāradinkara, *loc. cit.*

40. A. K Coomarswamy, History of Indian and Indonesian Art p. 13.

41. V A Smith—Catalogue of the coins in the Indian Museum, Calcutta, Vol I (London) 1906, p. 155, pl XX, fi. 5

42. Ibid p. 153, pl. XX, fig 2, and p. 156 Pl. XX fig. 6.

the eight auspicious marks of the group This alone sometimes represents the entire group and is shown as such on the temples, before the images and at the beginning of all auspicious ceremonies. The most comprehensive meaning put to the Swastikā and the figures of three dots above surmounted by a crescent with a dot above is that the four arms of the Swastikā represent the *Gati* or state in which a *Jiva* may be born as eitheir a denizen of hell (nārkī) or of heaven (*devatā*) a man (*mānusya*) or a beast (tiryañc); the three little dots or heaps symbolising the *three jewels* of right knowledge, right faith and right conduct, which enables a man to reach *Moksha* represented by the sign of the crescent and the dot above it.

The last but not the least is the *Nandyāvarta* belonging to the Astmangala group. The figure is a geometrical device like the Swastikā but shows a more developed stage of the art and is clearly of a deeper significance than the former. The adaptation of this device in art and archaelogy is very late, at least far later than the Swastikā. It is double lined figure rectangular in shape and the lines are inter-woven, so to say, as to form a nine-coned figure. The Ācāradinakara explains the symbol as signifying the fact of the devotee of the Jina being the recipient of all sacred treasures that remain glowing at his service through the grace of the Lord.[43]

" The whole capital and canopy of Jain pillars are a wonder of light, elegant, highly decorated stone work ; and nothing can surpass the stately grace of these beautiful pillars, whose proportions and adaptations to surrounding scenery are always perfect, and whose richness of decoration never offends."

—WALHOUSE.

---

43. Tvatsevakānām Jinanāthadiksu sarvāsu sarve nidhayat sphuranti
Ataścaturdhā navakoṇanandyāvartah satām vartayatām dukhāni
—Ācāradinakara, *loc. cit.*

विश्वभूति भ० महावीरकी ज्ञानसाधना।

(श्री० सुरेन्द्रसागरजी, 'प्रचंडिया'।)

बाल अर्कसा ज्यों प्रखर प्रतापसे
चढता मध्यान्हको है !
उसी विधि महावीरजी
ज्ञान बुद्धिशौर्य वीर्य बल विक्रम
समेतसे
शैशवको पार कर
तरुण-अरुण कान्ति-मान
तेजमान-ओजमान
प्रभावान सुकुमार
हो चले वयस्क थे !
मुख-श्री देखनेको
लोचन सभीके सदा
रहते लालायित थे !
किन्तु महावीरजीकी गति विधि विचित्र
थी !
उन्होंने निज सूक्ष्म दृष्टिसे देखा समाजको!
सुना निरीह पशुओंकी आवाजको !
दीन-हीन देखे जन !
देखा उन्होंने था — निज आँखों
से नरमेध !
देखा उन्होंने था — निज आँखोंसे
अश्व-मेध !!
आँख-पाखोंसे अश्रु-धार ढुर चली !
मर्मको आघात हुआ !
हो गया हृदय दयासे परिपूर्ण !

सोचा यह व्यर्थ जंजाल !
छोड दिया राज पाठ !
छोडे जगतीके ठाठ !
वैभव विलास छोडा,
ममतासे बन्धन तोडा
लात मार दी थी उस ऐसी विभूतिमें !
तीस वरसकी यौवनमयी आयुमें
बाल ब्रह्मचारी कर्मवीर मारजित
महावीर !
ज्ञानकी पिपासा हित घूमे वन-वन !
व्याकुल रहे क्षन क्षन !!
केवल सज्ञान हित;
लोक कल्यान हित !!!
कंचन-सी काया को
तपके दग्ध-दाहमें
होम कर करलिया प्रभूत पूत !
सज्ञान स्रोत हो गया प्रसूत !!
लोकहित कामनासे
फैलाने भव्य भावनाको
सर्व प्रथम उनही प्रवीर जीने —
"विपुल अचल" से प्रसारित किया
दिव्य ज्ञान !
उसी दिनसे प्रारंभ किया करना
जग-कल्यान !!

जैन समाज और इतिहास !
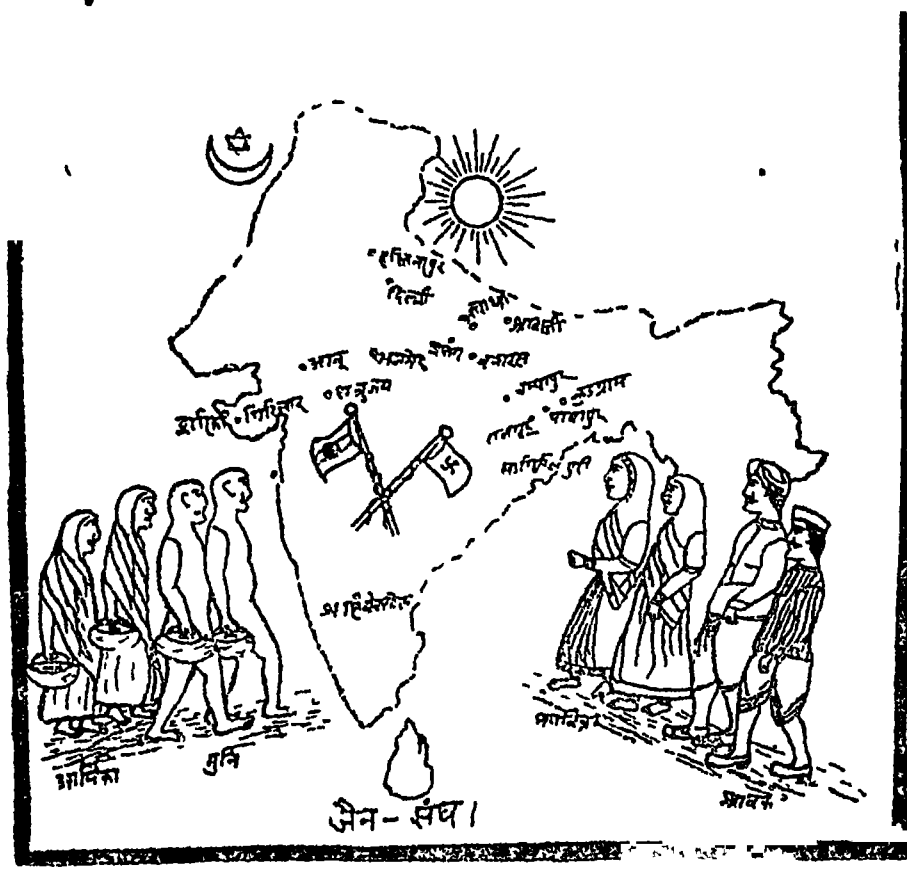
JAINA COMMUNITY AND HISTORY.

❀ ❀ ❀

प्राचीन पुरुषोंके गुणोंको कौन कह सकता यहां ?
सम्पूर्ण सागर नीर यो घट मध्य रह सकता कहां ?
है जगत अबभी ऋणी उनके विपुल उपकारका।
उनने पढा था पाठ नित उपकारका उपकारका ॥

* * *

उस काल सर्व समाज जगके रूढि बन्धन मुक्त थे,
करुणा तथा निष्पक्षतासे सर्वथा संयुक्त थे।
निज बन्धुओंके प्रति उन्हें मनमे न किंचित द्वेष था,
ऐसी समाजोंसे कभी पाता न कोई क्लेश था।

—जैन भारती।

❀ ❀ ❀

जैन धर्म और समाज।

(ले० श्री० डॉ० ए. एन. उपाध्याय, एम. ए., डी. लिट्.)

जैनधर्म प्रधानतः एक भारतीय धर्म रहा है और देशकी सीमासे बाहर इसका प्रसार नगण्य मात्र ही है। सन १९४१ ई० की जनगणना के अनुसार जैनियोकी सख्या १,४४९,२८६ है, जो भारत की जनसख्या की ½% सेभी कम है। उनके दिगम्बर, श्वेताम्बर, तथा स्थानकवासी मुख्य व अन्य स्थानीय भेद है, फिरभी एक समुदायके रूपमे उनमें धार्मिक एकता है। तीर्थङ्करों-महान धार्मिक गुरुओं-जैसे ऋषभ, पार्श्व, व महावीर आदिकी वे भक्तिपूर्वक उपासना करते हैं, उनका विशिष्ट तत्त्वज्ञान है, और वे विशेष नीति नियम और धार्मिक क्रियाओंका आचरण करते हैं। भारतकी प्राचीन सांस्कृतिक तथा बौद्धिक सम्पत्तिमें जैनियोंका एक माननीय भाग्य रहा है। आजकल वह सामाजिक तथा आर्थिक दोनों दृष्टिकोणोंसे उच्च वर्गमें ही आते है। उनके सामाजिक कार्य्य तथा दृष्टिकोण मानव समाजके लिए अत्यंत हितकर है, यही कारण है कि उन्हें अपनी सख्यासे अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व प्राप्त है।

पूर्वकी अपेक्षा जैन पश्चिम तथा मध्य भारतमें ही अधिक पाये जाते हैं। वे प्रधानतः व्यापारी है, परन्तु दक्षिण तथा मध्य भारतके कई भागोंमें जैनी पैत्रिक व्यवसायरूपमें कृषिभी करते हैं। जैनियोंके विशाल मन्दिर, मूर्तियाँ, तथा शिल्पकलाके उत्कृष्ट नमूने, उनके साधुसमुदायकी पठन-पाठन तथा तपश्चरणमें संलग्नता, तथा उनका गृहस्थों पर प्रभाव कि जिसके कारण वह मानव समाज के प्रति बडे दानशील रहते हैं, जीवमात्रके प्रति उनकी दयाकी भावना, तथा उनका पूर्ण सात्विक आहार आदि ही ऐसी बाते हैं जो एक विदेशी यात्रीका ध्यान विशेष रूपसे आकर्षित करती हैं। समस्त भारतमें फैले होनेके कारण उनके व्यावहारिक रीति रिवाजों में भिन्नता पाई जाती है। अपने शान्त धार्मिक सिद्धांतोंके कारण ही वह शान्तिपूर्ण व्यवसाय करते है।

जैनधर्म अत्यंत प्राचीन है। वर्तमान काल चतुर्विंशत तीर्थङ्करोके तीर्थ-कालोंमें विभाजित होता है। प्रथम तीर्थङ्कर श्रीऋषभदेवका काल अत्यंत प्राचीन है। हिन्दू पुराण भागवत में दिया हुवा कथन जैन मान्यता से बिल्कुल मिलता है। बाइसवे तीर्थङ्कर श्रीनेमिनाथ श्रीकृष्णके समय में हुवे। वह इतिहास कालसे बहुत ही पूर्व पौराणिक कालके है। अन्तके दोनो तीर्थंकर इतिहास कालके ही हैं। २३ वे तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ ५ वी शताब्दी ई० पू० के हैं। वर्तमान इतिहास उनको स्वीकार करता है। उनके शिष्य केशी कुमार आदि भगवान महावीरके समय तक रहे।

२४ वें तीर्थंकर वर्धमान (महावीर) पार्श्वनाथसे कुछ शताब्दियों बाद हुवे। वह कुण्डग्राम वैशाली (आजकल बसाढ, पटनासे २७ मीलपर दूर) के निकट ५९९ ई० पू० में जन्मे थे। उनके

पिता सिद्धार्थ वहाँके राजा थे और उनकी माता त्रिशला लिच्छवि राजवंशकी राजकुमारी थी। महावीर स्वामीके विवाहके बारेमे मतभेद है। एक मान्यता है कि वह आजन्म अविवाहित रहे। दूसरी मान्यता है कि उनका यशोदासे विवाह हुवा और उनसे प्रियदर्शना पुत्रीभी हुई। उन्होमे भगवान पार्श्वनाथका अनुकरण करते हुवे घोर तपश्चरण किया और उपसर्गों द्वारा अनेक कष्ट सहे। ध्यान द्वारा उन्होने केवल ज्ञान प्राप्त किया। स्वय वह धार्मिक जीवन की प्रतिमूर्ति ही थे और उन्होने ससारके कष्टोंसे मुक्ति पानेके लिए धर्मका मार्ग बताते हुवे भ्रमण कियाथा। जीवमात्रकी रक्षाकोही सच्चा धर्म बताया और बताया कि ससारिक दुःख स्वय अपनेही कर्मोका फल है। अतः मोक्ष प्राप्तिके लिए कर्मोका नाश आवश्यक है। वे पूर्वी भारतके राज्य घरानोसे सम्बधित थे। अतः उच्च तथा निम्न दोनों वर्गोमें उनकी मान्यता हुई। उनके सिद्धान्त सार्वभौमिक थे और उनके तर्क, सहज-बुद्धि, वास्तविकता, और बौद्धिक समभाव पर, अवलम्बित थे। अतः इसमे आश्चर्यका कोई कारण नही है कि उनका शिष्यसमुदाय, (साधु, आर्यिकायें, श्रावक, व श्राविकाएँ) बडाही सुसगठित था। निरन्तर तीस वर्ष तक उन्होने विहार किया और अन्तमे ५२७ ई० पू० को पावा जि० पटनामे इस नश्वर शरीरसे ७२ वर्षकी आयुमे मुक्ति पाई। उनके निर्वाणोपलक्षमें मल्लकी और लिच्छवि राजघरानो ने दीपावली मनाई जो कि आजतक मनाई जाती है। भगवान महावीरके समयमे भारत वर्षके इतिहासमे महान धार्मिक क्रान्ति हुई। उनके समकालीन बुद्ध तथा गोशाल सदृश धार्मिक गुरू थे। महात्मा बुद्धकी तरह भगवान महावीरको एकके पश्चात दूसरे गुरूकी शरण नहीं लेनी पडी। उन्होने पार्श्वनाथके धर्म पर, जो कि उस समयभी सुसगठित था, आचरण किया और उसका प्रचार भी किया। उन्होंने एक वैज्ञानिक धर्म तथा दर्शनही अपने पश्चात नहीं छोडा वरन एक अत्यत सुसंगठित साधु तथा अन्य गृहस्थ सघ (समाज) को जन्म दिया कि जिसने उनके तथा उनके पश्चात्के शिष्योंकी शिक्षाका अक्षरशः पालन तथा अनुकरण किया।

जैन धर्मके इतिहासमे अनेक ज्वलत स्थल है। महावीर स्वामीके पश्चात जैन धर्मका नेतृत्व बडे २ आचार्यों मुनियोने किया और बिम्बिसार, चन्द्रगुप्त, खारवेल सदृश महाराजाओंका सरक्षणभी उसे मिला। क्रमशः इसका प्रभाव दक्षिण व पश्चिम भारतमें गया। जब एक भयकर अकाल पडा; तो कहा जाता है कि भद्रबाहु आचार्य अपने शिष्य मडलके साथ दक्षिणको विहार कर गये थे और तभीसे दिगम्बर व श्वेताम्बर आम्नायोंकी नीव पडी जो आजतक जीवित हैं। प्राचीन कालसेही जैन साधुगण घोर तपश्चरण करते आये हैं। अतएव मतभेद पहिले मुनियोमें हुवे; फिर गृहस्थो परभी उनका प्रभाव पडा। मूलधार्मिक सिद्धान्त दोनोमें एकही हैं, केवल कुछ छोटी २ बातोमे, पौराणिक मान्यताओं, तथा साधु-समाजके आचरण सम्बधी क्रियाओंमें मतभेद है।

साधुवर्गके कठिन तपश्चरण तथा पवित्र जीवनने सहजही राजाओ, रानियों, मन्त्रियो, सेनापतिओ, तथा धनवान व्यापारिओं को अपनी ओर आकृष्ट किया, जो कि जैनी होगए। दक्षिण तथा गुजरातमे राजघराने ही नही वरन अनेक शासक ही कट्टर जैनधर्मानुयाई हो गये। दाक्षिणके गग, कदम्ब, चालुक्य तथा राष्ट्रकुट राजवशोंने जैन धर्मका संरक्षण किया। यह सब महान जैनाचार्योंके प्रभावका ही फल था। मान्यखेट के कुछ राष्ट्रकूट वशीय राजा जैनधर्मके दृढ अनुयाई थे और उनके सरक्षण

में शिल्प तथा साहित्यकी जो महान रचनाऐं हुई वे बडी ही महत्वपूर्ण है। इस कालमें वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र, शाकटायन, महावीराचार्य्य, पुष्पदंत, मल्लिषेन, सोमदेव, पम्प आदि महान विद्वान व कवि हुए कि जिनकी रचनाऐं विद्वत्ता तथा साहित्य क्षेत्रमे अद्वितीय है। यह संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश, और कन्नड साहित्य और गणित, व्याकरण, तंत्र आदि शिक्षाके विभागोमे बडा महत्वपूर्ण स्थान रखती है। राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष (ई. स. ८१५-८७७) जिनसेनके भक्त थे और मालूम होता है कि उन्होंने अपने जीवनके अतमें जैनधर्मको स्वीकार किया था। वे खुद कनडी और सस्कृतके ग्रथकर्ता रहे है। विजयनगर साम्राज्यके नष्ट हो जानें परभी अग्रेजी राज्य होने तक दाक्षिणमे कुछ छोटे छोटे राजा जैनधर्मके अनुयाई रहे हे। गुजरातमे धनिक व्यापारी वर्गके कारणही जैनधर्मका प्रसार अधिक हुवा। परन्तु गुजरातके चालुक्य वशी राजाओ विशेषतः सिद्धराज व कुमारपालके समयमे ही जेन धर्मकी विशेष उन्नति हुई और उन्हींके समय जैनियोने गुजरातमें अपनी महान साहित्यिक तथा शिल्पकला सम्बंधी रचनाए की हे। जैनियोकी इन रचनाओके कारण ही गुजरातको आज भी एक महत्वका स्थान प्राप्त है। हेमचन्द्राचार्य आदि को गुजरातकी साहित्य सेवाका विशेष गौरव प्राप्त है। मुस्लिम शासको के समयमे जैन मन्दिर नष्ट भ्रष्ट किए गए परन्तु किसी बडी सख्यामें नही। जैनाचार्योंनें मुस्लिमशासको परभी अपना प्रभाव जमा लिया था। अकबर ने जैनाचार्य्य हीर विजय को 'जगद्गुरू'की उपाधी प्रदान की और पयूर्षण पर्वके समय जहॉ जहॉ जैन रहते हों वहॉ जीव-वध का निषेध कर दिया। देहली और अहमदाबादके कुछ धनिक व्यापारी वशोने अपनी विशाल धनराशि तथा व्यापारी सम्बधोंके कारण मुगल दरबारमे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया था और लगभग सभी मुगलशासकोसे उन्हे फरमान मिले। राजपुतानामें अनेक जैन मत्री तथा सेनापति हुए है जिनमें 'भामाशाह'का नाम प्रसिद्ध है। अबभी वहॉ जैन बडी सख्यामे है। और एक महत्वपूर्ण स्थान रखते है। ईस्ट इडिया कम्पनीके समयमें भी जगतसेट, सिंधी आदि जैन सेठ हुए जो राजाके कोषाध्यक्षके नाते बडे प्रभावशाली थे।

कला तथा भवन-निर्माण सम्बधी रचनाये जैनियोने सामाजिक एव धार्मिक आवश्यकताओंको दृष्टिकोणमें रखते हुवे की है। जैन गुफाऐं तथा मन्दिर, मुनियोके निवास स्थान तथा पूजागृह उपासनाके लिये बनाये गये। धार्मिक दृष्टिकोणसे बनवाये हुवे अवशेषोमें स्तूप, चरण-चिन्ह, मूर्तियॉ, तथा मानस्थम्भ आदि है। कुछ गुफाये पूजागृहभी रही हैं। उडीसा की हाथी गुम्फा गुफाऐं दूसरी ई० पू० की है। इसके उपरान्तकाल की गुफाये मदुरा, बदामी, तेर, एलोरा, कल्यानगढ, नासिक, मॉगी तुगी, गिरनार, उदयगिरी, आदिमे है। मन्दिर-निर्माणको जैनी लोग एक बडाही पुण्यका कार्य्य समझते हैं। यही कारण है कि जहॉ जैनी मिलेगे वहॉ विशाल तथा सुन्दर मन्दिरभी अवश्य होंगे। इतिहास कालमे कुछ राजाओने भूमि तथा ग्राम मन्दिरोंके लिए दान किए। इन जागीरोंकी देख-रेखके लिए तथा जैनियोकी धार्मिक, सामाजिक उन्नतिके लिए भट्टारक हुवे। वे मठाधीश थे। यद्यपि अब यह प्रथा नष्ट हो रही है, तब भी इन भट्टारकों तथा मठोंने भूतकालमें बडाही लाभप्रद कार्य्य किया है। दक्षिण तथा उत्तर दोनो भागोमें बडे बडे विशाल व सुन्दर जिनालयोंका निर्माण हुवा है।

ध्रौव्य लक्षण संयुक्त है। यह अनादि है और द्रव्यके, अनन्त गुण व पर्य्याय हैं। जीव व अजीव दो मुख्य भेद हैं। अजीवके पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल भेद है। इस प्रकार द्रव्यके षट्भेद हैं। संसारका कारण जीव व पुद्गल (कर्म) परमाणुओंका सम्बंधही है। सप्त तत्वोंमें इस सम्बंध तथा उससे मुक्ति प्राप्त करनेकाही वर्णन है। यही जैनियोंका कर्म सिद्धान्त है जो उनका निजका-स्वतंत्र सिद्धान्त है और जैन सिद्धान्तका एक अविभाज्य अंग है। मोक्ष का मार्ग रत्नत्रय कहा है। रत्नत्रय अर्थात् सम्यग दर्शन, ज्ञान, चरित्र। सम्यग् श्रद्धा होतेही जो ज्ञान होता है वह सम्यग्ज्ञान है। ज्ञान (अधिगम) प्रत्यक्ष व परोक्ष भेद रूप है तथा प्रमाण व नय द्वारा होता है। अनेकांतवाद (स्यादवाद) जैनदर्शनका एक अमूल्य सिद्धान्त है और समन्वयके लिए सर्वोत्तम तथा अद्वितीय यंत्र है। चारित्र साधु तथा गृहस्थके भेद रूप है। श्रावक १२ व्रतोंको पालन करते हुवे तथा ११ (प्रतिमाएँ) चढ कर मुनि होता है। साधुगण महाव्रत पालन करते हुए, २२ परीषह सहते हुए, १२ अनुपेक्षा (भावना) निरन्तर ध्यानमें रखते हुए, मन, वचन, कायको निश्चल करके सतत् धर्मसंवर्द्धन करते है। मुक्ति साधनके लिए तो निजात्म स्वभावमें लय हो कर शुक्ल ध्यान करनाही श्रेय है। यही यथाख्यात चारित्र है और मुक्तिका केवल मात्र साधन।

जैनधर्ममें ईश्वरके कर्तृत्ववादको कोई स्थान नहीं है। जैनधर्म ईश्वरका अर्थ मुक्तात्मा करता है। तीर्थंकर व अन्य सिद्ध जीव ईश्वर हैं। जैनी इनकी बडी भक्तिभावसे पूजा करते हैं। जैनी गुरुकाभी पूजन करते हैं क्योंकि वह मोक्षमार्गारूढ एक आत्माकी उन्नत दशाके परिचायक हैं। जैनधर्म सिखाता है कि अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए स्वयही कर्म्मोंका क्षय करना होगा। जैनधर्म बलवान, वीर तथा स्वाभिमानी जनोंका धर्म है।

आज कल कुछ कारणोंसे जैनी हिन्दू कहलाते हैं; वैसे धर्म अपेक्षा वे स्वतंत्र है। उत्तरीय भारतकी कुछ जातियोंमें हिन्दू व जैन दोनोही धर्मोंके अनुयायी हैं, उनमें परस्पर वैवाहिक सम्बधभी होते हैं। समस्त भारतमें फैले होनेके कारण उनके रीतिरिवाजों पर बहुसख्यक हिन्दुवोंका प्रभाव पडा है। भारतके स्वातन्त्र्य सग्राममें जैनियोंने तन मनसे भाग लिया है। अपने लिए जैनोंने पृथक अविष्कार व आश्वासनोंकी कभीभी माँग नहीं की है। जहां तक हिन्दूसे तात्पर्य्य एक धर्म विशेषसे है और इसका अर्थ भारतीय नहीं है, वहां तक 'जैन' 'हिन्दू' नहीं कहे जा सकते। उनकी अपनी पृथक सस्कृति व धर्म है।

जैनी वेदोंको नही मानते, उनके अपने स्वतंत्र धर्म शास्त्र हैं। ब्राह्मण पुजारियोंका सम्मान, वर्णाश्रम धर्मके धार्मिक क्रिया-कर्म्म, हिन्दू पुराण तथा उनके वर्णन, देवी देवता, वैदिक तथा पौराणिक कर्तृत्ववाद, अवतार वाद, इत्यादिमें जैन विश्वास नही करते। शङ्कराचार्यने अनेक स्थलों पर इसकी आलोचना की है। यदि जैनियोंके बाह्य धार्मिक क्रियाकाण्ड व मान्यताओंमें हिन्दुओंसे सामंज्जस्य है तो इस कारण नहीं कि जैनधर्म इसकी आज्ञा देता है वरन् इस कारण कि पडौसी हिन्दूवोंकी रीतिरिवाज व मान्यताओंका उन पर प्रभाव पडा है। जैनियोंके पृथक तीर्थ स्थान है और पृथक त्यौहारभी। साधारण त्यौहारभी वह मनाते हैं। समान शब्दावलि नहीं वरन् उनके दार्शनिक भाव व अर्थ, व दर्शन व चारित्र सम्बंधी उनका मूल्यही विचारयोग्य है। अपने पृथक इतिहास व दर्शनकी अपेक्षा जैन व बौद्ध धर्म हिन्दू नहीं कहला सकते।

भारतीय जीवन पर जैन प्रभाव यत्र तत्र दृष्टिगोचर होता है। नवीन वैज्ञानिक प्रणालीसे पूजन, उसके लिए मन्दिरोंका निर्माण, धर्मशालायें तथा गोशालाओंकी स्थापना, विशाल पुस्तकालयों का सचालन, निर्धनोंको अन्नादि वितरण, आदि जैनियोंकी मुख्य विशेषतायें हैं। जैनेतर अधिकांशमें इन्हींका अनुकरण करते हैं। अहिंसा सिद्धान्तके प्रतिपादनमें जैन व बौद्धधर्मही मुख्य हैं और बौद्ध-धर्मकी अपेक्षा जैनियोंनेही इस पर अधिक सूक्ष्मतासे आचरण किया है। जैन मुनि अनुकरणीय जीवन व्यतीय करते हैं। साक्षात् दयाकी प्रतिमा बने हुवे उन्होंने समस्त भारतमें विचरण किया और अपनी अहिंसासे, अजैन कृषक व राजाओंको समान रूपमें प्रभावित किया है। अहिंसा पर आचरण का सिद्धान्त प्रायः ठीक नहीं समझागा है। पूर्ण अहिंसा तो गृहत्यागी साधुके आचरणका विषय है। गृहस्थके लिए उसकी योग्यता और पदके अनुसार सरल रूपमें, आचरण करनेका कथन है जैन राजाओं व उनके सैनिकोको अपने सम्मान व देशकी रक्षार्थ युद्ध करनेकी अनुज्ञा है। दक्षिण भारतके कुछ राजा महान योद्धा होते हुवेभी बडेही धार्मिक प्रवृत्तिके जैनभी हुवे हैं। समुदाय रूपमें जैनी पूर्ण शाकाहारी हैं और जहाँ २ वह अधिक सख्यामे हैं वहाँ उन्होंने अपने पडौसियों परभी अपना प्रभाव डाला है। उनके सम्पूर्ण साहित्य तथा शिक्षाओंमें पशुवधका निषेध किया गया है। वर्त्त-मान समयमें विभिन्न भागोके जैनियोने देवी देवताओके सम्मुख पशुवलि रोकनेका प्रयत्न किया हैं और वह इसमें सफलभी हुवे हैं। जैनाचार्योंने पशुओंकी आकृतिया बना कर उनकी वलि देनेतकका निषेध किया है क्योंकि यह पशुवधका सकल्प प्रगट करता है। जैन साहित्यमे पौराणिक कथायें, संक्षिप्त कहानियाँ, मुहावरे, तथा चारित्र सम्बधी आदेश आदि सभी जीवमात्रके प्रति हिंसाका निषेध करते हे। अन्य भारतीय धर्मोंमेभी अहिंसाका कथन है परन्तु जैन धर्मके समान नहीं। जैनधर्मका तो यह आधारभूत अग है और उसमें इसका क्रमबद्ध वर्णन है। जैनियोको अन्य धर्मावलम्बियोंने अनेक कष्ट दिये हे और उन पर महान अत्याचारभी हुवे है; परन्तु यह इतिहाससे सिद्ध है कि शासन शक्ति होते हुएभी जैनियोने जैनेतर समाज पर कभीभी अत्याचार नहीं किए।

महात्मा गांधी वर्त्तमान युगके सबसे महान् अहिंसाके प्रतिपादक थे परन्तु उनके सिद्धाँतोंका आधार अन्य धर्मोंकी अपेक्षा जैनधर्ममेंही अधिक है। उनके कुछ सिद्धान्त जैनधर्मके शास्त्रोंमें नहीं पाये जाते इसका कारण यह है यह सिद्धान्त उन्होने समयानुसार (कालानुसार) प्रतिपादित किए हैं और वर्त्तमान वातावरण उन शास्त्रोकी रचना कालके वातावरणसे भिन्न है। जैनाचार्य्य सामाजिक कार्य्योमे अहिंसाकी शक्तिसे पूर्ण परिचित थे, परन्तु उनके विशुद्ध अध्यात्मिक दृष्टिकोणमें धार्मिक क्षेत्रके बाहर अहिंसाके सिद्धान्तोका प्रयोग करनेकी कोई आवश्यकताही नहीं थी। परिग्रह परिमाण, परके प्रति समभाव, आत्मशुद्धिके लिये उपवास, जन साधारणके सम्पर्कमे आनेके लिये लम्बी लम्बी पैदल यात्राएँ हमें जैनाचार्य्यो तथा उनके जीवनक्रमका स्मरण कराती हैं। भारतके महान पुत्रके नाते महात्मा गाधीने सत्य व अहिंसाके सिद्धान्तोको वर्त्तमान युगके लिए नवीन रूपमें प्रतिपादित किया है। यह दो सिद्धान्त नर नारियोके वैयक्तिक तथा सामूहिक रूपमें, चारित्रिक मापदण्डके लिए ससार भरमे प्रयोगमे लाए जा सकते हैं।

सक्षेपमें जैनधर्म और जैनियोका यह वर्णन है। पाठकोंको इसके द्वारा उनके विषयमें विशेष जाननेकी प्रेरणा मिलेगी।

वे वर्द्धमान्! वे मूर्तिमान् वरदान, उन्हें शत्-शत् प्रणाम !

'तन्मय,' बुखारिया

१

मदिराकी मादक गन्ध कि ज्यों उड़ आती सहसा निमिषोंमें,
हरियाली रञ्च नहीं टिकती ज्यों विधि-विवशा-सी सरसोंमें,
त्योंही पशु तो क्या, मानवकेभी प्राण न तब रक्षित रहते,
अनगिन मर जाते थे निरीह, प्रतिशब्द न पर मुँहसे कहते;
यज्ञों की रूढ़ि मुक्त प्रचलित क्या नगर-नगर क्या ग्राम-ग्राम !
वे वर्द्धमान ! वे मूर्तिमान् वरदान, उन्हें शत्-शत् प्रणाम !

२

मन्दिर श्मसान से लगते थे, मठ मानो मदिरालयही थे,
संज्ञा थी उनकी यज्ञ, किन्तु सचमुच वे मूर्त प्रलय ही थे,
स्वच्छन्द बना था अनाचार, उन्मुक्त पापकी माया थी,
जिस प्राणीके मुखपर देखो, हँस रही मृत्युकी छाया थी,
यज्ञस्थलमें बिखरा फिरता प्रति ओर-छोर अधजला चाम !
वे वर्धमान ! वे मूर्तिमान् वरदान, उन्हें शत्-शत् प्रणाम !

३

जैसे अकालके समय सृष्टि तरसा करती है जलधरको,
भावुकता रुद्ध तरसती है वीणाके मोहक, मृदु स्वरको,
त्योंही उस समय कोटिजन कर रहे प्रतीक्षा उत्सुकसे,
उस एक पुरुषकी जो निर्भय लोहा लेता उस अघ युगसे;
आवाहन करते ही कटते जनताके बोझिल सुबह-शाम !
वे वर्द्धमान ! वे मूर्तिमान् वरदान, उन्हे शत्-शत् प्रणाम !

४

आखिर प्रार्थना हुई ही फिर फलवती नगर कुण्डलपुरमे,
सपनोंमें कोई झलक गया ही त्रिशलाके पावन उरमे;
सिद्धार्थ हुए सिद्धार्थ सत्य, पुर-वासी मानों झूम उठे,
पशु-पुरुष प्राण नारी-पशुको आह्लाद्-विवशसे चूम उठे;
खेतोंके गर्वित गेहूँने पा लिया मनुजसे रत्न नाम !
वे वर्द्धमान ! वे मूर्तिमान् वरदान, उन्हे शत्-शत्-प्रणाम !

५

मानवने अपने मानसके, भवनोंके भावुक द्वारों पर,
आशाके हरित पात बांधे साधोंकी वन्दनवारों पर;
ना-समझ मूक पशुओंकीभी आँखोमे एक प्रकाश दिखा,
मानो अब निर्भय जी लेंगे, प्राणोंमे नव विश्वास दिखा;
चेतन तो चेतन, जड़मेंभी, तब समागई पुलकन ललाम !
वे वर्द्धमान ! वे मूर्तिमान् बरदान, उन्हे शत्-शत् प्रणाम् !

६

धरतीने धूप पाँवडोंसे, अभिनन्दन करनेकी ठानी,
अपलक, सस्मित, कुछ विस्मृतसा रह गया सागरोंका पानी,
ऋतुपति बसन्तभी रुक न सके, आही तो गए मूर्ति रतिसे,
पत्नियाँ अचानक होठों पर उँगली धर पूछ उठी पतिसे —
 'किसके स्वागतको आज साज सज रही पुरातन प्रकृति वाम ?'
 वे वर्द्धमान ! वे मूर्तिमान् वरदान, उन्हें शत्-शत्-प्रणाम !

७

वीणा, दुन्दुभी, मृदङ्गोंकी सम्मिलित सरस्वतिके स्वरमें,
शुभ चैत्र त्रयोदशके इस दिन त्रिशलाके कोमलतम करमे,
भगवान वीरने प्रथम बार निज नेत्र खोल करवट-सी ली,
हिंसा नागिनि फुङ्कार रही किस ओर, कि ज्यों आहट-सी ली;
 तब देख न पाया था कोई, यज्ञाग्नि हुई थी क्षणिक श्याम !
 वे वर्द्धमान ! वे मूर्तिवान् वरदान, उन्हे शत्-शत्-प्रणाम !

८

क्रमशः वयस्क फिर वीर हुए राजसी सुखोकी शैया पर,
औ धीरे-धीरे पॉव रखा यौवनकी डगमग नैया पर,
गत संस्कार वश किन्तु शीघ्र ही समझ गए वे यह नौका
पल भरभी विश्वसनीय नही, यह अन्त कर चुकी कितनोंका
 निर्बला असंयमकी टूटी पतवार न देगी यहाँ काम !
 वे वर्द्धमान् ! वे मूर्तिवान् वरदान, उन्हें शत्-शत्-प्रणाम !

९

आखिर वैभवको लात मार चल दिए वीर सन्यासी बन,
साधना अनेको वर्षो तक साधी फिर निर्जन-वासी बन,
पुरजन-परिवार-प्रीति बंधन, सब तोडे ज्यों सूखा तृणही,
जीवनके भोग दिखे उनको जैसे मनुष्यताके व्रणही;
 ज्यो प्राण देहको छोड चले जाते, त्यो वे भी राज-धाम !
 वे वर्द्धमान् ! वे मूर्तिवान वरदान, उन्हें शत् शत्-प्रणाम !

१०

अनवरत तपस्या कर फिर जब केवलज्ञान कर लिया प्राप्त,
हो गयी जयी की आत्मा तब जगके कण-कणमें सतत व्याप्त;
विद्रोह पताका फहरा दी फिर उन अघके प्रासादो पर,
जिनकी नीवे थी सधीं हुई संसृति-जीवनकी साधो पर;
 जिनमे मानवको मानवता मूर्च्छित थी अपना हृदय थाम !
 वे वर्द्धमान् ! वे मूर्तिमान् वरदान, उन्हे शत्-शत्-प्रणाम !

११

जैसेकि प्रभञ्जनके सम्मुख थमती न लताओंकी छाती,
झोंकोंसे होड न ले पाती स्नेह दीपकोकी वाती;
वैसेही उनकी वाणीके पावन, पर प्रबल प्रहारोंसे,
घायल हिंसाभी हार गई, जैसे वहु वुद्-वुद् ज्वारों से !
 हंस उठा धराके अधरोंपर वर्षो प्रातःका पुण्य-धाम !
 हे वर्द्धमान् ! वे मूर्तिमान् वरदान, उन्हे शत्-शत्-प्रणाम !

भ० महावीरकी महिला समाजको देन।

(ले० "स्वतंत्र" सूरत)

भ० महावीर जिन्हें कि विश्ववंद्य कहा जाता है, जिनके द्वारा प्रतिपादित उपदेशोंकी आज सबसे बडी आवश्यक्ता है। वें उस परिस्थितिमें पैदा हुवे थे जब कि संसारमें धर्मका नाम अंधकारमें छिपा हुआ था, मान, मत्सर, दंभ, पाखंड, स्वार्थ, ममता आदि पाप प्रवृत्तियां अपना प्राबल्य फैलाये हुई थीं। मानव अपनी पापजनित मनोवृत्तियों द्वारा लोक मूढतामेंही आनन्द मान रहे थे। वस्तु-स्थिति और उसके स्वभावसे बिलकुल अपरिचित आंखें बंद किये हुवे अंधोंकी नाईंही पथभ्रष्ट हो रहे थे। उनके जीवनके प्रत्येक कार्य दिखावटी थे। तत्वज्ञान एवं सच्चाईकी ओर उनका ध्यान नहीं था। ब्राह्मण वर्गने अपनेको समाजका सर्वेसर्वा बना रक्खा था।

उस समयकी महिला समाजके प्रतिभी स्वार्थी पुरुषवर्गने महान् अत्याचार किये थे। उनके लिये महिलायें मद्य मांसकी तरह भोगकी सामग्री बनी हुई थीं। धर्म स्थानों तकमें सतीत्वसेभी खिलवाड किया जाता था। वानप्रस्थमें गये लोगोंको भी सुरा और स्त्री भोग्य वस्तुये थीं। राजा उदयन और प्रद्योतके संघर्ष युद्ध कामिनीके लिये हुवे थे।

मजेकी बाततो यह थी कि व्याही पत्नीभी लोग दूसरेको दे देते थे और उसमें पुण्य मानते थे। "द्वितीयो वरः देवरः" इस सिद्धान्त का उस समय पर्याप्त प्रचार था। यह कुत्सित भावना सब नारी समाजके प्रति प्रचलित थी। जिस नारीसे नर पैदा हुवे जिसने तीर्थंकरों चक्र-वर्तियोंको जन्म दिया जिसका सामाजिक धार्मिक राजनैतिक क्षेत्रमें पुरुषोंकी तरह समान अधिकार रहा आया हो, जो अपनी शिक्षा, दीक्षा, विद्या, कला आदिके द्वारा इतिहासमें अपना नाम अमर बना आई हो उसी नारी जातिका ऐसा महान् घोर अधःपतन पापी पंडोंद्वाराही किया गया था।

ऐसीही संघर्षमयी परिस्थितिमें आजसे ठीक २५४६ वर्ष पूर्व भ० महावीरका जन्म हुआ था। इसी लिये कि धर्मका वास्तविक स्वरूप बतलाकर लोकको सन्मार्गपर लगाया जाये। दुनियां-वालोंको वह विवेक प्राप्त कराया जाये जिसके द्वारा वे अंधकार और प्रकाशको पहिचान सकें उलझी हुई भूल भुलैओंसे निकाल कर उन्हें समीचीन मार्गपर लगाया जा सके।

जब भगवान वीरने तत्कालीन नारी परिस्थितिका अनुभव किया तो उनका हृदय करुणारस से पिघल उठा। जो नारी अपने सतीत्व[1] द्वारा दुनियावालोंका माथा अपने चरणोंमें झुकाती रही, जो नारी अपने उत्कृष्ट[2] चारित्र द्वारा इन्द्रोंकोभी चकित करती रही, जो नारी राज्य संचालन[3] द्वारा

---

१. सीता. २. सुलोचना. ३. सिंहिका.

प्रजाकी रक्षा करती रही, जो नारी मानव[४] समाजकी भलाईके लिये अपना बलिदान करती रही, जो नारी अपने शीलरूपी आभूषण[५] द्वारा व्यभिचारियोके दांत खट्टे करती रही, जो नारी बराबरके अपने धार्मिक[६] अधिकार प्राप्त करती रही, जो नारी पति सेवाके द्वारा अपने कुष्टी पतिको कामदेव बनाती रही, उसी नारी समाजके प्रति इन स्वार्थियोंका यह निन्द्य बर्तन। जहां महिलायें अपने अधिकारोंसे च्युत होकर नारकी जीवन बिताती रहें, वहा युवक प्राणिग्रहण करके क्षणिक सुखके लिये इनका अपमान देखते रहें, यह युवक महावीरसे न हो सका। फलस्वरूप भ० महावीर बाल ब्रह्मचारीही रहे इसलिये कि उन्हें कामभोगके विरुद्ध क्रान्ति जो करना थी।

भगवान वीर महिला समाजके हृदयमें उस समानाधिकारकी सरिता वहाना चाहते थे जोकि उन्हें प्रकृति द्वारा प्रदत्त थी। धार्मिक ग्रथ तो खुले शब्दोंमें कहते हैं:—

शिशुत्व स्त्रण्यंवा, यदस्तु तत्तिष्ठतु तदा।
गुणाः पूजास्थानं, गुणिषु लिगं न च वयः॥

अर्थात्—बालक स्त्री चाहे जो हो, उसके गुणही पूजने योग्य होते हैं उसका रूप या उसकी अवस्था नहीं। महापुरुष महावीर अपनी ३० वर्षकी अवस्थासे लगा कर ४२ वर्षकी अवस्था तक यानी कुल १२ वर्ष तक मौनावस्थामेंही साधकके रूपमें रहे थे।

जब आप आहरार्थ कौशाम्बी नगरी आये तब एक चन्दना नामकी महिलाको जोकि अत्याचारियों द्वारा सताई गई थी, जिसका शील लूटनेके लिए दुष्टोंने अनेक प्रकारके षड्यन्त्र रचे थे। जिसके जीवनका मूल्य पूरा "दासी" शब्दोंमे था, जो जेलखानेमें पडी हुई, अपनी मौतकी अन्तिम घडिया देखनेके लिये लालायित बनी हुई थी उसी चदनाका आपने उद्धारकर अपहृत दुर्दरित नारीको समानपद दिलाया था। दासीप्रथा का अन्त किया था।

उन्होंने बतलाया था कि पुरुषोंकी भाति स्त्रिया बराबरके धार्मिक अधिकार प्राप्तकर सक्ती हैं। जो अधिकार पुरुषोंको प्राप्त है या ले सकते हैं वही अधिकार स्त्रियोंके लियेभी हैं। पुरुषोंकी भाति स्त्रियां श्राविका हो सक्ती हैं तथा श्रावकोकी तरह व्रतपाल सक्ती हैं। वे धार्मिक ग्रथोका अध्ययन कर सकती हैं, उन्हे यह अधिकार प्राप्त है। यदि पुरुष मुनि हो सक्ता है तो स्त्रिया अर्पिका हो सक्ती हैं। यदि पुरुष तद्भव मोक्ष प्राप्तकर सक्ता हैं तो स्त्रियाभी परम्परागत मोक्ष प्राप्तकर सक्ती हैं।

स्त्री पर्यायसे मुक्तिका निषेध इसलिये है कि स्त्री द्वारा पूर्ण अहिसा महाव्रतका पालन नहीं हो सक्ता, शारीरिक सहनन (आदि की तीन संहनन) बलवान न होनेसे उन्हें शुक्त ध्यानकी प्राप्ति नहीं हो सक्ती, एतदर्थ स्त्री पर्यायसे उन्हें तद्भव मुक्ति प्राप्त नहीं होती यह सैद्धान्तिक नियम है। चन्दनाको दासी प्रथासे मुक्ति मिली, तथापि दासी प्रथाके प्रति खूब बगावत हुई, और भग॰

---

४. मदोदरी (रावनकी पट्टरानी). ५. चन्दना रयन मंजूषा, अनन्तमती मनोरमा आदि.
६. ब्राह्मी सुदरी (युगादि जिनकी पुत्रियां). ७. मैना सुंदरी.

वान वीरके प्रतिपादित उपदेशों द्वारा नारी जातिने अपने अधिकार प्राप्त किये। आदि पुराणमें बताया है :-

पुत्र्यश्च संविभागार्हाः समं पुत्रैः समांशकैः।

आदिपुराण पर्व ३२

यह उस समयकी बात है जबकि भ० ऋषभदेवने कर्म भूमीकी सृष्टि जनताके समक्ष रक्खी थी। उन्होंने कहा था कि पुत्रोंकी भांतिही पुत्रियोंकोभी समभाग बाटनी चाहिये। आदिनाथ भगवानने जिस तरह अपने पुत्रोंको शिक्षा दीक्षा दीथी उसी प्रकार अपनी दोनों पुत्री ब्राम्ही-सुंदरीकोभी दी थी। इनके समवशरणमें आर्यिकाओ मे दोनो प्रथम मानी जातीथी। इसके आगे :—

द्वादशांग धरो जातः क्षिप्रं मेघेश्वरो गणी।
एकादशांगभृज्जाताऽऽर्यिकापि सुलोचना॥

हरिवंश पुराण सर्ग १२

यानी मेघेश्वर (जयकुमार) द्वादशांगका ज्ञाता गणधर हुआ और सुलोचना ग्यारह अंगकी-धारक आर्यिका हुई। इसका तो यही मतलब हुआ कि सृष्टिसेही स्त्रियोंको समनाधिकार प्राप्त हैं। हनुमान (श्रीशैल) की माता जब गर्भवती थी तब उसकी सासने उसे झूंठा कलंक लगा कर घरसे निकाल दिया था ऐसी अवस्थामें शीलवती पतिपरायणा अजना जगलके अन्दर एक गुफामें भगवानकी मूर्ति विराजमान कर अपनी सखी वसंतमालाके साथ पूंजन प्रक्षाल करतीं थी।

भ० वीरकी दृष्टिमे स्त्री और पुरुष दोनोंही समान थे और दोनोंकेही अधिकारोंके महत्वको समझते थे। उनके प्रतिपादित धर्ममें स्त्री पुरुषोंको समानाधिकार प्राप्त था। जो आत्मा पुरुषोंमें थी वही आत्मा नारी जातिमें मानते थे। अपने त्याग, तपस्या, सयम, आत्मसाधना द्वारा उच्च गति प्राप्त कर सक्तीं हैं।

स्त्रियोंका दर्जा सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रमेंभी समान है। स्त्रियोको अर्धांगिनी शब्दसे संबोधित किया जाता है जबतक पुरुष अपने आधे अंगको ठुकराता रहेगा तब तक उसे किसीभी क्षेत्रमें सफलता नही मिल सकेगी और न वह अपने जीवनस्तरको ऊंचा उठा सकेगा। यह कहांका न्याय है कि पुरुष अन्याय और अत्याचार करते हुवे निर्दोष कहा जावे? और जो निर्दोष अबलायें हैं उन्हे पददलिता पदच्युता बनाया जावे। मानवोके इस भूल भरे सिद्धान्तका विश्ववंद्य वीरने विरोध किया। उन्होने यह सिद्ध करके दिखाया कि जबतक महिला समाज अपने अधिकार प्राप्त नहीं कर लेती तब तक समाज, देश, धर्म, राज्यशासन आदि अधूरे रह कर गर्तमेंही गिरते चले जावेगें। स्त्री राज्यसिंहासन पर अपने पतिके साथ कंधासे कधा भिडा कर बैठती आयी है:—

अर्धासन निविष्टे च मताशिष्ट च भूभुजः

—क्षत्रचूडामणि (वादिराज)

उसे पट्टरानी या महारानी अथवा राजमाता पद मिलता आया है। स्त्री पुरुषकी सहायक है और पुरुष स्त्रीका सहायक है, जब दोनोंही नर नारी अपने विचारोंमें एकता प्राप्त करते हैं तभी गृहस्थ मार्गका सुंदर रीतिसे संचालन हो सकता है। शास्त्रोंमें तोः—

देवपूजा गुरूपास्ति स्वाध्याय संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने॥

गृहस्थोंके षट्कर्म बतलाये गये हैं। उससे यह सिद्ध होताही नहीं कि ये षट्कर्म श्रावकही पालन करते हैं श्राविका नहीं। दान तो दम्पत्तिद्वारा प्रदत्तही महत्वपूर्ण बतलाया है। राजा श्रेयांसने सपत्नीक युगादि जिन ऋषभदेवको सर्व प्रथम इक्षुरसका आहार दान दिया था, उन्हींके द्वारा मुनियोंको आहार दान देनेकी प्रणाली प्रारभ हुई। उपर्युक्त उदाहरणोंका मतलब यही हुआ कि नारी जातिने अपने अधिकार हमेशासे अपनाये हैं। नारी और नर दोनोंही मानव हैं, स्त्रीत्व और पुरुषत्व दोनोंको अपने कर्मानुसार प्राप्त होता है।

जहा भ० वीरके समवशरणमें १ लाख श्रावक थे तो ३ लाख १८ हजार श्राविकायें थीं। जिन्होंने चन्दना दासीको दासीत्व बधनसे मुक्त कियाथा, वही चदना आर्यिकाओंमें सर्व प्रथमथी, श्रेष्ठथी। सीताजी बनवासके अन्दर मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीके साथ मुनियोंको आहार देतीथी।

पूजन और प्रक्षाल ये तो भक्तिमार्गके प्रथक २ अंग हैं, एवं इन दोनोंसे पुण्य बंध होता है जो कि ससारका कारण है, जबकि अर्यिका सबर और निर्जराका कारण बताया गया है जिससे क्रमशः मोक्षकी प्राप्ति होती है। जब स्त्री मुक्तिके कारण इन संवर और निर्जरा करनेवाले कार्य तो कर सक्ती है तब बह पुण्यबंधके कारण भूत प्रमुख पूजन प्रक्षाल नहीं कर सक्ती? यह कैसे माना जा सक्ता है। महाप्रभु वीरके धर्मने नारी जातिके लिये सन्मान, प्रतिष्ठा, समानाधिकार आदि सब कुछ प्राप्त कराये थे उन्हें पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता दी गई थी।

———

"सतीत्वेन महत्त्वेन वृत्तेन विनयेन च।
विवेकेन स्त्रियः काश्चित् भूषयन्ति धरातलम्॥"

Karnāṭaka South and Jaina Tradition

By Prof. D. R. Bendre, M. A., Sholapur

[प्रस्तुत लेखमें प्रो० बेंद्रेने भारतीय पुराण-साहित्यकी महत्ता स्थापित करके विज्ञ समाजके समक्ष एक विचारणीय दृष्टिकोण उपस्थित किया है। जैन, शैव, वैष्णव और बौद्ध अनुश्रुतियोंका तुलनात्मक अध्ययन भारतीय इतिहासके लिये उपयोगी सिद्ध होगा। पुराणोंको निरा कल्पित कह कर टाला नहीं जा सकता। जैन पुराणोंमें इतिहासकी बहु सामिग्री है। जैनोंके आदि तीर्थंकर ऋषभदेवको वैष्णवोंनेभी अपना पूज्य पुरुष माना है। वैष्णवजन नाभिरायको १४ वां मनु मानते हैं। जैनभी ऋषभदेवके पहले १४ कुलकरोंका होना भोगभूमिमें बतलाते हैं। ऋषभदेव वैष्णवोंके मन्तव्य-काल वैवस्वत मनवन्तरसेभी पहले हुये हैं। नाभिरायके समय यह हमारा देश 'अजनाभ-वर्ष' कहलाता था। शैव और वैष्णव पुराणोंमे कुलपर्वत पर 'भूमियां' जातियोंका आवास बताया गया है। अतः मानना होगा कि श्वेतवराह कल्पके पहले विंध्यसे लंका तक विस्तृत एक दक्षिण राज्य था। इस अवस्थामे ऋषभ और भरतका कौशल, दक्षिण कौशल भासता है। कुछ विद्वान् 'कोशल-तोशल' नाम प्राङ् द्राविड कालका मानते है। उत्तरमें जाति नामके साथ 'अल्' प्रत्ययका सयोग सस्कृत-सधिके नियमानुसार होता हैं, जब कि दक्षिणमे वह सयोग द्रविड-कन्नड-स्वरसधिके अनुसार होता है। यथा :—

उत्तरमें :—	नीप (नेप) + अल् = नेपाल	सवर्ण दीर्घ संधि.
	बंग (बंग) + अल् = बंगाल	
	पंच + अल् = पंचाल	

दक्षिणमें :—	कुत + अल् = कुंतल	(कुंताल नहीं होता है)
	केर (चेर) + अल् = केरल	(केराल ,, ,, ,,)
	सिंह + अल् = सिंहल	(सिंहाल ,, ,, ,,)
	कोश + अल् = कोशल	(कोशाल ,, ,, ,,)

अतः इक्ष्वाकु कोशल इस प्रकार दक्षिणारण्य देशावास होना चाहिये। 'भागवत' में वैवस्वत, मनु और इक्ष्वाकुसे पहले द्रविडेश्वर सत्यव्रत मनुका उल्लेख है। द्रविडोंका आवास दक्षिणमें था। भुजबलिकी राजधानी दक्षिण कौशलकी पोठिल थी। दक्षिणमे बाहुबलिकी तीन विशालकाय मूर्तियांभी है।

'भागवत' में कोङ्गु, वेङ्कट और दक्षिण कर्णाटकके मध्यदेशसे ऋषभदेवने निर्वाण पाया, लिखा है। किन्तु जैन आगम ग्रन्थोंमें ऋषभका निर्वाण स्थान कैलाश लिखा है। शैव ग्रंथोंका कैलाशभी यही है। अतः ऋषभनिर्वाण स्थान कैलाशको मानना ठीक है। साथही यह माननाभी ठीक है कि 'भागवत' के पहलेसे दक्षिण कर्णाटकमें अर्हत् (जैन) राजा थे। इसका अर्थ यह होता है कि दक्षिणसे जैनधर्मका सम्बन्ध नेमि-पार्श्वनाथके मध्यवर्ती कालसे हैं। जैन ग्रंथोंमें केवल नेमिनाथ का पल्लव देशमें विहार करनेकाही उल्लेख नहीं है, बल्कि यहभी लिखा है कि पाडवोंने दक्षिण

मथुरामें राज्य स्थापित किया था। यह तामिल देशके प्रदेश है; जो कर्णाटकसे सटा हुआ है। उस समय कर्णाटक (कर्ण-नाटक) और पल्लव (पर्ण-नाटक) एक देशके उत्तरीय या दक्षिणी भागमें रहते थे और एक जातिके थे। पाणिनिने गोत्र नामोंमें कर्णाटकों व पर्णाटकोंका उल्लेख किया है। वे सभवतः नाट् क्षत्रियोंकी मिश्र जातियां थीं। भरत चक्रवर्तीके समय नाटों (ज्ञातों) की एक प्रमुख क्षत्रिय जाति थी। अन्तिम तीर्थकर महावीरका जन्म ज्ञातृ (नाट) क्षत्रियोंमें हुआ था। इन ज्ञातृ या नाट क्षत्रियोंके अनेक कुल दक्षिणमेंभी आबाद थे। कुन्थलके कर्णाटक, द्रविडके कर्णाटक, महिष्मंडलके पुन्नाट, आध्रके बेकिनाट, किष्कधके वानर और उत्तर कौशलके उन्नाट क्षत्रिय ज्ञातृ (नाट) क्षत्रियोंकेही भेद हैं। अतः स्पष्ट है कि प्राचीन जैन इतिहासका सम्पर्क दक्षिण कर्णाटकसे था। नाट्क्षत्रिय वहां रहते थे। यदि यह बात न होती तो भद्रबाहु आचार्य सम्राट् चन्द्रगुप्त सहित श्रवणबेलगोलको न आते। इस विषय पर माननीय लेखक अन्य विद्वानोंके विचार जाननेके लिए उत्सुक है। —का० प्र०]

I believe that very old relations have existed between Karnātak and Jainism. My belief is based on the historical evidence implicit in the Purānas. Purānās are regarded as pre-history, true! If such pre-history is studied from a comparative stand-point in the light of the Jain, Vishnava and Śaiva Purānas the scope of history itself will be widened. It is time that this systematic reconstruction is undertaken by the Pandits, in the wake of the Orientalists. Śri C. R. Krishnamacharya's, "The Cradle of Indian History" (The Adyar Library Series 56), is good beginning in this direction. If research is prosecuted further on these lines, it will probably be established that the Jain, Vaishnava, Brahmha, Shākta, Śaura and Chandra views of Reality have rayed out of a single central Inspiration or Vision, just as now, it has come to be accepted that the Ganges, the Indus and the Bramhaputra have a common regional basis in the Himālayas. Such a finding will contribute to the evolution of the synthetic unity, which is the need of the hour.

In the Jain Āgamas, there is embodied beside the Darshana, the Purāna relating thereto. From this tradition we understand that the Ādi-tīrthankara Rishabhadeva, revealer of the Jain Illumination is venerated in the Vishnava Āgamas as well. Nay, more. The trinity of Nābhi, Vrishabha and Bharata, shares fraternal status with Uttānapada Raya, the father of the exemplar of Vaishnava devotion, Dhruva According to the Vaishnava Āgamas Nābhi Rāya, is the Fourteenth Manu. Prior to him are reckoned the *pūrva bhavas* of the Ādijina (आदि-जिन) and thirteen Manus of the Jaghanya Bhoga-Bhūmi (जघन्य भोगभूमि). By the criterion of the Vaishnava Purānas the present Vedic era is part of the Vaivaswata Manwantara. Rishabhddev's age is anterior to it. Our country had not yet acquired the name of Bharat-Khanda. The contours of the known world were established in the time of Bharata's grand-father, Nābhi Rāya. All the puranas more or less accept and describe this geography. The Purānas say that in Nābhi Rāya's time, this land of our's was designated 'Ajanābha-Varsha.' Anterior

to this Kalpa we hear mention of 13 Jain Manus, and the Kula-Karas, and the new of men that was being shaped under the direction of these Manus and Kulakaras in Bhogabhumi. If the Bhumiya trives inhabited the region of the Kula-Parvata mountains alluded to in the Śaiva and Vaishnava Purānas, it will have to be admitted that the southern kingdom between the Vindhyas and Sinhala was one far advanced before the Sweta-varāha-Kalpa. In that case there are reasons to maintain that Kośala, the home of the Rishabha and Bharata, Inshwākus would be identified as the southern kingdom and not the northern. Some western Scholars hold that Kośala, Josāla, is a pre-Dravidian nomenclature. The suffix "Ala" indicating place and country when applied to tribal names in the north, would be in accordance with the Sanskrit Sandhi; when applied to tribal names in the south would be in accordance with the Dravida-Kannada-Swarasandhi.

Northern :—

Neepa	(Nepa)	+	Ala	=	Nepāla	Savarna
Vanga	(Banga)	+	Ala		Bangāla	Deergh
Pancha		+	Ala		Pánchāla	Sandhi

Southern :—

Kunta	+	Ala	=	Kuntala	(not Kunt-āla, कुन्ताल)
Kera (Chera)	+	Ala	=	Kerala	(not Kerāla)
Sinha	+	Ala	=	Sinhala	(not Sinhāla)
Kosa	+	Ala		Kosala	(not Kośāla)

The original Kośalas of the Ikshwāku (इक्ष्वाकु) would thus belong to the Dakshinātya countries. It can be traced from the Bhāgawata that Satyavrata Manu, the Dravideshwara was well known before the pauranic trio, Vaivaswata, Manu and Ishwāku. The south was the land of Drāvidas, Pothali of South Kośala was the capital of Bhujabali. Three beautiful monuments attesting the unique worldly renunciation of Bhujabali Gomateshwara stand in Karnātaka. The Bhāgwvata speaks of Rishabhadeva as having attained nirvāna to the south of this Karnātak. i. e. in the middle region of Kongu Vengada and South Karnātak (Kankata Karnātaka) and Kutajadri. But the Jain Āgamas have it that Rishabha had his nirvāna in the Kailāśa. The Kailaśa of the Śaiva Āgamas must be identical with this. The Nirvāna of Rishabha may be associated with this spot. But there seem to have existed Arhat kings in South Karnātak anterior to the 'Bhāgavata-purāna' who wanted to appropriate this honour to the south. That means the South had imbibed Jainism in the middle of the time of Nemi Pārśwanātha. The Jain Āgama not only refers to the exodus of Neminātha to Pallava, anticipating the destruction of Dwārikā, but to the Pāndavas too having established a kingdom in South Madura. These Pallavas and South Madura are none else than the Tamil land contiguous to Karnātaka. At this

time the Karnātakas (the Karna-Nātakas) and the Pallavas (The Parna-Nātas) lived in accord as the north and south of a single land and as the offshoots of a single tribe. Pānini includes the Karnātakas and Pārnātakas under the 'Gotra-nama' category of the "Yaksas." It would seem both these were mixed Kshatriya tribes of the Nātas.

The Nātha tribe was one of the five Kshatriya tribes of note during the time of Bharata Chakravarthī. Mahāvīra, the last of the Tīrthankars was born in this tribe. The Sanskrit and Prākrit texts variously refer to this tribal name as Jñātri, Nāth and Nāta. The different houses of the Nātas were located in the South. Karnātaks of Kunthala, Parnātas of Drāvida, the Mahānatas of Vidharbha, the Punnātas of Mahishmandala, the Bekinātas of Āndhra, the Vā-naras of Kishkanda, the Unnātas of Uttara-Kośala were among the tribal variations of Nātas. The Bekinātas are mentioned in the Vaidika Sukti. The 'Mahābhārata' mentions the Unnātas. Pampa in his 'Ādipurāna' specifies the Mahānātas. The Vānaras of Rāmāyana are well known. The Ggngas and the Punnātas of ancient Mahisha-Mandala are known to be kin. Inscriptions from rocks too bear evidence to this.

It emerges that ancient Jain history had contact with the larger portion of Karnātak as Kunthala and Kunkana, are identified as the home of the Kulas, and as Vānara, Punnāta, and Karnātaka are found to be the sources of the various sub-divisions or offshoots of Nātas. If this were not so, Maurya Chandra-Gupta with Bhadrabāhu Āchārya would not have come staraight by the northern route, traversed the countries in the middle and settled down in Shravan-Belagola as if by express invitation. I have briefly set forth this view for further scrutiny by scholars I have a desire to acquaint myself, with the position of those who hold a contrary view or who have arrived at the same conclusion on lines of their own. I shall feel compensated for the present if the attention of those engaged in historical and geographical research prior to the date of Bharata, is drawn this way.

Koṇḍakundācārya's Birth Place.

By Dr. B. A. Saletore, M. A., D. Litt. Ahmedabad.

[प्रो० डॉ० भास्कर आनन्द सालेतोरेने प्रस्तुत लेखमें श्री० कुन्दकुन्दाचार्यजीके जन्मस्थान पर प्रकाश डाला है। शिलालेखोंके आधारसे वह मद्रास प्रान्तके गुंटुकल रेल स्टेशनसे चार पांच मील दूर स्थित कोनकुंतल या कोनकुनल ग्रामको उनका जन्मस्थान बताते हैं। आचार्यश्री का जन्मस्थान होनेके कारण वह स्थान तीर्थ माना गया था। सन् १०८१ के लेखसे स्पष्ट है कि महामंडलेश्वर जोयिम्मय्यरसने कोन्डकुंन्देयतीर्थमें स्थित चट्ट जिनालयको दान दिया था। इसी मंदिरके लिये सन् १०८८ मे महामंडलेश्वर च्क्किरसने दान दिया था। ऐसे उल्लेखोंसे कोन्डकुंड या कोनकुनल स्थानही सभवतः आचार्य श्रीका जन्मस्थान है। —का. प्र.]

One of the most famous names in early Jaina history is that of Koṇḍakundācārya. His date is still unsettled, but it is believed that he lived in the first century. A. D. Scholars like Venkayya and Ramaswami have rightly pointed out that he hailed from Konakuntala or Kondakunda, or Konakonala, a village about four or five miles from the Guntakal railway station in the Madras Province. I have shown elsewhere that this name Koṇḍakunda is essentially Kannaḍa [1] In this paper I shall show that this place was of some consequence, both from the administrative as well as the religious points of view. It rightly came to be called a *tīrtha* or a holy place, many centuries after the time of Koṇḍakundācārya, evidently because of the fact that that great teacher had been born there. That the birth place of a great place was reckoned to be a *tīrtha* or a *kṣetra* has been shown by me in another context, where I have proved that the birth place of the great Vaisnava teacher Ānandatīrtha better known as Madhavācārya, has likewise ever been reckoned to be a holy place by the followers of this great Vaiṣṇava teacher. The place is called Pājakaksetra while the place where he spent his boyhood is called Danda-*tīrtha*.[2] Concerning the birth place of Kondakundācārya, I may add that the remarks which follows are based on five stone inscriptions which were accessible to me long after the publication of my work on Jainism.

The earliest stone inscription about the birth place of the great Jaina teacher is dated in A. D. 1059-60. It was found in the Bhogeśvara temple at Donekallu, Gooty tāluka, Anantapūr district, Madras Province. It informs us that in the reign of the Western Cālukya monarch Tribhuvanamalla Deva, an expedition was led to the south by that monarch. At that time Sankarasa was governing from Kondakunde (*Koṇḍakundeya-maneya Sanka-*

1. Read Saletore, *Mediaeval Jainism*, pp. 226, n. (3)—228.
2. Read Saletore, *Ancient Karnāṭaka*, pp. 416 ff.

rasa) In the above record we have an interesting detail which, of course, does not concern us here *viz.*, that two Brahmans (named) had forcibly occupied the *umbali* or rent free lands of some persons, and that they were ejected from those lands [3]

The second stone record is dated in A. D. 1078, December the 25th. It was discovered near the Malleśvara temple at Konakonala itself, in the Gooty tāluka This is a damaged record which mentions the same Western Calukya Tribhuvanamalla Deva, records the gift of some land for the services of the god Mallikārjunadeva of Kondakunde [4]

The third record dated A D 1081, December the 23rd, Thursday, and discovered on the hill called Kailesappa Gutta also at Konakonala, affirms that while the same Western Cālukya monarch was reigning from Pottalakere, snd when his Mahāmandaleśvara Joyimmayyarasa was governing the Sindavādi 1,000 Province, this governor granted thirty *mattar* of land, a flower garden, an oil mill, and eight house sites for the services of the Jaina god in the *basadi* called Catta Jinālaya, which had been erected by Nalikabbe in memory of her husband, in the *Kondakundeya tirtha* (Holy place of Kondakunda) The governor, it may be noted, was a devotee of the god Mallikarjuna of the same place [5]

The fourth inscription dated A D. 1088, December the 24th, and found in a field also at Konakonala, mentions the same Western Cālukya monarch. It registers the grant of land by the Mahāmandalesvara Cikkarasa of Hāmblige belonging to the ancient Bāna royal family: but the gift-deed was executed by the Mahāsāmanta Candrahāsa of Kondakunde for the services of the same god whose name is lost in the record.[6]

The fifth record dated A. D 1525, November the 7th, and discovered in front of the Bhogeśvara temple at Konakonala itself, refers to the reign of Krsna Deva Rāya the Great of Vijayanagara. It affirms that under orders of the monarch, Kottanara Rāmarāja made a gift of land to certain persons (names lost in the record), of Kondakundi for constructing a tank in the village and for its supervision.[7]

From the above, therefore, we may safely conclude that the birth place of Kondakundācārya was a place of much consequence from the eleventh till the sixteenth century, that it was a centre that was always within the limits of Karanāta monarchs, and that it was a place of importance both to the Hindus and Jainas.

---

3 *South Indian Inscription*, IX. P I. No 123, pp 104–105; *No. 392 of 1920*.

4. *Ibid*, No 136, pp 119-120, *No. 455 of 1920*.

5 *Ibid*, No. 150, pp 132; *No. 565 of 1915*

6 *Ibid*, No 157, pp 139; *No 566 of 1915*.

7. *Ibid*, Part II, No. 519, p 535, *No. 76 of 1912*.

पव्वइया नगरी।

(इतिहास तत्व महोदधि जैनाचार्य श्री. विजयेन्द्रसूरी)

उद्योतन सूरीद्वारा प्रणीत कुवलयमाला कहा ग्रन्थ शक सम्वत् ६९९ (विक्रम स. लगभग ८३४) की चैत्रवदी १४ को जाबालिपुर (मारवाडका जालौर नामक स्थान) में पूरा हुवा था। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में लिखी गाथाओंमें 'पव्वइया' (पर्वतिका) नामक नगरीका वर्णन आता है। वहां इस नगरीको चन्द्रभागा (चनाब) नदीके किनारे पर बताया गया है।[१] कुवलयालाकहाके रचयिता उद्योतन सूरिके पूर्वपुरुष हरिगुप्त इसी नगरीमे रहते थे और तोरमाण हूण राजासे सन्मानित और इसके गुरुथे। थामस वैटर्स कृत आन युआन च्वाङ् ट्रैवल्स इन इण्डियाके नकशेमें युआन च्वाङ की यात्राओके आधार पर चन्द्रभागा नदीके किनारे पर 'पर्वत प्रदेश, प्रदर्शित किया गया है जो कि काश्मीरके नीचे है, इस की ही राजधानी पर्वतिका (पव्वइया) थी।[२] महाभारतके सभापर्व मे अर्जुन की दिग्विजयके वर्णनमें अर्जुनका कार्श्मीर जाते समय पर्वत प्रदेशमेसे हो कर जानेका उल्लेख है।[३] पाणिनिके तक्षशिलादि गण[४]मे भी जिस 'पर्वत' देशका उल्लेख है और विशाख-दत्तके मुद्राराक्षसमें पर्वतक और मलयकेतु नामके जो पात्र उपस्थित किये गये है वे सब इसी पर्वत प्रदेशके रहनेवाले थे। श्री बेनीमाधव बरुआके मतसे मुलतानके पूर्वोत्तरमें ११६ मील पर यह पर्वत

---

१. भारतीय विद्या, Vol. II, Part I, नवम्बर १९४०, पृ. ८४, गाथा २. ३.

सुइदिय चारुसोहा विअसिय कमलाणणा विमलदेहा।
तत्थत्थि जलहिदइआ सविआ अह चदमाअ त्ति॥
तीरम्भि तीय पयडा पव्वइया णाम रयणसोहिल्ला।
जत्थत्थि ठिए भुत्ता पुहइ सिरितोर रायेण॥

२. On Yuan Chwang's Travels In India By Thomas Watters, Vol. II के अन्तमें दिया नक्शा.

३. महाभारत, सभापर्व, अध्याय २८—

विजित्य चाहवे शूरान्पार्वतीयान्महारथान्।
जिगाच सेनया राजन्पुरं पौरवरक्षितम्।
पौरवं युधि निर्जित्य दस्यून्पर्वतवासिनः
गणानुत्सवसकेतान जयत्सप्तपाण्डव।
ततः काश्मीरकान्वीरान् क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभः।

४. इस गणमे तक्षशिला, वत्सोद्धरण, कैर्मेदुरक, ग्रामणी, छगल, क्रोष्टुकर्ण, सिंहकर्ण, सकुचित किन्नर, काण्डधार, पर्वत, अवसान, वर्चर, कंसकी गणना है।

प्रदेश था।[५] इस पर्वत प्रदेशके रहनेवाले लोग पौरव कहलाते थे। भारतीय इतिहासके प्रसिद्ध और सिकन्दरसे लोहा लेनेवाले राजा पुरू इसी प्रदेशके थे। युआन च्वाङ्के अनुसार इस पर्वत प्रदेशका घेरा ५००० ली था, इसकी राजधानी २० ली से भी बडी थी। वहां की प्रमुख उपज चावल, दाल, और गेहू थी।[६]

इस वर्णनसे प्रतीत होता है कि कुवलयमालाकहाकी प्रशस्तिमें वर्णित पव्वइया (पर्वतिका) नगरी पर्वत देशकी राजधानी थी और वह पर्वत देश काश्मीरके नीचे और मुलतानके पूर्वोत्तर ११६ मील पर चनाब नदीके किनारे था। इसी प्रदेशमे एक पर्वत है, जिसे 'पव्वी' कहते हैं। सभव है कि पव्वी और पव्वइयां का कुछ सम्बन्ध हो।

प्रियदर्शन इतिहास कण्ठमे
आज ध्वनित हो काव्य बने।
वर्तमानकी चित्रपटी पर,
भूतकाल सम्भाव्य बने!

—श्री 'दिनकर'

---

५. डा. बेनीमाधव बरुआ कृत 'अशोक एण्ड हिज इस्क्रिप्शंस, पृ० ४५ में लिखा है:

The explanation for the introduction of Parvatak kumar in the story lies really in the Mudrārākshasa in which the machinations of Chānakya against Nanda were directed to conciliating Rākshasa, a minister of Nanda, and getting Malayaketu of Parvata as an ally. I am inclined to identify Parvata with Hwen Thsang's Po-fa-to, a country which was situated 700 li (about 116 miles) south-east of Multan. Vishākhdatta's Parvata is the same country as that which Panini IV. 2. 143, mentions as the name of a country under the group Takshasilādi IV. 3. 93

६. थामस वैटर्स कृत ऑन युआन च्याङ्स ट्रैवलमें पो-फा-तोको पर्वत प्रदेश बताया गया है। पृ० स. २५५, भा० २,

Jain Code and Jainism.

By Shri Sāhitya-Chandra; Vāngmaya-Pradīp; Raoji Nemchand Shah,
Pleader, Sholapur
(Editor Pragati Jinvijaya and Veer Com. Vol.,
President Jain Sāhitya Sevā Mandal)

[प्रस्तुत लेखमें श्री. रावजी नेमिचन्दजी शाहने जैन कानूनकी विशेषता और उसको मान्य करानेकी आवश्यकता पर प्रकाश डाला है। जैनधर्म एक अति प्राचीन धर्म है। वह लिखते हैं कि जैनोंके प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवके पिता नाभिरायकी अपेक्षा यह देश अजनाम वर्ष कहलाता था और उनके पुत्र भरतके नाम पर वही भारत वर्ष कहलाया। वृषभ तीर्थंकरको हिन्दू विष्णूका अवतार मानते है और कहते है कि अब तक उनको हुये २८ युग बीत चुके हैं। वह आदि धर्म-प्रवर्तक थे। ऋग्वेदकी ऋचाओंमेंभी ऋषभ और अरिष्टनेमि तीर्थंकरोंका उल्लेख हुआ है। 'भागवत' एवं 'विष्णु' पुराणोंमें ऋषभदेवका चरित्र ठीक उसी प्रकार लिखा हुआ है जैसा कि जैन पुराणोंमें मिलता है। मोहनजोडरोंकी मुद्राओंसेभी सिद्ध है कि जैनधर्म पाच हजार वर्ष पहले प्रचलित था। मुद्रा नं० ४४९ पर जिनेश्वर शब्द पढा गया है। मथुराके कंकाली टीलासे बहु प्राचीन मूर्तियां तीर्थंकर ऋषभदेवकी मिली है। अतः ऋषभदेवका समय प्रायः ऐतिहासिक कालमें बहु प्राचीन बैठता है। वह वैदिक आर्योंके आगमनसे पहलेके महापुरुष ठहरते है। अतः जैनधर्म उनके बराबर प्राचीन सिद्ध होता है। उसे वैदिक धर्मकी शाखा बताना गलत है—जैनोंको हिन्दू धर्मविरोधी लोग (Hindu Dissenters) कहना औरभी गलत हैं। जैनोका अपना धर्म हैं, अपने देवता हैं और अपने शास्त्र हैं। निराली पूजाविधि हैं, जिसमें पशुबलि निषिद्ध है। अहिंसा परमधर्म है। श्राद्धतर्पण आदि कुछ नहीं है। उनकी निराली संस्कृति और दायभागके विधि विधान है। 'भद्रबाहु संहिता'–'अर्हन्नीति' आदि दायभाग सम्बन्धी शास्त्र है। किन्तु इतने परभी जैनोंके मुकद्दमे हिन्दू लॉके अनुसार निर्णित किये जाते है। जैनोंके प्रति यह अन्याय है। मान्य लेखकने न्यायाधीशोंके अभिमत उपस्थित करके जैनकानूनकी विशेषता स्थापित की है। मद्रासके चीफ जज सा. श्री कुमारस्वामी शास्त्रीने स्पष्ट कहा था कि "जैनोंके अपने दायभाग विषयक शास्त्र है। हिन्दू कानून उनके प्रति लागू करनेके लिए कोई उपयुक्त कारण नहीं है।" अन्य अभिमतभी यही प्रगट करते है। अतएव जैनोंके लिए तो उनका अपना शास्त्र सम्मत जैन कानून बनना चाहिये। स्वतंत्र भारतमें इस अन्यायका अन्त होना चाहिये। जैनोंको मिलकर इसके लिये जोरदार आन्दोलन उठाना चाहिये। जैन सेवा मंडल नागपुरने इस दिशामे विशेष उद्योग किया था; पर संगठनके अभावमे उसकोभी सफलता नहीं मिली। जैन कानूनमें स्त्रियोंको विशेष अधिकार प्राप्त है। वह स्वयं गोद ले सकती है और पतिकी उत्तराधिकारी हो सकती है। प्रस्तुत लेखमें इन सब बातोंको दर्शा कर जैन कानून बनाया जाना आवश्यक ठहराया है।
—का. प्र.]

The times in which we live require a revision of our customary ol
code and ways of living. Institutional religions long-established are bein

found inadequate to the complex needs of modern Society. Thought is being rapidly internationalised, put on a pure human basis transcending race, caste, creeds and sects.

It may seem highly anomalous in an *era* like ours to advance any sectional claims. The whole of society is moving forward to an unprecedent integration. Old walls are crumbling, man's thought is acquring solidity not practicable in previous eras of history. But at the same time we have to recognise existing barriers and do what may be necessary to ensure the survival of what has come down to us from the past through the Great Masters, Āchāryas, Thinkers, Seers and Institutions.

Jainism, it is strongly claimed in this article, is not only one such an age-old institution, but according to some eminent scholars it is impossible to find a beginning for Jainism. At present it is represented in India by twenty to twenty-five lacs of votaries scattered and spread over the various parts of Bhāratvarsh. (Note : It is named after भरत, the eldest son of श्रीऋषभदेव, the first Tīrthankara It was early known as अजनाभवर्ष after नाभिमनु the father of Rishabha, the founder of Jainism). The Jains, under the present legal system have a few disabilities which it is the object of this paper to point out and further to claim Jain Code be framed and made applicable to them. It must be remembered that Hindu Laws are not words of precise interpretation. It is an incorrect and most unhappy expression.

At present the Hindu Dharma or Law applies to *Jains* except so far as such Law is varied by custom (Vide 8 Bombay, 45 Bombay, 754, 50 Madras, 228). 1 The Śrutis, 2 The Smritis and 3 Custom are three main courses of Hindu Law. Out of these three, Śrutis include the four Vedas The Smritis constitute the principal source of Law. 1. The Code of Manu. 2. The Code of Yājnavalkya 3. The Code of Nārad are the three principal Smritis which were compiled during the period varying from 2000 A D. to 5th or 6th Century A. D. Here it may be worth-noting that the Smritis do not agree with each other in all respects. Hindu Law is a mixture of morality, religion and law The distinction between positive law and moral is not observed in Hindu Jurisprudence. This is what is remarked by Shrī Bannerji.

Now it can be proved that the Jains have texts and scriptures of their own far far anterior to the Shrutis and Smritis which can be codified as Jain Law.

The Jain scriptures such as भद्रबाहुसंहिता, २. इंद्रनंदि-जिनसहिता, ३. अर्हन्नीति, वर्धमाननीति, जिनसेनरचित महापुराण (आदिपुराण) etc. have unfortunately never been referred to nor incorporated in the existing system Mayne defines "Hindu is any person who is a Hindu by religion." "This definition necessarily excludes Jains unless Jainism is considered to be a form or a branch of Hinduism."

To consider Jains as " Hindu Dissenters ' is entirely untrue. So also the following remarks of Sir D. F. Mulla about the History of Jains and their tenets are equally wrong and baseless. " Jainism seems to have been originated in the sixth or seventh century, to have become conspicuous in the eighth or ninth century; got the highest prosperity in the eleventh and declined after the twelfth." This is entirely based on the fourth hand information derived from the out of date history of Elphinstone or from some interested Brahmin Pandits. This has been proved false by the recent modern researches and historical works of Eastern and Western Scholars like T. W. Rhys Davis, Dr. J Buhler, J. G. R. Furlong (Vide Encyclopaedia of Religions and Ethics. Volume VII, page 465 and Volume II page 70) and also the works of Jain authors such as Shri *Champat Raiji Jain*, Bar-at-law and Babu Jugamandarlal Jain, M. A., and of non-Jain Indian Scholars.

Before adducing further evidence on this point, I shall first show how Hindu Law is made applicable to Hindus and Jains in the Courts of British India. The Hindu Law as administered by the Court in British India is applied to them by statuetes of the Imperial Parliament and also by local legislation. When the British Courts came to be established, the Jain Pandits have neither been consulted nor did the Jainas themselves show sufficient awakening or take cognisance of their position to be able to represent their case.

During the last ten centuries Jainism had to face the Vedic religion. If one throws only a glance at the history, one will find innumerable instances of tyranny and oppression of Hindu and Mohamedan Kings upon the Jains. The terror created during the last one thousand years has not been wiped out of the minds of the Jains who had kept hidden their holy Scriptures in the cellars even in the British period. The natural consequences followed the Courts consulted the Brahmin Pandits and the result was that the Jains, instead of being governed by their own i. e, Jain Law, have been tied to the chariot wheel of Hindu Law.

The Jains claim a unique position of life, not identical with that of the Hindus. They have, their independent religion, literature, philosophy and culture. The Hindus and the Jains differ on the creation of universe. They have their independent gods and their scriptures too. Jains worship gods not with some ulterior motive as the Hindus do. Their object of worship is to purify the soul and thus to become परमात्मा, ईश्वर or God. The deities and the gods according to Hinduism can be pleased by Penance and thus they can grant boons; but according to Jainism the Tirthankaras or the gods are indifferent to the propitiation of their devotees. It is purely on such social religious, and cultural grounds and not as a political expedient that the approach to the subject is made here.

The writer of this article is fully aware that the country is fast becoming one and there is no view of creating further barriers by urging separatists

claims. The Jains have suffered heavily. They have made great sacrifioe for the country and they are in this free India capable of making a splendid contribution to the enrichment of Indian culture, trade, commerce and material progress. It may therefore be noted that the appreciation of Jain Law would in no way be detrimental to the national unity.

We can visualise the time when particularsisms will be swept out of existence and mankind will realise itself as a unity. But this unity should include scope for distinctive types of human culture and philosophy proved by their historical survival These cultures have to be preserved through the transition. The only way of doing so is to recognise them legally at any rate, remove the legal disabilities to which the Jains are subject at present; though such pleadings may sound to be contradictory to the aforesaid spirit of the times.

As long as Hindu Law continues to be applied to the Jains, who swear by different scriptures and who do not abide by the Vedas and who do not recognise Hindu Purāns, it becomes the duty of the Jains in such matters to plead for a different criterion to be applied to them in consonance with their own accepted scriptures social usages and customs have been accepted as proofs by different High Courts.

It is a great pity that due weight has not yet been given to the common and sound rule that a man must be governed by his own personal law. Even the old generations of Jains thought it sacrilegious to bring their scriptures in the Law Courts. The natural result was that the Courts decided the Jain cases according to Hindu scriptures and have been following the same rule even upto this date

With these introductory remarks, I shall amplify the point of antiquity and independent nature of Jainism to strengthen my case for Jain Code.

Jainism prospered not only in pre-Vedic times but even prior to that as can be seen from the following extracts. In the life of *Lord Rishabhadeva* स्याद्वादवारिधि Shri C. R. Jain, Bar-at-law, remarks :—

"The Jain chronology places (श्रीऋषभदेव) Rishabhadeva at an almost immeasurable antiquity in the past but the Hindus who recognise the वृषभतीर्थंकर as one of the incarnation of Vishnu, hold that no less than twenty-eight cycles (युग) have elapsed since His time He flourished very very far back in the hoariest of hoary antiquity and that He was prior to all systematised forms of religion."

Admittedly there are references in *Rig* Vedic hymns to श्रीवृषभनाथ the founder of Jainism and also to Arista-Nemi, the 22nd Tirthankara who is a cousin of Shrī Krishna. The life of Rishabhadeva given in Bhāgwata and Vishu Purāna tallies with that of Jain Purānas. Besides from the excavated

Seals and images it is certain that Jainism was flourishing at the date of Mohenjo-Daro civilisation over 5000 years ago. The inscription on the Indus Seal No. 449 reads *Jineswar Jinesh.* For further corroboration see " The Jain Stūpas of Mathura " and elaborate sculpture found in the Kankāli-Mound is undoubtedly the image of Rishabha. The presence of two diminutive bulls indicates that the Personage honoured is Ādinātha Śrī Rishabhanātha has been assigned to Pre-historic age, his religion of Ahimsā (अहिंसा) must have been prevalent soveral centuries before the advent of the Aryans in the Indus Valley. So also the Social system and the civil Law, that is, the rules of conduct for the members of the Society in the Karma-Bhūmi of that age must have been prevalent in Bhārat-Varsha.

So the Aryans who had their central religious doctrine of Yoga including यज्ञ (animal sacrifice) naturally received the stubborn resistance at the hands of the staunch followers of Shrī Rishabhanātha cult whose slogan was ' Non-Violence is the highest religion ' (अहिंसा परमोधर्मः).

After Lord Rishabha, the pioneer of the Bloodless Altar, there were 23 Tīrthaṅkaras, who were the Revivalists प्रभावक and प्रसारक of the same Jain religion.

Lord Shrī Pārśwanātha and Mahāvīra-Swāmī have been now recognised to be the historical personages by the Western and Eastern scholars like Jacobi, Buhlar (See Cambridge history of India). Before Pārśwanātha, Neminath, the 22nd Tīrthankara lived some 5000 to 8000 years ago, i. e. during the pre-Vedic period. (Note :— " Jain tradition is unanimous in making Lord Rishabhadeva the first Tīrthaṅkara as its founder. There may be something historical in the tradition which makes him the *first Tīrthankara.* ")

Sir Radhakrishnan in his Indian Philosophy at page 287 remarks :—"The Bhāgwat Purāna endorses the view that Lord Rishabha was the founder of Jainism."

I shall quote some important extracts from the work " The short study in Science of Comparative Religions " by Major-General Furlong :—

" We must widen the inquiry by making it embrace Jainism, the undoubtedly prior faith of very many millions through untold millenniums." It is impossible to find a beginning of Jainism, which appears an earliest faith of India." I shall conclude the point of antiquity by quoting only two very important extracts from the Judgments of the most eminent High Court Judges.

Kumaraswami Shastri. Ag. Chief Justice in 50 Madras 228 (1927) remrrks :—

" Modern research has shown that Jains are not Hindu dissenters, but that Jainism has an origin and history long anterior to Smritis and Śrutis and

the commentaries which are authorities on Hindu Law. In fact Lord *Mahâvîra*, the last Tîrthankara was a contemporary of Buddha and died 527 B. C. Jain religion refers to a number of previous Tîrthankaras and there can be little doubt that Jainism as a distinct religion was flourishing several centuries before Christ. In fact, Jainism rejects the authority of the Vedas which form the bed-rock of Hinduism and denies the efficacy of the various ceremonies which Hindus consider essential.

So far as Jain law is concerned Jains have their own law book which deal also with Jain Law. There is no ground for applying the Hindu Law as developed by Viñājneśwar and other commentators written several centuries after Jainism which was a distinct and separate religion with its own religious ceremonial and legal system *en bloc* to Jains.

Now let us see what Justice Rangnekar of the Bombay High Court remarks on page 518 I L. R 1937.

" It is true as later historical researches have shown that Jainism prevailed in this country long before Brahmanism came into existence and it is wrong to think that the Jains were originally Hindus and were subsequently converted into Jains. Now it is settled that Courts should start with the presumption that Hindu law of adoption would not apply to the Jains, and the burden of proving to the contrary would be on the Jains. Whether this state of things requires a change or not is a matter *more* for the *Jains* than for any one else."

Sir D. F. Mulla in Chapter XXX of Hindu law says —

"Jains reject scriptural character of the Vedas and repudiate the Brahmanical doctrines relating to obsequial ceremonies; the performance of the Shrāddhas and the offering of oblations for the salvation of the soul of the deceased Jains do not believe that a son either by birth or adoption confers spiritual benefit on the father. They differ from the Hiudus in their conduct towards the dead, omitting all obsequies after corpse is burnt."

These quotations of eminent and disinterested scholars go to prove the necessity of framing the Jain Code and also its application to the Jains as the spirit of the Jain Scriptures i. e. of Jain Law ever remained quite distinct from that of the Brahmins and others. The Jain community is very grateful to the *Jain Seva-Mandal*, Nagpur. The workers of the society especially Mr Alaspurkar the learned Advocate and the General Secretary of the said Mandal published a useful pamphlet giving weighty opinions on the Draft Hindu Code. The Mandal requested the Hindu Law Committee to examine the solemn verdict of jurisprudence, the history of Jainism with up-to-date researches and its ancient tradition and religion. It has rightly observed :-" *To allow the Jains* to be governed by the Hindu Law means destruction of the very fabric of the *Jain theology* and religion

allowing an inroad on Jain religion, history and culture." "Jains should involve a system of Jurisprudence which should be in cardial harmony with the essential theological and moral teachings of Jainism. Jain Law grew out of the inner necessity of the corporate life of the Jains. "Really law is an essential constituent of the whole life of the community. It is a very sure index of the culture of the community. In सागारधर्मामृत and भगवान जिनसेनकृत महापुराण (Mahāpurāna) ethical principles namely the Vratas to be observed by the Jain laity i. e. Shrāwakas are given. It is also linked with the common moral maxims and cultural law which govern the corporate existence of the Jains.

Besides Hindu Law is full of conflict of authority. The commentators on Smritis and Śruitis strongly differ. The proposition as laid down by the majority of the Full Bench is not to be found in any Text of Hindu Law. Taking all such matters and glaring defects into consideration it was recently decided to codify Hindu Law. Under these circumstances it is but equitable to frame the Jain Code also. It would be unnecessary to give here the draft of the Jain Code. But I shall show the *legal desabilities of the Jains* under the present system. From the above remarks, it has become abundantly clear that the rules of Vyavahāra (व्यवहार) of civil law of Jains relating to marriage, adoption, inheritance, partition, stridhan, funeral and such other ceremonies entirely differ from Smritis and Srutis which were written by the Brahmins and *for the Brahmins* only. *Jains* do not at all recognise the spiritual superiority of the Brahmins, who in their own works remarked that the Jains are not Hindus. While showing the defects of Jainism in पद्मपुराण published by Anandashram series Poona, it is thus remarked :—

पितृणां तर्पणं नास्ति, नातिथिर्वैश्व वैदिकम् ।
कृष्णस्य न तथा पूजा अर्हतां ध्यानमुत्तमम् ।

In the next stanza it is shown that the Jains cannot therefore be the followers of Hinduism. In another Brahmanical work it is said :—

न तर्पणं देवपितृद्विजानाम् ।, धर्मे कथं पुत्र दिगंबराणाम् ॥

As the Jains do not give तर्पण to God, parents, and Brahmins as they do not believe neither in the Vedas nor in Srutis and Smritis, how dare you believe such a Jainism son?" The evidedce of these Brahmanical works show that the Jains are not Hindus and were never treated as such. Jains do not believe the sons confer spiritual benefit on the father. Adoptions by the Jains are purely secular (20 Bombay 516). They also regard the birth of a son as having no effect on the future state of the progenitor, and consequently adoption among them is purely temporal arrangement and has no spiritual object. The son according to Jain Law is powerless to protect his father from hell. The son is helpless to alter or obstruct the course of destiny of his father designed by his own Karmas. Jains do not believe the Brahmanical sūtra

अपुत्रकस्य गति र्नास्ति. A Jain can attain Salvation (निर्वाण) by destroying the eight Karmas, though he has no issue at all.

Jainism is the religion of equality, liberty and perfect knowledge and all matters i e. material and spiritual. Jain law gives absolute interest to the widow in her husband's property. So also she can adopt without her husband's consent and if childless, she acquires an absolute right and ownership in her husband's separate property. The Jain widow has full power of alienation over the non-ancestral property of her husband (See वर्धमाननीति and भद्रबाहुसंहिता stanza 73). According to Hindu Law an orphan cannot be adopted, but among Jains a major boy can give valid consent for his adoption In 87 I. C. 1925 All. H. C. Mukerji J. remarks · " Among Jains adoption is more a matter of custom than of spiritual necessity and even a married man may be adopted among them." If the adopted son is found to be of bad character or ill treats his parents or gives up Jainism a declaring decree can be obtained not only against the adopted son only but also against the real son (See भद्रबाहुसंहिता 52 to 54 and also अर्हन्नीति 86 to 88)

Agarwal Jains have been held by the H. Courts to belong to twice-born classes but according to the ruling of the Privy Council in Lala Rupchand Vs. Jamna Prasad, 12 Bom L. R. 402. Their Lordships held that custom is proved and on the strength of the custom held ·—

" Among Jains adoption is no religious ceremony and under the Law or custom there is no restriction of age or marriage among them. "It is needless to point out that this is not allowed according to Hindu Law. So also Jains have taken a magnanimous view even in matters relating to widow's property In Mitter Sen Vs. Dattaram 87 I C. 724 = A I. R. 1926 All 7-, held that the agreement by the adoptee as condition precedent to the adoption to give some property to widow's brother, is binding. But a Hindu widow cannot make the adoption upon the adopted son's agreeing to carry out her directions to make gifts. According to Hindu Law an attempt to bind the adopted son by such conditions must fail and the Hindu son takes the estate free from them. The inequality or disability of the Hindu Law as regards the disposal of her husband's property by the widow has been done away with by the Jain Law. Jain widow's power to alienate her husband's property is not at all restricted. But as the Jain Scriptures have never been taken into consideration, nor referred to, the difficulty is that a Jain widow has to prove the custom in the Law Courts. Thus Jains had to incur heavy and unnecessary expenses to discharge this proof. Such a custom prevailing among the Jains has been proved in several cases and it has been held in cases from Meerat (1 All. 688), Saharanpur (16 All. 379) and Arrah in the District of Sahabad (27 Cal. 379) that amongst Agarwal Jains the widow takes an absolute estate in the self-acquired property of her husband and that she has full power of alienation in respect of such property. (See also 13 Bom. L.

R. 1121.) But in 1880 such a custom was set up by a Jain widow, but the Learned Judge not being aware of the injunctions of the Jain Scriptures on the point held that she could not make a gift of her husband's property and that she has not proved that custom. Does it not amount to destruction of the very fabric of the Jain theology, culture and religion? So also according to the Hindu Law the son of a deceased person has the right to perform the anniversary ceremonies (वर्षश्राद्ध) of the deceased. It is not only his right but religious duty. But there is no such ceremony, nor religious duty among the Jains.

Thus there are in every branch of Hindu Law strong peculiarities of its own, which are not at all prevalent among Jains. Hindu Law varies according as a person concerned is a memher of twice-born (द्विज-ब्राह्मण) or of Śūdra class, male or female. Hindu Law is essentially and preminently a law of status. All these peculiarities are absent in Jain Law Hindu Law is applied to Hindus as their personal Law. Why then should it be made compulsorily applicable to Jains when the spirit of the Jain Law is quite distinct from the Law of Brahmins and others? Our Jain Law grew out of the inner necessity of our corporate life.

Now I shall point out not only the defect in the definition of Hindu, but its ridiculous nature also.

" Hindu is any person who is Hindu by religion " and Hindu by religion means and includes even a dissenter such as Jains however radical his differences from the strict Brahmanism may be. Suffice to comment that no sane person would be satisfied with this state of things and such a far stretched and illogical definition.

Even Bannerji in his Hindu Law at pages 19 and 20 severely criticises the application of Hindu Law to Jains. This is objected because rules of Hindu Law particularly those relating to adoption, inneritance etc. bear a strong Brahhmanical character and it is not right or resonable that the persons other than the followers of the strict Brahmanical religion such as, Jains and Lingayats, should be governed by them.

It also objected that Jains are not merely dissenters, but they are distinct from Hindu (Hirachand Vs. Sonpal I. L. R. 1939 Bom. 572). All this discussion leads to prove that the Jains have their independent and impartial scriptures, ideal culture, best literature and the Jain law as laid down by the Jain-Acharyas. Admittedly one will have to opine that Jain law is superior to and more magnanimous than Hindu Law in many respects. Will it not be, under these circumstances, unjust, unfair, inequitable and illogical to make the Hindu law, which has its own number of difficulties and deficiencies as has been pointed out by eminent Judges in several cases, applicable to the Jains who are not only dissenters from the Hindus, but whose religion is quite

distinct ftom Hinduism. For want of due recognision of Jain Law there has been transgression of Jain religion and culture.

Jain Shrāwakas (Laity i e. गृहस्थ,) also had to observe five Anuvratas and the Jain Munis five Mahāvratas. They are Ahimsa (अहिंसा,) Truth (सत्य). Non stealing (अचौर्य) (ब्रम्हचर्य) celebacy or स्वदारसंतोष and the last परिग्रहप्रमाण to control our greed. Out of the five व्रताज I shall say a word about परिग्रहप्रमाण (to observe a limit to movable property) (Note :— Sri O R. Krishnacharya in 'the cradle of Indian History' remarks :-In the Jain Agamas there is embodied besides Darshan, Puran relating to these. From this tradition we understand that the Lord Rishabha alias Ādi Tīrthankara, Revealer of the Jain illumination is venerated in the Vaishnava Āgama

The trinity of Nābhirāja, Lord Rishabha and Bharat Chakravartī fraternal status with Uttān-Pādarāya (उत्तानपादराय) the father of the exemplar of Vaishnava devotion Dhruva This proves the historical personage and his antiquity prior to Vedic period.

Jain Shrāwak (गृहस्थ) has to put some limitation as regards the ownership and possession of immoveable and moveable property and other things Thus unreasonable and vast accumulation of property is not allowed and it is totally against the spirit of Jainism.

Jains recognise the principle of promogeniture and also of Gains of Science i. e. learning . If a Jain eats flesh or fish he is deprived of his share of inheritance. Under the present system Jains have in a course of law first to prove custom and then and then only they have got decrees by proving that usage at the heavy expenditure, time and trouble. Monogamy is acceepted with certain exceptions The present lamented position of Hindu law being made applicable to Jain has arisen owing to shcer ignorance of the Jain law given or rather kept hidden in the Jain Texts. but now Jain law scriptures are available both in Hindi and English and the necessity of codifying Jain law is obvious and just. Besides it is gratifying to note that the Jain Succession Act III of 1927 has been made applicable to the Jains in the Madras Presidency.

It is therefore strongly and rightly claimed that somebody or some Jain M. L. A. should bring a resolution for the adoption of Jain Code and get the same passed in the Legislative Assembly. I ahall be glad to undertake the work of codifying the Jain Law based on Jain scriptures and modern customs in codial harmony with the essential theological and moral teaching of Jainism and submit the same for necessary action to any scholar interested in the advancement of Jainology i e. equality

To summarise, I shall show some points of basic dtfference :—Adoption succession.

(1) A person having no issue (अपुत्री) is not called sinful.

(2) Law of Partition is discussed in Bhadrabahu-Samhita 10-11.

(3) Sister's daughter is given a share in the strīdhan property.

(4) Absolute right of Jain widow over her husband's property is recognised.

(5) Jain Muni cannot hold any property.

(6) Adoption. It has no religious significance. It is merely secular.

(7) No theory of पिंडदान, तर्पण or श्राद्ध for the soul of father and his सद्गति in the next and this world. Salvation does not at all depend upon anybody, except himself.

(8) No different schools of succession among Jains as we find in Hindu Law.

(9) Half-blood and full-blood distinction not accepted among Jains.

(10) Monogamy accepted with certain exceptions.

To conclude with, I may be allowed to refer to a recent ruling of the Bombay High Court (50 Bom. L. R. 127) (1948) which is a glaring instance of injustice and defect in the so-called present Hindu Law.

Even Justice Dikshit remarked :— If some of the principles of Hindu Law are not in accord with changing ideas of society, it is for the Legislature to intervene. In this case a gift of a small portion of joint property to Shri Jinasenswami Bhattarak i. e. Jain Jagad guru of Kolhapur for building hostels for Jain-students studying at Dharwar was held invalid as it does not come within the expression 'for pious purposes' of Hindu Law i. e. as defined in Brahmanical Smritis ond Srutis. If Jain Law was prevalent, the case would have decided otherwise. The said gift would have been held *Valid*. This decision is an additional ground for the Jains to claim for codifying Jain Law.

'वीर–वन्दना।'

(श्री० वीरेन्द्रकुमार, एम. ए.)

लेकर अनङ्ग-मोहन यौवन, अधरो पर वङ्किम धनु ताने,
मनसिजकी पुष्प-धनुष-डोरी, तुम तोड चले ओ मस्ताने!
नन्दन-काननमें अप्सरियाँ, वनकमल बिछी तेरे पथमें;
पद रजका उनको दे पराग, तू लौट चला पावक-रथमे!
वह तीस वर्षका अरुण-तरुण, रतिकी शय्याभी थी प्यासी,
त्रैलोक्य काम-रमणीके परिणयको निकले तुम सन्यासी!!

बाला-यौवन भोली सूरत, भौहोमे शत्-सन्धान लिए;
चितवनमें देश काल पर शासन करनेका अभिमान लिए!
अधरो पर वीतराग ममताकी अनासक्त मुस्कान लिए;
उन अवहेलितसी अलकोंमें शाश्वत यौवनका मान लिए!
चिर मोह–रात्रि भवकी अभेद्य, भेदन करने चल पडे वीर!,
भीषण जड चेतन युद्धोमें, तुम जूझ चले जेता सुधीर!!

हिंसक पशु-सङ्कुल बीहड वन, दुर्गम गँभीर गिरि-पाटीमे,
तुम निर्भय विचरे हिंसा, भय, साक्षात् मृत्युकी घाटीमे!
निर्वसन दिगम्बर, प्रकृति-नग्न, तुम बिकृति विजेता क्षात्र जात;
पृथ्वी ससागरा लिपटी थी, तव चरणो पर होने सनाथ!
झाडी झंखाड वनस्पतियाँ, वल्लरियाँ भरती परिरम्भण;
विषधर विभोर हो लिपट रहे, नङ्गी जङ्घो पर दे चुम्बन!!

नाना विधि जीव-जन्तु कीडे, चीटी, दीमक, सब निर्भय तम,
पृथ्वी, जल, अम्बर, तेज, वायु, सब त्रस थावर जडऔ' जङ्गम!
तेरी समाधिकी समताके उस वीतराग आलिङ्गिनमें,
सब मिलकर एकाकार हुए, निर्बन्धन तेरे बन्धनमें!
कैवल्य-ज्योति आदित्य-पुरुप, ओ तपो हिमाचल शुभ्र धवल;
तेरो चरणोसे वह निकली वह समताकी गङ्गा ऋजु निश्छल!!

इस निखिल सृष्टिके अणु-अणुके सङ्घर्ष, विषमता औ' विरोध;
कल्याण-सरितमे डूब चले, होगया, वैर आमूल शोध!
तेरे पद नखके निर्झर तट, सब सिंह मैमने, मृगशावक;
पीते थे पानी एक साथ, तेरी छायामें ओ रक्षक!
जिन-चक्रवर्ति, सातों-तत्वों पर हुआ तुम्हारा नव-शासन,
तीनों कालों, तीनो लोको पर विछा तुम्हारा सिंहासन!!

प्राचीन हिंदी गद्यका अभाव : उसके कारण।

(श्री. प्रेमनारायणजी टंडन, एम. ए. साहित्यरत्न, लखनऊ)

हिंदीमें साहित्य-रचना ईसाकी आठवी शताब्दीमे होने लगी थी। परंतु उस कालके पद्य-कृतियोंकी ही प्रधानता रही, क्योकि इस प्रकारकी रचनाओंके प्रकारका उद्गम संस्कृत और प्राकृत का उन्नत साहित्य था।[१] वस्तुत: गद्य और पद्यकी प्रारंभिक भाषामें अंतर रहता है। गद्यकी भाषा बोलचालकी होती है, परतु पद्यकी कुछ न कुछ साहित्यिक रूप लिए हुए। अतः गद्यकी भाषा पद्यकी अपेक्षा जनसाधारण की भाषाके अधिक निकट रहती है। यह इसलिए कि कवियोंको परंपरागत साहित्यकी शिक्षा मिलती है और स्वयं रचना करते समयभी वे अपनी भाषाको संस्कृत और परिमार्जित करनेको प्रयत्नमे लग जाते हे।

अतएव जिस प्रकार सस्कृत-गद्यकी उत्पत्तिका काल निश्चित नहीं है;[२] उसी प्रकार हिंदी गद्यमें रचना किस समयसे आरंभ हुई, यह कहना हमारे आलोचकोंके लिए कठिन रहा है।[३] हमारे साहित्यके आरभिक इतिहासकार[४] चोदहवी शताब्दीसे कुछ पूर्व गद्यका अविर्भाव मानते थे, यद्यपि उन्नीसवी शताब्दीमें ही गद्यके दर्शन पहली बार करनेवालोंकी अब भी कमी नही है।[५] वर्तमान इतिहास लेखकोमें जो चौदहवीं शताब्दीसे नीचे उतरे हे, उन्होंने[६] बारहवी शतीमें प्राप्त पट्टे—परवानों को, जिनकी प्रामाणिकता सदिग्ध है, प्राचीन हिंदी गद्यके प्राप्त नमूने मान लिया है। इसके पूर्वकी गद्य रचनाओंका पता अभी तक हिंदी ससारको नहीं लगा है।[७] इससे यह निष्कर्ष निकालना कि विक्रमकी बारहवी शताब्दीके पहले गद्यमें ग्रन्थ लिखे ही नहीं गये, उचित

---

१. 'हिंदी पर प्राकृत भाषाओका प्रभाव' शीर्षक लेख (ना. प्र. पत्रिकामें प्रकाशित; लेखक—जगन्मोहन वर्मा)।

२. पृष्ठ–२०१, 'संस्कृत साहित्यकी रूपरेखा'—चंद्रशेखर पांडेय और शांतिकुमार नानूराय व्यास – १९४५।

३. पृष्ठ–१९९, 'हिंदी भाषा और साहित्य'—श्यामसुंदरदास।

४. पृष्ठ–X 'प्रिफेस'—'Our prose can be traced back to the 14th century and even earlier,'—'मिश्रबंधु विनोद,' प्रथम भाग (प्रथम संस्करण)।

५. पृष्ठ–८८, 'फुटनोट'—'Vernacular prose appears first in the nineteenth century'—'Classical Sansksit Literature'—A. Berriedale Keith, 1923.

६. पृष्ठ–६२८, 'हिंदी भाषा और उसके साहित्यका विकास'—अयोध्यासिंह उपाध्याय।

७. गोरखनाथके गद्यकी चर्चा हमे यहाँ नहीं करनी है—लेखक।

नहीं जान पडता और न यह कहना[८] ही ठीक है कि देश की अस्थिर और अशांत तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितिके कारण संभवतः साहित्यिक ग्रन्थोंका निर्माण हुआ ही न होगा।

किसी देश अथवा कालमें सब प्रकारके भावोंको व्यक्त करनेकी शक्ति रखनेवाली एक साहित्यिक भाषाके वर्तमान रहने पर, जनताकी बोलचालकी भाषाका स्वतः विकास होना ही यह सिद्ध करता है कि समयको उसकी आवश्यकता थी। दूसरी बात यह कि तत्कालीन अशांत वातावरण कुछ स्थानोंमें और कुछ समय तक किसी प्रकारकी साहित्यिक अथवा सांस्कृतिक उन्नतिके सामूहिक प्रयत्नके अनुकूल भले ही न रहा हो, परंतु साहित्य, विद्या अथवा कलाके प्रति व्यक्तिगत रुचि पर उसका बहुत ही कम प्रभाव पडता है। तीसरे काव्य रचनाके लिए अपनाई जाने पर जो भाषा भावादिव्यंजनकी शक्ति प्राप्त कर लेती है, उसमें गद्य लिखनेमें विशेष कठिनाई नहीं होती। संस्कृत ग्रंथोंका, जिनमें ऐमांसका अभाव है, अनुवाद करनेके लिए प्राचीन गद्यकी उपयुक्तताका समर्थन भी इसी आधार पर किया गया है।[९] अतएव हमारी धारणा है कि चौदहवीं शताब्दीके पूर्व[१०] हिंदी गद्य लिखा कम नहीं गया, आज हमें प्राप्त नहीं है। या तो वह अनेक कारणोंसे नष्ट हो गया, या आज भी अंधकारमें है; प्रकाशमें नहीं आ सका।

इस संबंधमें एक निवेदन और है। सन ६५० से १२५० के आसपास तकके काव्यविकास का ही जब पूर्ण परिचय नहीं मिलता तब गद्यकी प्रगति का विवरण प्राप्त न होनेपर निराश होनेकी बात नहीं है। इस कालके जिन कवियोंके परिचय प्राप्त हुए हैं वे राजपुताना, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रांत, उडीसा, बिहार, और आसाम आदि प्रांतोंके हैं।[११] इससे स्पष्ट है कि इतने समयमें हिंदीका प्रचार इन सभी प्रांतोंमें हो गया था और उज्जैन, श्रावस्ती तथा नालदा आदि स्थानोंमें विद्या और धर्मके केंद्र थे। शिक्षा और धर्म-प्रचारके लिए गद्यकी आवश्यकता होती ही है। अतएव इन स्थानोंमे गद्य-रचना होनाभी संभव है, यद्यपि गद्य-ग्रंथोंकी संख्या पद्यसे कम ही रही होगी।

एक बात और। संस्कृतकी प्रारंभिक गद्य-रचनाओंके उपलब्ध न होनेका एक कारण उसके एक साहित्यिक इतिहासकारने[१२] यह बताया है कि दंडी, सुबंधु और बाणके अत्यंत उन्नत गद्यके

---

८. पृष्ठ–२७१, 'हिंदी भाषा और साहित्य'—श्यामसुन्दरदास।

९. पृष्ठ–८४३,....yet on account of the high development which our (Bengali) language had already attained through its vast poetical literature, there would be no difficulty experienced by an author in attempting translation into Bengali prose the most abstruse and metaphysical of Sanskrit works — 'हिस्ट्री आव बंगाली लैंग्वेज ऐंड लिटरेचर'–दिनेशचंद्र सेन, १९११.

१०. पृष्ठ–१०; Nothing illustrates more clearly the defects in our tradition than the absence of any early specimen of the prose romance.— 'Classical Sanskrit Literature'—A Berriedale Keith, 1923.

११. पृष्ठ–१२२, 'मिश्रबंधु-विनोद', प्रथम भाग।

१२. पृष्ठ–२०८, 'संस्कृत साहित्यकी रूपरेखा'–चंद्रशेखर पांडेय और शांतिकुमार नानूराय व्यास, १९४५.

प्रभावने अपने पूर्ववर्ती लेखकोको भलीभाँति आच्छादित कर दिया। इस कथनके सत्यासत्यकी विवेचनाके लिएही यह स्थान उपयुक्त नही है, परतु इतना निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि प्राचीन हिंदी हिंदीके संबंधमें, परिवर्तित परिस्थितिके कारण, यह कथन विशेष महत्व का नहीं है। अस्तु। हिंदी गद्यके अभावके निम्न लिखित कारण बताए गए हैं —

(क) हिंदू राजत्वकालमें पाली और प्राकृतका विकास होने पर भी संस्कृतका पर्याप्त प्रचार और मान था, जिससे नवविकसित हिंदीके साहित्यिकारों की साहित्य-रचनाके लिए ससम्मान यथोचित सुविधाएँ प्राप्त न हो सकी।[१३] यही नहीं, इसी कारण तत्कालीन हिंदी गद्यके उपेक्षित ग्रथोका अभी तक पता नही लग सका है।[१४]

(ख) हिंदीके प्रादुर्भावके समय हिंदुओके जीवनका क्षेत्र संकुचित हो गया था। वे उन दशाओकी ओर ध्यान ही न दे सके थे जो गद्यके स्वतत्र विकासमें सहायक होती हैं।[१५]

(ग) साहित्यके प्रचार-सबंधी साधन उस समय सुलभ न थे। राजा महाराजाओंके आश्रयसे हिंदी पहले ही वचित थी; प्रचार साधनोके अभावने जनताका भी पूर्ण सहयोग उसे न प्राप्त होने दिया। यहाँ तक कि गद्यमें लिखी कथा-कहानियाँ भी अधिक प्रचलित न हो सकी। निसदेह प्रचार साधनकी सुलभता गद्यके विकासमें बडी सहायक होती है।[१६]

(घ) हिंदी भाषा भाषी प्रदेशीय शासकोंने उसके पठन-पाठनके लिए ऐसे विद्यालय नहीं स्थापित किये जिनमें साहित्यिक आलोचना-प्रत्यालोचना द्वारा गद्यकी उन्नतिके लिए प्रयत्न किया जाता।[१७]

(ङ) उक्त सभी कारण एक प्रकारसे गौण थे; कारण, उनका प्रभाव गद्य और पद्य दोनों प्रकार की रचनाओं पर पडना चाहिए था और पडा भी। अतः गद्यके अभावका प्रधान कारण साहित्यकारों की वह संकुचित मनोवृत्ति थी जो केवल पद्य रचनाके लिए ही उन्हें प्रेरित करती थी और इतनेसेही पूर्ण संतुष्ट भी हो जाने देती थी।[१८] इसी संकुचित दृष्टिकोणने ही स्वातःसुखाय साहित्य रचनामें प्रवृत्त होनेवाले व्यक्तियोंको भी गद्यका उपेक्षक बना दिया और उसी मनोवृत्तिने अधिकांश शासकोंमें भी गद्यके प्रति विशेष आकर्षण न रहने दिया।

---

१३. पृष्ठ–६२६, 'हिंदी भाषा और साहित्यका विकास'—अयोध्यासिंह उपाध्याय।

१४. पृष्ठ–१५१, ना. प्र. पत्रिका, भाग ५, में प्रकाशित राधाकृष्णदासका लेख।

१५. पृष्ठ–६२६, 'हिंदी भाषा और साहित्यका विकास'—अयोध्यासिंह उपाध्याय।

१६. पृष्ठ–८३१, 'History of Bengali Language and Literature में Dinesh Chand Sen ने बँगला गद्यकी वर्तमान उन्नतिके अनेक कारणोंमेंसे एक प्रचार साधनकी सुलभताकोभी माना है।

१७. पृष्ठ–६२१, 'हिंदी भाषा और साहित्यका विकास'—अयोध्यासिंह उपाध्याय।

१८. पृष्ठ–४, 'The Tenth Report on the Search of Hindi MSS. for the year 1917-18-19 के. संपादक रायबहादुर हीरालालने लिखा है—In older days a writer was nothing if he could not write in verse.

उक्त कारणोसे चौदहवीं शताब्दीके पूर्व हिंदीमे गद्यके कम ग्रथ लिखे गए। जिन गद्य-ग्रथोकी रचना हुई भी, वे आज प्राप्त नहीं है और न उनके रचयिताओंके सबधमे ही हमारी जानकारी संतोषजनक है। वास्तवमें हमारे यहाँका आचार-विचार कुछ ऐसा रहा है कि कवियो और लेखकोंने अपने सबधमें कुछ कहना, अपना विज्ञापन करना, कभी अच्छा नहीं समझा; वे अपने सबधमे प्रायः मौनही रहे। अपने सबधमें उनकी यह नम्रता अथवा लौकिक प्रसिद्धिके प्रति उनकी यह उदासीनता-इसके ये दो प्रधान कारण थे। फल यह हुआ कि अँग्रेजी साहित्यके इतिहासकारोको ही अपने प्रथम कवि चासर (मृत्यु सन १४००) के जीवन वृत्तको लेकर यह कहते गर्व होता है कि उनके सबधमें हमारी जानकारी शेक्सपिअरसे भी अधिक है [१९] और हमें अपने सौ—सवासौ वर्ष पहलेके लेखकों और कवियोंका वृत्त भी ज्ञात नहीं है।

अँग्रेजी गद्य धर्मप्रचारकों का सहारा पाकर बढा और मठों-गिरिजाओंमें सुरक्षित भी रहा। यहाँ तक कि दसवी शताब्दीके प्राप्त धार्मिक ग्रथ-उपदेशोमे प्राचीन बँगला गद्यकी तरह[२०] पद्यके अनुरूप सगीतमय गति मिलती है।[२१] हिंदी गद्यको भी साहित्यके प्रथम विकास-कालमें धर्मप्रचारकोका आश्रय मिला। धार्मिक उपदेशों और शास्त्रार्थोंके लिए विभिन्न साप्रादायिक सस्थापको और प्रचारकोमें से कुछने उसे अपनाया। निसदेह उनकी अनेक रचनाएँ गद्यमें होंगी। परतु वे बहुत काल तक दो कारणोसे सुरक्षित न रह सकीं। एक तो यह कि उनका पारस्परिक विरोध और संघर्ष बहुत बढा-चढा था जो विपक्षीको नीचा दिखानेके लिए उसका अधिकाधिक अहित करनेको उन्हें प्रेरित करता रहता था। दूसरे विधर्मी आक्रमण कारियोंकी क्रूर दृष्टि कई शताब्दियों तक प्रमुख भारतीय धर्म-स्थानों पर ही जमी रही जिन्हें विनष्ट करके ही वे शांतिकी साँस लेते थे।

गद्यके प्राचीन ग्रंथोंके उपलब्ध न होनेका तीसरा कारण यह है कि सन १००० से १५०० तक, लगभग ५०० वर्षोंमें विदेशीयोने भारत पर आक्रमण करके सहस्रोंकी सख्यामे हस्तलिखित ग्रन्थ नष्ट कर दिए। मठ, मदिर, विहार आदि उपासनागृह और राजकीय पुस्तकालय, दो ही प्रमुख स्थानोमे उस समय महत्वपूर्ण ग्रथ सगृहीत रहते थे और मुसलमान आक्रमणकारियोने दोनोंको ही खूब लूटा और फूँक दिया। इसके प्रमाणमें उदयपूर राजद्वारा सस्थापित और सरक्षित सरस्वती भाडार-पुस्तकालयकी ग्रंथ-सूचीके सपादकका कथन दिया जा सकता है।[२२] भारतके इस प्राचीन

---

१९. पृष्ट–१८, 'History of English Literature'—Andrew Lang–1913.

२०. पृष्ट–८३३, '......like short riddles and sound more like poetry than prose'—'History of Bengali Language and Literature'— Dinesh Chand Sen.

२१. पृष्ट–३३, 'History of English Literature'—Andrew Lang–1913

२२. पृ. ५ 'प्राक्कथन' 'Most of the original contents of the Saraswati Bhandāra Library in Udaipur (one of the oldest library, perhaps the oldest in India) were lost during the ravages carried on by Muslim Kings in this part of country.'—'Catalogue of the MSS in the Library of H. H. the Mahārāṇā of Udaipur'—by M. L. Menaria—1943.

पुस्तकालयमें एकत्र बहुत कुछ साहित्यिक निधि विदेशियोंने नष्ट कर दी। जब वीर राजपूतोंके देशमें स्थित उक्त पुस्तकालयकी यह दशा हुई तब उत्तरभारतके उन स्थानोंकी साहित्यिक सस्थाओंको पहुँचाई जानेवाली क्षतिका अनुमान सहजही किया जा सकता है जो आक्रमणकरियोंके मार्गमें पडते थे अथवा जहाँ बसकर उन्होंने हिंदुओंको हर तरहसे दबाया था। इन आक्रमणोंके फलस्वरूप संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश और हिंदी की असीम ग्रंथ राशि नष्ट हो गई। इस मानवीय आपत्तिसे ऐसे ही ग्रंथ बच सके जो उन निजी, धर्मस्थानिय, सार्वजनिक अथवा राजकीय पुस्तकालयोमे सुरक्षित थे जहाँ तक आक्रमणकारियोंकी पहुँच आसानीसे नही हो सकी।

बचे-बचाए गद्य (और पद्य) ग्रंथों की खोज का कार्य और प्राकृत ग्रथोंका उपयोग बहुत समयसे हो रहा है; परतु इससे हिंदीके इतिहासकार सतुष्ट नही हैं। क्योंकि न अभी तक उसके आधार पर हिंदीके उत्पत्तिकाल पता लग सका है और न उसके प्रारंभिक रूपका ही निश्चय हो सका है। इस प्रसगमें अनुसंधान-कार्य-क्षेत्रके संबधमें एक निवेदन करना है। राजपूतानेको छोडकर उत्तरी भारतका समस्त प्रदेश दसवींसे पदरहवी शताब्दी तक, जैसा ऊपर कहाजा चुका है, युद्ध-क्षेत्र बना रहा जहाँ एकके बाद दूसरे नये आक्रमणकारोंने देशकी शांति भंगकी, जनताको तलवारके घार उतारा, साहित्य और शिक्षा-केंद्रोंको नष्ट-भ्रष्ट किया और धर्मस्थानोंको खँडहर बना दिया। अतएव मथुरा, वृंदावन, इलाहाबाद, बनारस जैसे हिंदू सस्कृतिके गढोंको छोडकर सभी स्थानोकी साहित्यिक निधि बहुत कुछ नष्ट हो गई। इस आपत्तिसे बची बचाइ सामग्रीका रक्षण करनेके लिए भक्तों आचार्यों और कवियोंने राजस्थानके इन हिंदू राजाओंका शरण ली जो मुगलकालमे ही नही, अँग्रेजी साम्राज्य स्थापित हो जानेके अंतरभी अपनी सांस्कृतिक और साहित्यिक स्वतंत्रताकी रक्षा करनेमें बहुत-कुछ समर्थ हो सके।

परतु हिंदीके हस्तलिखित ग्रन्थोंका खोजकार्य इन सुरक्षित स्थानोंमें कम, उत्तरी भारत—विशेष कर युक्त प्रात—के उस प्रदेशमें अधिक हुआ जो हिंदी-साहित्यका जन्म होनेके लगभग २०० वर्ष तक अरक्षित, अशात और युद्धक्षेत्र रहा। यही कारण है कि जो कुछ सामग्री प्राप्त हुई है वह प्रायः सोलहवी शताब्दीके बादकी है। इनके पूर्वकी चार-पाँच शताब्दियोंमे रचे गए ग्रन्थोंके लिए राजस्थानके व्यक्तिगत, सार्वजनिक और राजकीय, छोटे-बडे सभी पुस्तकालयोंकी खोज होनी चाहिए। डॉक्टर श्यामसुदरदासकाभी, जो खोजकार्यके प्रथम नौ वर्षो तक निरीक्षक रहे थे, यही मत[२४] है कि यदि राजपूतानेमें प्राचीन हिंदी पुस्तकोंकी खोजका काम व्यवस्थित रूपसे किया जाय तो, सभव है, बहुत-कुछ उपयोगी सामग्री प्राप्त हो। अब तक रजवाडोके हिंदू शासकोंकी रुचि अपने यहाँ सुरक्षित प्राचीन साहित्यिक निधिके उद्धारकी ओर नही रही; परंतु स्वतंत्र भारतमें तो अपनी सनातन सांस्कृतिक उन्नतिकी पुनरावृत्तिके लिए वे प्रयत्नशील होंगे, ऐसी आशा की जा सकती है।

---

२३. पृष्ट—२७८, 'हिंदी भाषा और साहित्य'—श्यामसुन्दरदास।
२४. पृष्ट—२७१, 'हिंदी भाषा और साहित्य'—श्यामसुन्दरदास।

भगवान् महावीर ।

(रचयिता 'शायर-इ-कायनात' श्री पं० रामकृष्ण मुज्तर, ककोडवी)

[मुज्तर सा० का उर्दूके उदीयमान कवियोंमें उच्च स्थान है। यह नज़्म आपने विशेष रूपसे हमारे आग्रह पर रची है। पाठक देखें कि किस खूबीसे उन्होंने भ० महावीरकी शिक्षाओंको लोकके लिये कल्याणकारी बताया है। —सं०]

१

क्या तुम्हें राज[1] यह मालूम है दुनियावालो ?
किसने इन्सानको मुक्तिकी दिखाई राहें ?
और दुनियाके अंधेरेमें किया किसने प्रकाश ?
किससे पुरनूर[2] हुई दहरकी ज़ुल्मतगाहें[3] ?

२

किसने हस्तीको दिया पहिले अहिंसाका सबक ?
किसकी शिक्षासे हुये ब्रह्मके दिलको दर्शन ?
किसने समझाये हरएक जीवको जीवनसिद्धान्त ?
किसने कुर्बान[4] सचाई पै किया तन मन धन ?

३

आत्मा कहती है, " भगवान महावीर थे वह ! "
जिनकी तालीमसे[5] अज्ञान मिटा, ज्ञान हुआ !
जिनकी दृष्टिको नजर आई बकाकी मंजिल,[6]
जिनकी शक्तिसे कठिन मार्गभी आसान हुआ ! !

४

वीरने प्रेम-ओ-अहिंसाको बताया है सवाब,[7]
वीरने नफरत[8]-ओ-हिंसाको बताया है गुनाह.[9]
वीरने भेद हकीकतके[10] बताये सबको,
वीरने सबसे कहा, ' पाक करो कल्बो निगाह.'[11]

५

जबही हो सकती हैं दुनियाकी तरक्की[12] ' मुज्तर ' !
देश हर एक बढे आगे लिये सत्यका भेष !
प्राप्त होता है अहिंसाहीसे सच्चा आनन्द,
सारे संसारको है वीरका यही उपदेश ! !

---

१. रहस्य. २. प्रकाशमान. ३. जमानेका अंधकारमय वातावरण. ४. न्यौछावर या बलिदान.
५. शिक्षा. ६. निर्वाण भूमि. ७. पुन्य. ८. घृणा या द्वेष. ९. पाप.
१०. परमात्माका रहस्य. ११. हृदय और दृष्टि. १२. उन्नति.

अहिंसा और विश्वशान्ति।
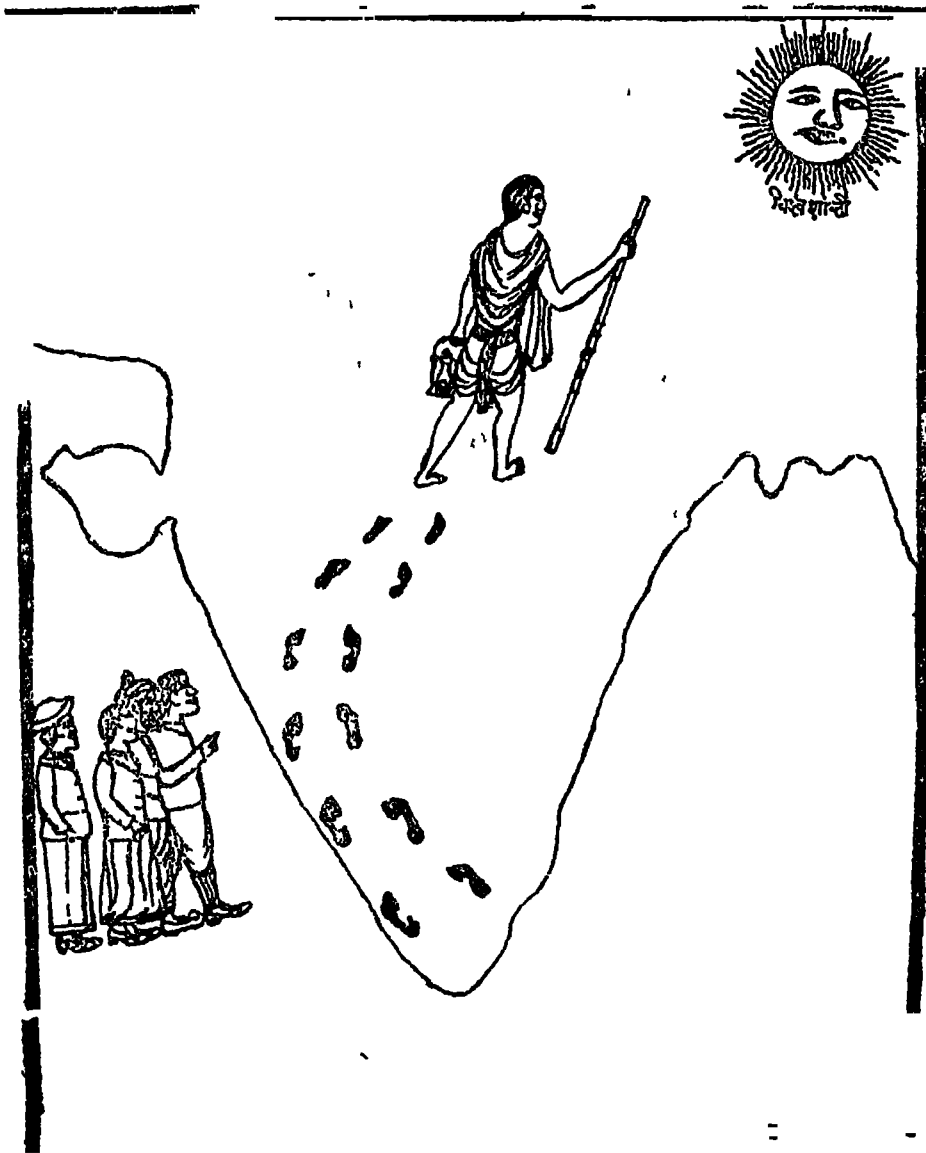
"सत्यका प्रकाश और अहिंसाका संरक्षण विश्वशान्तिका पुण्य-पथ है।"

AHIMSA AND WORLD-PEACE.

सुख-शान्ति-चाहता-है-मानव !

'पीडाकी गोदीमें सोया,
खेला दिलके अरमानोसे ।
विहँसा तो हा-हाकारोमें,
रूठा तो अपने प्राणोसे ॥
आध्यात्मिक पथ पर बढनेको,
अब क्रान्ति चाहता है मानव !
सुखशान्ति चाहता है मानव ! !

—भगवत् ।

अहिंसा और विश्वशान्ति पर माननीय गवरनर महोदय सी. पी. के विचार।

गवर्मेंट हाउस
नागपूर
ता. ९-७-४८

महात्मा गांधी जो आधुनिक युग के अहिंसाके सबसे बडे दूत थे सदा कहते थे कि अहिंसा धर्मका प्रचार सत्य धर्मके प्रचारके साथही साथ होना चाहिये। उनका विश्वास था और उनकी शिक्षाभी यही थी कि सत्य और अहिसा दोनो अभिन्न है। एकके सिवा दूसरेका विशेष उपयोग नही है। अहिंसा धर्मका प्रचार इस समय सारी दुनियाके लिये और विशेष कर हिंदुस्थानके लिये बडे महत्व का है। सपूर्ण मानव समाज और खासकर दुनियाके अत्यत बलवान राष्ट्र जैसे अमेरिका और रूस यदि इस तत्वको ग्रहण नही करते और इसे उपयोगमें नही लाते तो कई लोगोको यह साफ साफ दिखाई दे रहा है कि मानव समाजका नाश होनेमें देर नहीं है। ईश्वरने मनुष्यको बुद्धि और दूर दृष्टी दी है और यदि मनुष्य इन गुणोका योग्य समयपर उपयोग करे तो प्रचड नाश टल सक्ता है। प्रश्न यही है कि क्या मनुष्य खुद होकर अपनी अकल काममें लावेगा और अपना कदम पीछे ले लेगा या अपने इसी रास्तेसे चलकर अपना नाश कर लेगा। यदि सत्य और अहिंसाको कार्यशाली करना है तो लोगोंको अपना चारित्र्य बलवान बनाना चाहिये। युद्धमे जान मालका नुकसान बहुत भारी होता है परतु चारित्र्यका और भी अधिक। जान मालका नुकसान पूरा किया जा सकता है लेकिन बिगडे हुए चारित्र्य को फिर बनाना मुष्किल यै। इसलिये यदि आज दुनियाके राष्ट्र, खासकर वे राष्ट्र जो संहारके शस्त्रोंसे सुसज्य है, सत्य और अहिंसाको अपना ध्येय मानते है और उसकी पूर्तिके लिये पूरी पूरी कोशीश करते है तो मानव जाति निश्चय सुखी होगी, अन्यथा नाश अनिवार्य है।

—मंगळदास पकवासा।

ओ वर्द्धमान !

(श्री० सुरेन्द्रसागरजी जैन, 'प्रचंडिया' साहित्यभूषण, कुरावली)

मानवताके ओ अलंकार ! वसुधाके चिर अक्षय विराम !
ओ वर्द्धमान ! पतितोद्धारक, ज्योतिर्मय, विभु ! शतशत प्रणाम ! !

प्रकटे तुम भू पर लेकरके दानवताका संहार सुखद,
फिरसे इस जगतीमें लाए मानवताका श्रृंगार सुखद,
अकरुण, निर्दय जगमें लाए करुणाका पारावार अगम,
आवर्तित करने इस जगको लाए नवीन संसार सुगम,
तुम महामनस्वी युग नेता, युग निर्माता अतिशय ललाम !
ओ वर्द्धमान ! पतितोद्धारक, ज्योतिर्मय, विभु ! शतशत प्रणाम ! !

जर्जरित अकिंचन मानवको, एकाकी तुम कल्याण बने,
अत्याचारोंसे दली-भरी निष्प्राण धराको प्राण बने,
लेरही सभ्यता श्वासें जो अन्तिम, उसको पविमान बने,
युगयुगकी शापित जगतीको चमकीले तुम वरदान बने,
अज्ञान-अँधेरी हुयी दूर, सविता बन चमके ज्ञान-धाम !
ओ वर्द्धमान ! पतितोद्धारक, ज्योतिर्मय, विभु शतशत प्रणाम ! !

तुमने अंगारे चूम चूम जगतीका ताप किया शीतल,
तुमने उद्‌बोधन दे देकर यह जगत जगाया प्रति पलपल,
तुमने मदिराके चषकोंमें सद्‌ज्ञान-सुधाको भरवाया,
तुमने संतोषित किया उसे जो पास तुम्हारेभी आया,
तुमसे वह वाणी सृजित हुयी, हो गया मुदित सुन ग्राम-ग्राम !
ओ वर्द्धमान, पतितोद्धारक, ज्योतिर्मय, विभु ! शतशत प्रणाम ! !

अपरिग्रह, सत्य, अहिंसासे प्यासी दुनियाँको सींच दिया,
क्रतु-मनुज-मेध, अज-बाधको तो, हिंसाको तुमने दूर किया,
फूटी नव संस्कृतिकी किसलय मसृण मृदुतादिक धर्म लिए,
आनन्दित जगतीका कण कण हो गया चिरन्तन मर्म लिए,
तुम हृदय हृदयमें बसे, बने-जगके हृदयेश्वर कोटि नाम !
ओ वर्द्धमान ! पतितोद्धारक, ज्योतिर्मय, विभु ! शतशत प्रणाम ! !

लो, आज परिस्थिति ठीक वही, संघर्ष, दैन्य, शोषण, छलबल,
सभ्यता भव्यता मिटी सकल परिव्याप्त चहूँ दिशि है हलचल,
अतएव चीखती 'वैशाली' मेरे लिच्छिवि भगवान कहाँ ?
कण कण वसुधाका बोल रहा करुणाके अहो निधान कहाँ ?
कितनीही मौन पुकारें हैं अब बुला रही प्रति दिवस-याम-
" ओ मानवताके अलंकार, वसुधाके चिर अक्षय विराम ! "
" ओ वर्द्धमान ! आओ आओ, ज्योतिर्मय विभु ! शतशत प्रणाम ! "

भगवानके अहिंसा धर्ममें अशान्ति मेंटनेकी शक्ति।*

(ले० श्रीमान् स्व० चम्पतरायजी जैन, विद्यावारिधि, बैरिस्टर-एट-लॉ)

गत महासमरके समय दुनिया महासंकटमें थी, यह हम लोग भूल नहीं सकते। कहते थे कि वह समर शान्तिकी स्थापनाके लिये लडा गया है। किन्तु उस भयानक युद्धको समाप्त हुये इतना समय हो गया, पर शान्ति कहीं भी नहीं दिखती! प्रत्युत आजका वातावरणभी शान्तिके उतनाही विरुद्ध है जितनाकि महासमरके समयमें था। विश्व पुराने मन्तव्यों पर डटा हुआ है—वही पशु-बलकी वृद्धि करने और सबकुछ खुद हडप जानेकी धुन सवार है। वही राष्ट्रीय प्रतियोगिताका संघर्ष परस्पर चल रहा है, जिसके कारण दुनियां छोटे छोटे समर शिबिरोंमें पलट गई है। इससे मौका लगते ही सारे संसारमें आग लग सक्ती है! अब भी बलवान राष्ट्र कमजोर राष्ट्रोंके साथ पहलेही जैसा बर्ताव करते हैं। बडे २ राष्ट्रोंके नेताओंके दृष्टिकोणमें कोई परिवर्तन नही हुवा है—सैनिक शक्तिको बढाने और जनसहारक शस्त्रास्त्रोंको संग्रह करनेमें कोई कमी नहीं हुई है। साराशतः यदि यह मानाभी जावे कि गतयुद्ध शान्तिस्थापनाके लिए लडे गये थे तो कहना होगा कि वे असफल रहे! आज हमारे राजनैतिक जीवनमें अविश्वास मुख्य स्थान लिये हुवे है, जिसका बुरा परिणाम युद्ध हो सकता है! राजनैतिक वायदे पश्चिमके राष्ट्रोंमें सच्चाई और ईमानदारीसे नहीं किये जाते, बल्कि राष्ट्रोंके निजी सुभीते और लाभ ही उनमें मुख्य कारण होते है। सचमुच ये राजनैतिक नेता इन चालबाजियोंसे सदा विज्ञ रहते है और जानते है कि जिन सन्धियोंको वे अपने हस्ताक्षरोंसे सुशोभित करते हैं वह केवल रद्दीके टुकडोंसे बढकर कुछ नही हैं। इस दशामें क्या यह संभव है कि स्थायी शान्तिका साम्राज्य 'लीग ऑव नेशन्स' (अब यू० एन० ओ०) अथवा 'फेलोशिप ऑफ् रिकन्सोलेशन' नामक सभाओंद्वारा स्थापित किया जा सकेगा? मै कहूंगा, कदापि नही।

मैं परिणामवादी (Pessimist) किसी हालतमें नहीं बनना चाहता; किन्तु इस बात की ओरसे आँखें मीचेभी कोई नहीं रह सकता कि हमारे राजनैतिक उद्देश्य व सिद्धान्त शान्तिविज्ञानके सर्वथा विरुद्ध हैं। अतः उनसे कांटोके बिछौने और आंसुओंकी नदियां हमेशा बहेंगी। पहले मानवोंके हृदयोंको बदलना जरूरी है। यह हृदय परिवर्तन सामूहिक रूपमें होना चाहिये। कुछ इनेगिने भले आदमी अशान्ति फैलानेवाले दम्भी पुरुषोसे भरी दुनियांमें कुछ नहीं कर सकते। शान्ति-प्रिय मानव इस जीवनको आजकलके मानवोंसें नितान्त भिन्नरूपमें देखता है। आज तो प्रायः सबका यह उद्देश है कि धन कमाओ और मौज उडाओ (Acquisition and fashion) यही प्रत्येक

---

* स्व० बैरिस्टर सा०ने इस विषयका एक भाषण फ्रांसके नीस नामक नगरमें सन १९२६ में दिया था, किन्तु वह आजभी इतनाही उपयोगी है। अतः उसका हिन्दी भावानुवाद यहां दे रहे है।—का. प्र.

मानव हृदयमें घुसा हुवा है। जबकि शान्ति स्थापनाके लिये इसके विरुद्ध "जीवित रहने और दूसरोको जीवित रहने देने" (To live and to let live) की उग्र भावना जाग्रत करनेकी आवश्यकता है। दूसरे शब्दोमें जो मानव ससारमें शान्तिका साम्राज्य देखना चाहते हैं उनको सबसे पहले मानव हृदय तक अपनी पैठ कर लेना आवश्यक है और उसमें लाभाकांक्षा अथवा फैशनके स्थानपर दूर और पासके पडोसीके प्रति प्रेमभाव एव प्रत्येक जीवित प्राणिके लिये आदर और स्नेहका श्रोत बहाना आवश्यक है। क्योकि जबतक मानव प्रत्येक प्राणिके जीवनका आदर नही करेगे, तबतक यह सभव नही कि वह अपने पडोसीसे प्रेमव्यवहार कर सकें।

यदि मानव समस्त प्राणियोंको आदर-दृष्टीसे नहीं देखेगा, तो वह किसीभी प्राणी का आदर करही नहीं सकेगा। अलवत्ता जब उसका कुछ मतलब सधता होगा तो वह अवश्य दूसरेके प्रति भलमनसीका बर्ताव करेगा। जरा पशुससारको देखिये। उनमे अशान्ति उन्हीं पशुओंके कारण उत्पन्न होती है, जो अपने साथी पशुओका शिकार करते और उनको निगल जाते है। शाकभोजी पशुओमे यह अशान्ति देखनेको भी नहीं मिलती! हिरन, गाय, कबूतर, किसीको कष्ट नहीं देते—कष्ट पहुचानेवाले तो भेडिया, चीतो बाज वगैरह हे जो हमेशा मारकाट और अशान्ति बढानेमे लगे रहते हे। यह नियम सर्वथा सर्वत्र लागू है।

अब प्रश्न यह है कि मानवका हृदय-परिवर्तन कैसे किया जावे? बाइबिलकी ठीक शिक्षा है कि 'अपने पडोसी पर वैसेही प्यार कर जैसे तू अपने पर करता है।' (Love thine neighbour as thyself) किन्तु इस शिक्षाका प्रभाव लोकजीवन पर नही पडा। इसके दो कारण हैं: (१) ईसाई लोकका विश्वास है कि बाइबिल केवल मानवोके प्राणोंका आदर करनेका उपदेश देती है—उसका प्रेमसिद्धांत प्रत्येक प्राणिसे लागू नहीं। पशु तो मानव भोजनके लिए बने समझ लिए गए हैं। इसी कारण साधारण मानव जीवनकी इस पवित्रतासे वाकिफ और प्रभावित नहीं हुआ। दूसरे आजकल विचारस्वातत्र्य अपने चर्मसीमा पर पहुचा हुआ है, जिसके साथ मानवपर उन आज्ञाओं और प्रथाओका प्रभाव नही पड सकता जो तर्कसिद्ध न हों। इसीलिये कोई दूसरा गाल तमाचेके लिये पेश नही करता और न कोटके दावेके जबाबमें कोट व लवादेको बक्श देता है। बाइबिल एव अन्य धर्मोके ग्रथ अलकृत भाषामें होनेके कारण बिला समझाये ठीकसे नही समझे जाते!।

अतः जैनधर्मके अनुसार प्रेमसिद्धान्त – अहिसाका वैज्ञानिक परिचय जानना जरूरी है। उसका परिचय मानवको अपने साथियोके साथ शातिपूर्वक रहना सिखा देगा। भारतवर्षमे हम अहिसावादी लोग अज्ञातकालसे शान्तिपूर्वक रहे थे किन्तु पाश्चात्य राष्ट्र और संस्कृतिके आक्रमणके कारण हमारीभी शान्ति भङ्ग कर दी गई है। भारतीय जनताभी प्रेमसिद्धान्तकी अवज्ञा करने लगी और शक्तिहीन होगई! विरोधियोंका सामना करनेका बल और सगठन उसमे न रहा! जैनधर्म युद्धके सर्वथा विरुद्ध नहीं है। जैनमत केवल आत्मरक्षाको छोडकर शेष सब दशाओमे उसका निषेध करता है। यदि आप पर कोई आक्रमण करे तो आपको अवश्य अपनी रक्षा करनेका अधिकार है। किंतु आपको स्वय किसी शान्तिप्रिय व्यक्ति या राष्ट्रपर आक्रमण करनेकी धृष्टता नही करना चाहिये।

अहिंसा सिद्धांतके विचारमें यह ध्यान रखनेकी बात है कि प्रत्येक कार्यका प्रभाव कर्ता और जिसके प्रतिकार्य किया गया है, उसके ऊपर समान रूपमे पडता है। संभव है कि उस कार्यके प्रभावसे लक्ष्यगत दृश्य व्यक्ति तो बच जावे, परंतु कर्ता नहीं बचता! अपनी बात उसे दृष्टि कम पडती है। होता यह है कि जहां एक कार्य मन-वचन-कायसे किया कि सूक्ष्म पुद्गल (matter) आत्मामें आकर चिपट गया। यह पुद्गल आत्माके स्वभावको बिगाडता है। आत्मा एक अखंड (Simple) पदार्थ है, इसलिए अमर है। संयुक्त पदार्थ (Compounds) ही नाशवान् होते है। अलबत्ता पुद्गलके मेलसे-संलग्न हुआ आत्मा स्वतः जन्ममरणका भोक्ता बनता है। पुद्गल आत्माके ईश्वरीय गुणोंको ढक देता है। बाइबिलमें कहा है कि तुम परमात्मा हो: (I have said, 'ye are Gods') यदि आत्मा पुद्गलके दुखदाई संसर्गसे अपनेको छुडा ले तो वह परमात्म-पदको पा सकता है। किन्तु पुद्गल तो जीवात्मामें उसके प्रत्येक विचार, प्रत्येक शब्द और प्रत्येक कर्मके साथ आ रहा है, फिर वह रुके कैसे? निस्सन्देह वह एकदम नहीं रुक सकता। इसके रोकनेके लिये नियमित मार्ग निर्दिष्ट है, जिसका पर्यटक बनना होता है। पुद्गलका आना और बंधना शुभ और अशुभ रूपमें होता है। अतः पहले तो अशुभ पुद्गलका आना रोकना चाहिये। अर्थात् बुरेकर्म नहीं करना चाहिये! फिर धीरे २ पुद्गलका आना सर्वथा रुक जावेगा। इन्द्रिय-वासनाजन्य स्वार्थमई आकांक्षाये ही निःकृष्ट कर्म पुद्गल आश्रवका कारण है। अतः वह विचार, वह शब्द, वह कार्य जो स्वार्थसे दूषित नहीं है, इस निःकृष्ट आश्रवको रोकनेमें कारणभूत है। इसलिये ही अपने पडोसी पर प्यार करनेसे एक व्यक्ति इस प्रकारके निःकृष्ट आश्रवसे बच जाता है और किसीसे द्वेष करनेसे फिर वह चाहे पशुही क्यों न हो, एक व्यक्ति अपने लिए बहुत बुरी तरहसे कर्मपुद्गलको अपना लेता है। यही कारण है कि बाइबिलकी आज्ञा है कि तू मार मत! (Thou shalt not kill) इस आज्ञामें कोई ऐसा शब्द नही है जो इसे किन्हीं खास प्राणियोंके लिये सीमित करता हो। किन्तु आज तो उसे ऐसे पढते है मानो उसमें कहा गया है कि तू आदमीको मत मार (Thou shalt not kill man!) उत्कृष्ट नियम यह स्पष्ट बताता है कि हमें एक पशुको भी क्यों मारना नही चाहिये! मारनेकी क्रियासे हम अपने स्वभावको खोते और दुःखी होते है। इसलिये किसीको नहीं मारना स्वयं अपनी रक्षा करना है।

जब हम ऐसा बर्ताव करते हैं कि जिससे दया और प्रेमके भाव हमारे स्वभावमें मन्द और मुर्दा हो जाते हैं एवं द्वेषपूर्ण स्वार्थचक्रकी पुष्टि होती है तो निस्सन्देह हमारा आत्महनन होता है। मानवका भावी जीवन इसके कारण पतित और दुखमय होता है। निरापराध प्राणियोंकी हत्या करनेवालेके हृदयमें यह तीन खोटी दुर्भावनायें जाग्रत हो जाती है: (१) स्वार्थ, (२) कठोर-हृदयता, (३) अविचार (अविवेक)! वह स्वार्थी है क्योंकि वह अपने क्षणिक सुखके लियेही दूसरेके प्राण लेता है; वह कठोर हृदय है क्योंकि दयाका स्रोत उसके हृदयमे सूख गया है, जो उसे प्राणि हत्यासे अलग रखता! वह अविचारी है, क्योंकि उसे इस बातका ध्यान नही है कि उसके इस कृत्यका उसपर क्या असर पडेगा? दुष्ट प्रकृति जीवात्माओंका अगला जन्म निस्सन्देह पशुओमे होगा!

प्राणिहत्याका निषेध नये अहदनामामें भी है। वहॉ कहा है कि "जा और सीख इसका अर्थ क्या है? मुझे दया चाहिये और बलि नहीं!" जब सालमें एक या दो दफा किसी देवताके

नामपर एक प्राणीके प्राण लेना क्रूरताका कारण है और जिसके लिए दयामय आचरण करनेका उपदेश है तो फिर भला अपने स्वार्थके लिए निर्बाध हिंसा करनेमें उस क्रूरता और अदयाका अन्त कैसे होगा ?

सक्षेपमें एक कार्यका जो प्रभाव एक व्यक्तिपर पडता है, वह स्पष्ट है। अतः जैनधर्मकी यह प्रगट शिक्षा है कि वह व्यक्ति जो अपने जीवनमे दया और प्रेमके सिद्धान्त पर अमल करते हैं, वे दूसरेको प्राणरक्षाका दान देनेकाही आनन्द केवल नही उठाते, बल्कि वे सचमुच अपना भला करते हैं—लाभ उठाते हैं। इसके विपरीत जो लोभी, स्वार्थी और क्रूर हैं–द्वेषपूर्ण व्यवहार करते है और रक्तपात करके युद्ध मचानेमे खुश होते है, वे न अपनी भलाई करते हैं, और न दूसरोंके मित्र हैं। वे मानवसमाजके सबसे बडे शत्रु हैं।

इस प्रकार यह प्रेमका–अहिंसाका सिद्धान्त है। यदि इसपर अमल करें तो मानव परमात्म-पद की महानता को पावें ! यदि वे इसकी उपेक्षा करें तो बाइबिलका यह शाप उनके लिये ही है कि 'तेरे भारसे यह जमीन दूषित है !' (Cursed is ground for thy sake) अतः यदि मानव अपनी भलाई चाहता है तो वह सब मानवों और इतर प्राणियोंकी यथाशक्ति भलाई करे। केवल इस कारण—अहिंसाके अनुयायी होकरही –आपके मनमे, घरमें, कौममें और दुनियांमें शान्ति होगी ! आशा है "अहिंसा परमो धर्मः" में गर्भित सुनहरा सन्देश संसारके समस्त प्राणियोंके हृदयोंको प्रकाशमान और प्रफुल्लित करेगा ! इसीसे लोकमें शान्तिका साम्राज्य स्थापित होगा। अतएव अहिंसा सिद्धान्तको सदैव प्रकाशित कीजिये। अहिंसाही अशान्तिको मेटनेकी परम शक्ति है!

हे मुक्तिदूत !

उस दिन भूतल पर स्वर्णिम रत्नोंकी वर्षा हो रही थी, मानव चकित लोचनोंसे यह सब निरख रहा था, और जब उसने वर्षाका कारण जाना तो वह खुले हाथों उल्लास लुटाने लग गया, देवताओंकी बाँछे खिल गयीं और प्रकृति अपना शृङ्गार सजा कर स्वागत करनेके लिए अपलक नयनोसे तुम्हारी बाट जोहने लगी, तभी—

हे धर्मप्राण !—

तुमने अपने पद-पङ्कजों द्वारा वसुधाको पावन करते हुए सम्पूर्ण संसारमें धर्मकी महत्ताका शंखनाद कर, सत्य और अहिंसाके पावन उपदेशों द्वारा प्राणीमात्रको जगा दिया। मानव उठा, सहसा अपने समक्ष दिव्य-ज्योतिको देख उसके नेत्र टिक न सके, अरे, टिकतेभी कैसे ? जब इन्द्रने आपकी शशि-मुखकी सुधाका पान करनेके लिए सहस्र लोचन बनाए तो वह एक मानव, निरीह मानव जिसने तबसे पहले कभी आपकी दिव्य आत्माका दर्शन नहीं किया, कैसे आपका मुखडा देखता, वह तो पापी था, हिंसक था, निरा हिंसक। अरे, वह तुम्हीं तो थे, जिसने इसके सब पापोंको क्षमा करते हुए उसे सद्उपदेश दिए और अहिंसाका पाठ पढा मोक्षका मार्ग सुझाया। अतः

हे मुक्ति-दूत !—

'उतर जग पर शांति, अहिंसाके अधिनायक !
सुप्त प्राण फिर जाग उठे, हे, शांति विधायक !!'

सश्रद्धा—नरेशचन्द्र जैन 'हेम'।

विश्वकी विभूति भ० महावीर !

रचयिताः — साहित्यभूषण सुरेन्द्र सागरजी जैन, 'प्रचंडिया' कुरावली (मैनपुरी)

विभुवीरने बताया हमें—
व्यर्थ यह पशु बलि !
व्यर्थ यह नर-बलि !
लाभ नही मूक पशुओंके हननमें है।
वह तो निरीह है।
उनकेभी प्राण हैं।
अपनेही समान हैं।
कर्मफल तो कर्ताको मिलेगाही।
दुष्कर्म क्षय होते, शुभ कर्म करनेसे !
जीवके हननमें औरभी पाप है।
व्यर्थ यह हिंसा है।
रागद्वेष बढते हैं इसके परिसेवनसे !
परिशोध होना तो असम्भव इससे है !
इसलिए अपनाओ दयाको सत्यको !
अहिंसाके मर्मको समझो और समझाओ!
कुलिश हृदयभी
हो सकता नवनीत-सा !
स्वयम्को जीना है;
उसी भांति दूसरोंको जीवन दो !
सरल उपाय है !
किसीके अपराधको
क्षमा कर देनेमें होता परितोष है।
होता आत्म-तोष है।
क्षमा वीर-भूषण है।
सरल विचारसे
मृदुल व्यवहारसे
अपने अरातिको
हृदयसे कर सकते विजित हैं।
सत्यमय हो जीवन !
सत्यमय हो क्षनक्षन !
सत्यमयी हो जन-मन !
सांचको आंच क्या ?
जीवन पवित्र हो
शुद्ध हो भावनाएं !
सद् हो कामनाऐं !
परमित हो जीवनका मापदण्ड !
संयममय आचरण
हटा सकता है सारे दुखद आवरण !
कंचनको शुद्ध करनेके लिए
तप्त करते है जन जलती कृशानुमें।
इसी भाँति अपनाभी जीवन हो तपमयी!
होवे यशस्वी !
ताकि परिशोध हो !
अपनी इस कायासे मनसे धनसे
हो जहाँ तक त्याग करनाही धर्म है।
संग्रह अधिकसे
जागरित तृष्णा अधिक होती !
इसमें परिबद्ध हो होते अनर्थ कर्म !
भूलते हैं धर्म-मर्म !
अहम् मान्यता है बुरीबला !
कर न सकती है यह कुछभी भला !!
इसी लिए अन्य प्राणियोंके समान

मांसाहार एवं पैशाचिक बुद्धिहीनता ।*

(ले० श्री० डॉ० किशोरीलालजी वर्मा, मे० ओ०, अलीगंज)

हम लोग ससारके क्षणिक जीवनमें कुछ ऐसे भ्रममें पड जाते है कि यदि उस जीवन कालका अनुमान लगाया जाय तो शुभकर्मो की रोकड वही पर चढानेके लिये जमामें 'कुछ नही' निकल सकता है; जीवन प्राय: कष्टमय है । उसमें सुखाभासकी झलक जो कभी दैव अनुकम्पासे दिखती है, वह स्थायी नही । भौतिकसुख इन्द्रिजन्य होनेके कारण सुखाभास है । उसकी तुलना आत्माल्हादसे, शुद्ध आत्मसुखसे नही की जा सकती । सच्चे सुखसे शुद्धविचार उत्पन्न होते है । विचारोंकी मलिनता सच्चे सुखको नष्ट कर देती है । यह जानबूझकर भी हमलोग दुखी होते और दुखके कारण बनते है, आश्चर्य केवल यही है । हम क्यो रोगी है ? इसलिये कि शरीरमे विकारविष उत्पन्न किया है और वह हमारे ही आचार विचारोंका फल है ।

किसी रोगकी पहिचान लक्षणों द्वारा होती है, किन्तु केवल लक्षणोका जानना उस समय तक व्यर्थ है जबतक कारणका बोध न हो और उसकी चिकित्साका ज्ञान न हो । जो कुछभी शरीरमे विष उत्पन्न होता है वह भोज्य पदार्थोंकी अन्तिम परिणत अवस्था एव विचारोंके प्रभावसे होता हैं जो ऐसे भोज्य पदार्थोंकी इच्छा उत्पन्न करते है । इसलिये ही चिकित्सकको बहुधा असफलता होती है । वैसे तो कई एक ऐसे भोज्यपदार्थ है जिनपर विचार प्रकट किये जा सकते है, किन्तु यहा पर मै केवल मासाहार पर ही सीमित रहूगा ।

यदि हम स्वय ठीक नही रह सकते तो दूसरे अवश्य ठीक करेगे । हम लोगोंको पापों और दुष्कर्मोके लिये कोई दूसरा दंड नही देता बल्कि मेरी समझमे पाप और दुष्कर्म स्वय हमको सजा देते है ।

हिपोक्रेटस, जिसने चिकित्सा निकाली और जो शाकाहारका दक्ष डाक्टर था, उसकी यह शिक्षा थी कि भोजनही केवल औषधि है और औषधि केवल भोजन है ।

भोजन करना और उसका मलमूत्र बनना अथवा व्यर्थ पदार्थोका बाहर निकलना, ये दो प्रथक क्रियायें हैं । यदि परिणत भोज्यका व्यर्थ अश छाटनेमें शरीरके अगोंपर अधिक प्रभाव पडता अथवा उनकी छिन्नता हो जाती है, तो शरीर शिथिल होकर रोगी हो जाता है जिसे केवल डाक्टर या रोगी जान सकता है ।

मासके आहारसे अगोंकी शिथिलताके अतिरिक्त किसी और भोजनकी अपेक्षा अधिक

---

* डा० टाल्बाटके अग्रेजी लेखके आधारसे लिखा हुआ स्वतत्र लेख —सं.—

सकते हैं। मनुष्यको लाभकर हैं, नींबूका रस बिल्ली और खरगोशके लिये विष है। कपूरसे किनारी नामका जानवर मर जाता है। कबूतर अफीम अधिकाशमें खा लेता है। ऐसे अनेक उदाहरण है।

हमारे शरीरकी बनावट भोजनपर निर्भर है। अतएव उचित भोजन जो शाकाहार है उसको विधिवत ग्रहण करनेसे असाधारण रुकावट नहीं होती और शरीर हृष्टपुष्ट ठीक विचारोंको उत्पन्न करनेमें सहायक होता है।

यह धारणाभी गलत है कि माससे मास उत्पन्न होता है, क्यों कि पकने पर उसके जीवित कण नही रहते और कण भी भिन्न होते हे। मास भोजन मानवको पशु बना देता है।

मे अब यह बताता हू कि मासाहारी जानवरो और मनुष्योंमें क्या अन्तर है।

जितने भी मास खानेवाले जानवर है उनकी आते छोटी होती हे; जैसे शेर। उसकी आंत १५ फीट लम्बी होती है। इसके बिपरीत, जितने जीव सतोषी शाकाहारी अथवा मांस न खानेवाले हैं उनकी आते २६ से ३० फीट तक लम्बी होती हैं, जिससे साग पात लम्बे समय तक सडगल कर पाचनक्रियामें रस बना सके. इसी प्रकारसे मनुष्य और मासभक्षी पशुके दातोंमें भी अन्तर है। यदि एक बन्दरको बद करके मास खिलाया जावे तो उसे तपेदिक हो जायेगी। सागके भोजनमे कई ऐसे सुन्दर अमूल्य पदार्थ है जो मनुष्यको हृष्टपुष्ट रखनेमें लाभकारी होते है। सबको न बताकर केवल एक सोयाबीनका ही उल्लेख करूगा। इसमे लेसीथीन और फासफोरस ब्रह्माइडकी शक्तिके लिये ठीक अनुपातमें होता है। इसमें वेसीलिस एसिडोफिल्स अर्थात् एक प्रकारके आतके कीटाणु जो भोजनकी पाचनक्रिया करते हैं अधिक काल तक जीवित रह सकते और बढ सकते हैं। अतः सोयाबीन मासकी अपेक्षा कही अधिक उत्तम वस्तु भोजनकी है।

ऐसा देखा गया है कि बच्चा पैदा होते समय हृष्टपुष्ट होते हुयेभी २० या २१ वर्षकी युवावस्थामें जब उसे स्वस्थ्य होना चाहिये, रोगी बन जाते है, यह भोजनकी ही एव आचार विचारोंका ही दुर्प्रभाव होनेका फल है। प्रत्येक जीवको अपनी उत्पत्ति और बढान कालके अठगुने समयतक जीवित रहना चाहिये, परन्तु मनुष्यकी आयु दूनी भी कठिनतासे हो पाती है। यह सब केवल ठीक और विधिपूर्वक भोजन न प्राप्त करनेकाही दुष्परिणाम है बहुतसे पदार्थोंका मुख्याश छील कर या अधिक पकाकर नष्ट कर दिया जाता है अथवा मसालेसे स्वादिष्ट बनानेके लिये ऐसा भोजन किया जाता है जो अतडियोकी अतराझिल्लीको जलाकर छिन्नभिन्न कर देते है और पेचिश इत्यादि रोग उत्पन्न हो जाते है।

अतएव इन्द्रिलिप्सा और पैशाचिकताको छोडकर मानवको उचित है कि वह दयाभाव उत्पन्न करे। शरीर पोषण और स्वास्थ्य वर्धनके लिये वह ठीक और स्वाथ्यकर शाकाहारको ग्रहण करे। लोकके सभी महापुरुष शाकाहारी हुये हैं। भ० महावीरही अहिसाके अवतार थे। उनके उपदेशसे भारतमे शाकाहार विज्ञानको विशेष उन्नति हुई थी। उनके अतिरिक्त श्री गौतमबुद्ध ईसामसीह मुहम्मद सा० ऋषि दयानंद एवं विश्व विभूति म० गाधीके जीवनचारित्र पढिये और देखिये कि वे अहिंसावृत्तिको धारण करके ही महान् हुये थे। शाकाहारही श्रेष्ठ भोजन है।

The Way to Salvation

By Śrī. Walter Leifer, Dringenberg-Westfalen, Germany

[प्रस्तुत लेखमें जरमनीके प्रसिद्ध पत्रकार श्री वाल्टर लीफर सा. ने पाश्चात्य जगतकी प्रचारसरणीको हिंसासे दूषित ठहरा कर लोकसे खास कर यूरुपवालोंसे यह अपील की है कि वे महावीर, बुद्ध और गांधीके सत्य–अहिंसाके संदेशको सुनें और उस पर आचरण करें। 'मुक्तिमार्ग' यही है। —का० प्र०]

The world has been a field of bloody struggles of the nations between themselves. Mankind discovered highest material matters of important effect, but lost the best values, the central values of humanity — interior liberty and human feeling. Especially, the Western world has to suffer from the products which were made by men, but which themselves made men products of a mechanized century. Where is to be found the solution of this problem of the mechanized Occidental world; *where* is the "*mukti-mārga*" for this part of the human community; where is this way to salvation?

If we, men of Western origin, do not find this way themselves, we should open our hearts to the messages of the East, where India has grown fit to become the home of a spiritual humanism, where Tīrthankara Mahāvīra proclaimed: "Towards your fellow creatures be not hostile. All beings hate pains: therefore do not kill them." And where Buddha taught his pupils his supreme truth: "Manopubbangama dhamma, manosetta, mano-maya — Mind goes first in the world; mind is the best; mind is creative." Did we hear this message of Asia - these words of Buddha, Vīra, Rama, Allah - did we Europeans and other Westerners follow the divine gospel of Christ?

Against all the human messages from Asia, we occidentals had our gospel of imperialism, of nationalism, of chauvinism, of class struggles. The wrosest sides of Western thought led to disharmony of the world.

The year 1948 has been for India a year of tragedy and sorrow. It saw the death of the greatest of all the Indians of our time, perhaps the greatest man of the whole century. What he taught, should be heard by us, the Europeans, the Americans etc., the Occidentals, too. Gandhiji, India's and the World teacher, had the remedy to heal our troubled earth: Ahimsa and Satya!

Let us listen to Gandhiji's World Message! Bapu Gandhiji's object was not so much the liberation of India as the liberation of the men and of the world. Violence is the history of men, but non-violence is the dream of the wise, and the struggle between violence and non-violence goes on not in the outer battlefields, but in the hearts of the men.

The cosmic struggle is a perpetual fight between reason and un-reason, between light and darkness, between love and hate. But the world conscience is weakened. To-day all the men of Occidental birth have only one question : How could we save us ? This world is far from liberty from fear – Spengler's the German philosopher's warning : "Decline of the West" is realizing itself. But there was one man in our century, who listened to the interior voices of mankind, who saw the best values of all the religions and of the beliefs, who heard the prophets of his own country and who, at the same time, listened to the Gospel of the Mountain And he was a prophet himself ·

" I believe in non-violence. If I believe in this, there is no enemy. This takes me into realms infinitely higher than the world You may not harbour an uncharitable thought, even in connection with one who may consider himself to be your enemy. The one who follows this doctrine has no place for an enemy I have no enemy. The only virtue I want to claim is Truth and Non-violence. I lay no claim to super-human powers I want none I wear the same corrupt flesh that the weakest of my fellow-beings wears and I am therefore as liable to err as any."

Non-violence is a central value of humanity and its source is the love-born Truth, that truth called by Buddha's pupils " Aryasacca " – Noble Truth. We Europeans have to see that certain qualities of men and women – pity, mercy, humility are progressively weakened in the atmosphere of our men-murdering world

The world, and especially, the Western part of our Earth is facing a moral crisis graver, perhaps, than the physical damages of the two world wars. The old question of the Heraclean Fate is Evil or Luck ? Greed, hatred, self-interest or real greatness in body, mind, and spirit ! We can lead men to the better path–Gandhiji's appeal to Ahimsā and Satya–to non-violence and truth could change our spiritual world and is capable, preaching and practising fearlessness and understanding, leading the struggle against the strongholds of greed and evil. Truth and Non-violence are highest qualities we can possess–Gandhiji's call belongs to a man who redeems the whole human race. May be his body reduced to ashes, which are scattered in the eternal waters of India's holy streams–his two values Truth-Satya and Non-violence–Ahimsā (and I would add the third–Love !–that is the eternal source of all !) will penetrate far into space and time and inspire countless generations and point at the way to salvation for a guideless world. The salvation, which Mahāvīra taught to attain by Right Belief, Right knowledge and Right conduct Remember the precepts of Truth and Ahimsā and turn them into practice, you will be on the right way of Salvation ,

" Clever talking will not work salvation , how should philosophical instruction do it ? Fools, though sinking lower and lower through their sins, believes themselves to be wise man ! "

World Peace.

BY MISS DAPHNE MCDOWALL, Germany.

श्रीमती कुमारी मैकडोवल अंग्रेज महिला हैं और अमरीकन सैनिक क्षेत्रमें सेवाकार्य कर रहीं हैं। विश्वशान्ति पर उनके विचार पठनीय है। वह लिखतीं हैं कि तीन साल पहले जब पिछला महा-युद्ध समाप्त हुआ तब मै बडी आशा लेकर जर्मनी आई थी। मुझे आशा थी कि वहां पहुँचकर पुद्गल, वादमें फंसी हुई दुनियाको आध्यत्मवादका विश्वासी बनाकर आगे बढाऊंगी। मुझे विश्वास था कि नवजीवनके निर्माणका श्रीगणेश वहाँसे हो सकेगा। नैसर्गिक अथवा प्रेरित कार्य कैसाभी हो सदैव अपना फल दिखाता है। विचारोंके भी अपने परिणाम होते है। फिर वे शायद भलेही कार्य-रूपमें शीघ्र परिणत न किए जा सकें। जैसे को तैसा मिलताही है। अतः हिंसासे हिंसा और द्वेषसे द्वेष पनपतेही है। जो युद्ध हिंसा, द्वेष और क्रूरतासे लडे जाते है, उनसे हिंसा द्वेष और क्रूरताही बढती है। गत महायुद्ध अपने पीछे एक महान पीडा छोड गया है। इस पीडाके कारण मानव एक दूसरेसे द्वेष कर रहे है। और यह द्वेष बढते बढते एक दूसरे महायुद्धमें परिणत हो सकता है। कार्य-कारणका सिद्धान्तही यह है कि जो जैसा बोयेगा वह वैसा पायेगा। हा, इस विशेष वातावरणको मेटनेका एक मात्र उपाय प्रेम-पवित्र और निःस्वार्थ प्रेमही हो सकता है। जैसे एक घरमें प्रेम न होतो लडाई दुःख और झंझटें ही उसमें होतीं है। वहही हाल दुनियाका है। किन्तु जिस घरमें सच्चा प्रेम रहता है वहां स्नेह सुख और शाति फैलती है। अतः यदि लोकके अधिकांश मानव एक दूसरेके प्रति सच्चा प्रेम व्यवहार करें तो युद्ध होही नहीं सकता यह निखिल सत्य है और इसके प्राप्त करनेका ही प्रयत्न होना चाहिए किन्तु दुनियामें ऐसेभी लोग हैं, जो इस सत्यकी असंभव मानते है। पर उनको भी यह सत्य माननाही पडेगा। जिन्हें विश्व प्रेमकी शक्तीमें विश्वास है उन्हें दुगनी शक्ति लगा कर इसका विकास चहूँओर करना चाहिए जिससे दूसरे लोग उसका अनु-भव करें, उसे देखे और उसके अनुसार व्यवहार करें। गरीबसे गरीब मानव भी क्षणभरके लिए इससे प्रभावित हुए विना नहीं रह सकता। इस प्रभावसें वह शक्ति सचय करता जायेगा। त्रुटिओं और परीक्षाओंके बीचमें निकल कर वह बहुत कुछ सीख लेगा। हमारे दैनिक जीवनपर वैयक्तिक अनु-भवोंके अतिरिक्त सामूहिक अनुभवोंका भी असर होता है। हजारों युद्ध लडे जा चुके है तो भी लोक यह नहीं समझ पाया है कि युद्धसे बरबादी होतीं हैं और मानव उन्नतिमें बाधा पडती है। एक व्यक्ति भी जबतक अनुभव विशेषसे प्राप्त शिक्षाको ग्रहण नहीं कर लेता तबतक वह उसीमें पडा रहता है। स्वार्थमय प्रेम कभी सुख नहीं सिरज सकता मानवको यह विश्वास है तो वह निःस्वार्थ भाव से व्यक्तिसे प्रेम करें और जहा वह व्यक्तिसे निःस्वार्थ प्रेम करनेका अभ्यस्त होगा तो समिष्टीसें भी निःस्वार्थ प्रेम करने लगे।

बहुत कम व्यक्ति है जो अपने अनुभवोंसे लाभ उठाते है। त्रुटियोको वे दुहराते रहते है। हर कोई जानता है कि शारीरिक दुर व्यवहारसे दुःख होगा पर फिरभी लोग वैसा करते है। ऐसे लोग तो बहुत थोडे है जो अपने अनुभवोंका पर्य्ययवेक्षण करके शिक्षा ग्रहण करते है। ऐसेभी मनुष्य है, जो पार्थिव हानियां उठाते रहते है, किन्तु उन्हें यह अनुभव नहीं होता कि जबतक वह पार्थिव

वस्तुओंकी इच्छाको इनसे बुरा होता, माननेकी भ्रान्तिको नहीं छोडेंगे तबतक उनको वैसी हानियां उठानाही पडेगी। विनयका महत्व मांगनेके पहले घमंडीका सिर कई बार नीचा होता ही है। मानव अपने विचारोंसे सृष्टि रचता है, किन्तु फिरभी वह यह अनुभव नहीं करता बल्कि अपने सीमित विचारोंके अनुकूलही परिस्थितियोंको बनाता रहता है। जबतक मानव सर्व विजयी विश्व प्रेमका व्यवहार नहीं करता—जबतक मानव अपनी आत्माको नहीं पहिचानता और जबतक वह यह नहीं जानता कि दूसरेको पीडा पहुचाना स्वय अपनेको पीडित करता है, क्यों कि सभी प्राणियोंमें एक समान आत्मा है, तबतक वह परिस्थिती की भ्रान्तिसे निकल नहीं सकता है। अत' जीवनका ध्येय विश्व-प्रेमही है। अलबत्ता उसकी प्राप्ति धीरेधीरे होती है और प्रारम्भमें वह कष्ट साध्यही भासता है। किन्तु आध्यात्म अभिज्ञान जानतेही मानवको उनमें रस आता है। ऐसे प्रेम पूर्ण वैयक्तिक प्रयत्नोद्वारा ही शान्ति स्थापित हो सकेगी; वह शान्तिकि जिसमें मनुष्य पारस्परिक सौहार्दसे रह सकेंगे और उन्नति कर सकेंगे। जब पर्याप्त व्यक्तियां अपनी स्वार्थ पूर्ण इच्छाओं, भयों और द्वेषों पर काबू पा लेंगे तब न तो युद्ध हो सकेंगे और न उनकी आवश्यकता शेष रहेगी। कुमारी मैकडोवलकी यह उच्च भावना सफलीभूत हो, यह कामना है। —स०]

Three years ago at the end of the war, I came to Germany with great hopes of helping to build up spiritual beliefs which would lift the world out of the material depths in which it was floundering I hoped to meet many other persons who believed as I did that Germany as it was at the end of the war provided an excellent opportunity to introduce a new way of living effectively.

Action, whether instinctive or resulting from thought, always produces effects. Thoughts also produce effects even if not immediately resulting in action. Both thoughts and actions are causes and their effects are inevitable whether they are immediately obvious or not As like attracts like, so violence attracts violence and hate attracts hate, and when wars are carried out with violence, hatred and cruelty, they will only engender violence, hatred and cruelty. The recent war has left much misery which causes people to hate one another and this hate will gather and grow until it finds its outlet once more in another war Hateful thoughts and actions will bear their fruits for this world is a marvel of law and order and each thought or action brings a just rebound according to its nature. There is one factor only which can break this vicious circle and that is love, if it be pure and unselfish. Just as in a household where no love exists one meets with discord, unhappiness and trouble, so the opposite is true and in a house where true love exists one finds harmony, happiness and peace. It would seem that if enough human beings could love unselfishly the state of war could not exist. This is so very obvious and is worth striving to attain, but there are many who believe it to be impossible and who wonder what is going to teach the human being how to love universally.

There are several ways in which he will learn and *is* learning, though very painfully and slowly. Firstly, persons who are aware of the power of

universal love should redouble their efforts in spreading love about them in the spiritual, mental and physical world so that others will feel it, see it and react to it. The poorest man connot fail to be affected by it , be it only for a moment and the effect will gather strength each time he comes in contact with it. Secondly, he will learn by a long process of trial and error. We all have individual experiencas through which we may learn what is essential to our individual growth and at the same time we take part in group experiences for the same purpose. The world has not yet learned in spite of thousands of wars that war brings no advancement but only retards progress in every way. Similarly, an individual will face endless variations of one and the same experience until he has learned his particular lesson. A man will go through many experiences of unhappy love, for instance, until he finally learns that selfish love can never bring happiness and, realising this, he may then learn to love a person unselfishly. Having loved the one unselfishly he will learn gradually to love all as one–as a whole.

Few individuals are able to benefit from their physical experiences and they continue repeating the same errors such as, to give a common enough example, maltreating their bodies though they know that they will suffer as a result. Fewer still are those who are able to analyse their life experiences more deeply in order to see what can be learned from them. There are people who continually suffer material losses and never realise that this condition will repeat itself until they have lost the desire for material possessions and cease to bhlieve that happiness can be found in them. The constant suffering from loss will eventually teach them to seek their happiness in something more lasting. Those who fear will be faced with whatever causes their fears until they learn to overcome fear. The proud will be dashed to the ground many times before they learn the meaning of humility. Man creates with his thoughts and still he does not realise that conditions repeat themselves even as his thoughts circle always within the same narrow limits. Few are aware of this repetition but repetition there must be until the lessons are learned by *heart*–until man can practise universal love which conquers all things–until man finds his own Self once again and knows that to hurt others is to hurt oneself since all is contained within the Self.

This being the purpose of life, the process is slow and painful in the beginning but gathers momentum as man begins to approach a knowledge of spirit. Every being which finds its way back to Being makes the path more easy for those who have to follow. It is by individual effort only through that peace will be reached, a peace in which men may develop and grow together in harmony. When enough individuals have overcome their own selfish desires, fears and hatred, wars will not be necessary as teachers and will not be able to manifest because there will not be enough material upon which they can feed and exist.

Establishment of World Peace.

BY PROF. HIRALAL R. KAPADIA, M. A.

[श्री० प्रो० हीरालाल रसिकलाल कापडियाने प्रस्तुत लेखमें भ. महावीरके अहिंसा सिद्धान्त की उपयोगिता सिद्ध करते हुये उनके द्वारा विश्वशान्तिकी स्थापना संभव बताई है। प्रत्येक व्यक्ति लोकमें सुख शान्तिका साम्राज्य देखना चाहता है, परंतु वह सुगम नहीं और न मानवका यह स्वप्न अभीतक सर्वाङ्गरूपेण पूर्ण हुआ है। फिरभी विश्वशान्तिको स्थापित करना आवश्यकही है। भ. महावीरने अपने पूर्व भवोंसे निखिल लोकको सत्यानुयायी बनानेका सतत उद्योग किया था। लोकमें असंतोषका एक मुख्य कारण असहिष्णु भाव है। लोग मतभेद होनेपर दूसरे पक्ष की बात सुनना नहीं चाहते हैं और द्वेषको सिरजते हैं। महावीरने मानवको इस त्रुटिसे सावधान किया और उसे अनेकान्त सिद्धान्त बताकर विशाल दृष्टि दी। सत्यके सर्वाङ्गपूर्ण दर्शन परिमित बुद्धि नहीं कर सकती। महावीर जैसे पूर्ण पुरुषही सत्यके सर्वाङ्गीण दर्शन कर सके थे। अतएव उनकी अनेकान्त दृष्टिसे मानव मतभिन्नताजन्य असंतोषका अन्त करके विश्वशान्तिमें बाधक कारण को मिटा सकता है। अनेकान्तवाद वास्तवमें अहिंसाकी ही रूप वाणी, प्रयोगमें—बोलचालमें है। अहिंसाका प्रकाश मानवके कार्य-व्यवहारमें होता है। अनेकान्तमें सभी दृष्टिकोण सन्निहित है। अतः अनेकान्तवादी विपक्षीको शत्रु नहीं समझेगा बल्कि वह उसके दृष्टिकोणको समझकर समाधान करेगा। विपक्षी शत्रुकी बात समझने का क्षमता पानेके लिये अत्यन्त नैतिक साहस अपेक्षित है। जैन न्यायमें नयवाद – सप्तभंगी वाणी आदि द्वारा अनेकान्तका विशद विवेचन है। आज अर्द्धसत्य – सदिग्ध भाषण करना बहु प्रचलित है। यह भयंकर है – इसमे तो निरा असत्य सभाषण इतना भयकर न होगा। अनेकांतवाद एकपक्षीय वक्तव्य देनेसे मानवको सावधान करता है। अनेकान्त सशयवाद नहीं, बल्कि सर्वतोपूर्ण सत्य है। वह मानवबुद्धिकी संशयोंको मेटता है। अहिंसा सिद्धान्तका पालन भारतमें गत ३५ वर्षोंसे किया जा रहा है और जैनोंके लिये तो यह सिद्धात प्राणरूप है। जैन गृहस्थोंके जीवनकी प्रत्येक धारा अहिंसासे अनुप्राणित है। हिंसाका पूर्ण त्याग जैनमुनि करते है। अहिंसा की परिधि अनन्त प्रेममें सीमित है। सच्चा अहिंसावादी यह मानेगा कि "वह प्रत्येकसे प्रेम करता है। जो व्यक्ति उसे क्षति पहुंचा चुका है उसके प्रतिभी वह मैत्रीका व्यवहार करता है-कोई उसे क्षमा करो या न करो, वह सबको क्षमा करता है। उसके हृदयमें किसीके प्रति द्वेष नहीं होता। शत्रुके प्रतिभी ममताभाव होता है। वस्तुतः अहिंसा सिद्धान्त मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावनाओं पर टिका हुआ है। साथही अहिंसावादी अपनी आकांक्षाओं और आवश्यकताओंको सीमित—अत्यल्प करके सम्पतिका समुचित बटवारा समष्टिमें होने देता है। यहभी उसका अहिंसा धर्म है। जैन साधु तो परिग्रह नामका एक धागा भी नहीं रखते। महावीरका यह त्यागमय-अपरिग्रह व्रतभी विश्वशान्तिकी स्थापनामें प्रमुख कारण है? एटम बॉब अथवा अन्य घातक शस्त्रास्त्रोंके प्रयोगसे विश्वशान्ति नहीं सिरजी जा सकती। विश्वशान्तिकी स्थापना महावीरके उपर्युक्त प्रकारसे अहिंसा धर्मको पालनेसेही हो सकती है। लोकके राष्ट्रनेताओंको इस सत्यको जल्दी स्वीकारनेमें विश्वका कल्याण है। —का॰ प्र॰]

Everybody hankers after real perfect and eternal happiness. Some persons believe that there can be no such happiness unless there was peace everywhere in the world-the World wherein geographical distance is now no more a barrier for speedy and direct communication. It is rather very very doubtful that the whole world may give up the very idea of raging wars, righteous or unrighteous, civil or otherwise, and may thus create a paradise to live in this very mortal world. This presupposes that the animal-spirit of gaining one's and even at the cost of others', gives way to the golden rule of 'living and letting others live' not because it is paying but it is to be observed for its own sake. This is an ideal — a desideratum which has not been completely fulfilled so far, though cherished by many a noble-minded personage from times immemorial. Even then a serious attempt in this direction means no loss Not only does it harm none but it adds to the welfare of at least the person who practises it. Let us see what steps have been suggested and followed by Lord Mahāvīra (599 B C -527 B C.) who earnestly cherished the grand desire in his last but two birth to make one and all the human beings embrace Truth in its highest and perfect form, and who left no stone upturned to fulfil this ambitious and highly desirable goal of his.

One of the factors that leads to trouble is lack of Catholic spirit of toleration and broad outlook. Some persons are so very haughty that they think it quite unnecessary to give a patient hearing to others who hold a view different from theirs. If one were to avoid this pitfall, not only one will not lose any thing but one will succeed in getting this trouble nibbed in the very bud. It will be an enormous gain, if one were to go ahead by trying to consider fully other views than one's own-no matter even, if they are two poles asunder and thus seemingly irreconcilable owing to fundamental difference. To try to understand why another individual holds a different-contrary view, requires a great deal of courage and ability. The highest step in this direction, is to come to a final decision, and to boldly pronounce it in unambiguous terms. These are the main steps which, if followed, can eradicate the chance of misunderstanding and misrepresentation so very common in these days, can smoothen spiritual progress and thus lend a helping hand in establishing world peace, a dream of an idealist.

Lord Mahāvīra had wiped out one and all the passions for ever and could therefore perceive and practise Truth-whole Truth, though multifarious, and, of which an ordinary man can hardly see even one face or aspect. This Truth is reflected in toto, in his general sermons which have for their adamantine basis, the two eternal principles of *anekāntvāda* and *ahimsā*. The former belongs to the domain of speech, a visible force, and the latter to conduct or behaviour, rather difficult to be properly judged at times even by one self.

Anekāntvāda has a number of synonyms such as *syādvāda*, *samhāravāda*, *vibhajyavāda*, *sankīrṇavāda*, *ākulavāda*, *tad-atad-vādā*, *sarvavastuśabalavāda*

and the like. It means a statement which gives a due place to all the view-points including those of the opponents and rivals and which though, in a way one-sided (as it comes within its own range and recoils on itself) is all-embracing.[1]

This doctrine of the *Jainas* clearly enunciated and fully resorted to by their *Tīrthankaras* is unlimited in sphere, for, not only an epistemological discussion but even a metaphysical question and an ethical one, too, come within its domain It is the fundamental theorem of the *Jain nyāya*, and it has *nayavāda* and *saptabhangī* as its corrolaries. It is the master-key of opening the heart-locks of different religions. It is the main fountain of temporal and spiritual progress. It is the theory of cumulative truth. Such being the case, if *anekāntavāda* is properly understood, preached and sincerely practised, it will solve a number of our present-day problems without falling a prey to adopting a policy of telling half truths which are more dangerous than naked falsehood For *anekāntavāda* warns us to guard ourselves from making one-sided statements and regarding them as absolutely true. This *anekāntavāda* is not scepticism-not even pragmatism. It gives a definite answer-only one answer, when the standpoint is specifically mentioned, and it thus never leaves us in doubt about the nature of any object or problem.[2]

Anekāntvāda is *ahimsā* in speech, and as such it forms a part and parcel of the noble and ennobling doctrine of *ahimsā* So I shall now say a few words about *ahimsā*

Lord Pārśva (877 B. C.–777 B. C), the 23rd *Tīrthankara* of the *Jainas*, propounded the four *yāmas* and Lord Mahāvīra, the last (24th) *Tīrthankara* who flourished in India in this present Hundā-avasarpini-cycle of time, said the same thing when he enunciated the five *mahāvratas* (great vows) viz. abstention from (a) *himsā*, (b) untruth, (c) stealth, (d) non-celibacy and (e) possession (*parigraha*)

The doctrine of *ahimsā* has been known and practised in India at least for the last 35,00 years, and it has been the very life-breadth for the *Jainas*, for it permeates all walks and modes of life of even the Jaina laity Complete cessation from *himsā* is prescribed for the *Jaina* clergy by their *Tīrthankaras* not with a view to furnishing them with an ideal for an ideal sake but with the full understanding that this highest ideal can be so realised in the final and highest stage of their life.

Amongst all the vows, small or great, *ahimsā* holds the foremost place, for, it is like a field, and the rest of the vows are like hedges to protect it.

---

1 See *Sammaīpayarana* (III, 21)

2. For a detailed exposition of *anekāntavāda* see my book *The Jaina Religion and Literature* (Vol I, pp 160–176) and my introduction (pp CVII–CXXI) to *Anekāntajayapatākā* (Vol. II)

Ahiṁsā which was translated as Non-violence by Mahatma Gandhi and which means more than this word 'non-violence' when taken in its ordinary sense connotes, is not merely a negative virtue. Its province of love knows no bounds. A true follower of *ahiṁsā* can say-nay assert : I love one and all. I am a friend of even those who have done harm to me through negligence or otherwise, and they, too, are my friends. So I forgive their faults. It does not matter at all, if any one of them does not forgive me. I have love for all the living beings and have enmity for none-not even for the offender

This doctrine of *ahiṁsā* is based upon the following four cardinal virtues known as *bhāvanās* :— (i) *Maitrī* (amity-love), (ii) *pramoda* (serene joy) (iii) *kāruṇya* (compassion) and (iv) *mādhyasthya* (detachment).[3]

One should curtail one's wants and should set a limit to one's possessions. One should not even dream of depriving others of their legitimate possessions. This one can do, provided one has annihilated the evil attachment to possessions. This means : one should take the vow of *aparigraha* which a *Jaina* Saint is expected to observe in all its bearings. Renunciation of possessions, a corollary of the theorem of *ahimsā*, will go a great way in bringing about peace at home and abroad.

It is not the incessant dread or throw of atom-bombs or even deadlier weapons than these that can bring about world-peace. If it is ever to be achieved, it will by the correct understanding and exposition of the gospel of *ahimsā* (in thought, word and deed) and its thorough and sincere application regarding diet, dress, occupation—in short, any and every walk of life. Let us hope that the magnates of the world who delight in drinking deep from the fountain of rank materialism will soon realise this and quickly commence to wear the golden diadem of spiritualism (*adhyātmavāda*) studded with priceless jewels in the form of the *mahāvratās* freely given by every sagacious seer of the world.

---

3. For further particulars about *ahiṁsā* the reader may refer to my paper intitled " The Doctrine of Ahimsā in the Jain Canon." It is being published in instalments in the " Journal of the University of Bombay." Two have been already published in Arts Nos. 21 (pp. 89–118) and 22 (pp. 72–96) ; and the third is in press.

The Urgent Necessity of Universal Love and Non-Violence.

By Śrī Thomas H. Lawrence, Liverpool.

श्री टॉमस लॉरेन्स सा० ब्रिटिश सेनामें एक अफसर हैं। जैनधर्मकी शिक्षासे वह प्रभावित हुये हैं। इस लेखमें उन्होंने विश्वशान्तिके लिये अहिंसाको अचूक औषधि बताया है। वह लिखते हैं कि तीसरा एटम-युद्ध प्रारंभ हो उसके पहलेही लोकको अहिंसाधर्मानुयायी हो जाना आवश्यक है। मानवने अभीतक—युद्धका विनाश और हाहाकार देखकरभी—पशुबलकी निरर्थकता नहीं पहचानी और अहिंसाकी उपयोगिता नहीं जानी, यह आश्चर्य है। मानव परमात्माको भूले हुये हैं। यहूदी कहता है कि जो तुमको अप्रिय है उसका प्रयोग अपने पड़ोसी पर मत करो। अरब कहता है कि अपने साथी भाईके साथ वैसा व्यवहार मत करो जैसा वह तुम्हारे प्रति नहीं चाहता। इसपर भी फिलस्तीनमें यहूदी और अरब रक्तपातमें संलग्न हैं। ईसाई कहता है कि लोकमें शान्ति हो-मानवोंमें समभाव फैले। किन्तु ईसाई ईसाई आपसमें बराबर लड़ते आ रहे हैं। हिंदू-जैन-बौद्ध-पारसी-कन्फ्यूशियन आदि सभी धर्मवाले सद्भाव की बात कहते हैं। किन्तु उनके ही अनुयायी बच्चे-बूढ़ों-जवान—औरतों सबका वध करते हुये नहीं हिचकते। मानव भूल गया है कि द्वेषसे द्वेषका अन्त नहीं होता। प्रेम सर्वजयी है, किन्तु मानवको उसकी शक्तिमें विश्वास नहीं। मानवको भूलजाना चाहिये कि वह भारतीय, अंग्रेज, चीनी, अमरीकन, रूसी, पोल, फ्रेन्च, ग्रीक, अरब आदि है। वह अन्तर्राष्ट्रीय 'मानव' बन जावे और भाषाका भेद भुला दे। म० गांधीने अपने विश्वप्रेम और अहिंसाके प्रयोगोंद्वारा विशेष सफलता पाई थी। अमरीकाके एटम बॉम्बसेभी अधिक सफल वह हुये। लोक सत्य और अहिंसाकी शक्तिको पहिचानता जा रहा है और वह दिन जल्दी आनेवाला है जब लड़नेवाले केवल राष्ट्रनेतागण ही रह जायेंगे। जनमत उनका साथ नहीं देगा और तब युद्धहो ही नहीं सकेंगे। अतएव विश्वशान्तिके लिये अहिंसाका प्रचार होना आवश्यक है। सब देशोंमें अहिंसाधर्मकी शिक्षा देनेकी प्रयत्न होना चाहिये। लोकका कल्याण इसीमें है। —का० प्र०]

It is imperative that the creed of Universal Love and practice of Non Violence be accepted by the nations of the world before we stupidily hurtle into the atomic war of self-destruction.

World wars have come and gone bringing only bitter grapes as the fruits of victory.

Already, atomic weapons of annihilation are being hammered out on the anvils of nations East and West and Scientists the world over are probing deeper and deeper into the diabolic plans for Bacteriological warfare

The blood upon the fields, the entrails in the dust, the nibbled towns; the glass eyed children and broken emaciated women clinging to more broken and tattered men in clotted sadden unproud uniforms are the harvestings of

war. Mankind has still not realised the futility of conquest by force and fails to see the greater possibilities of Victory in Universal Love and non-violence. Man has strayed away from God and Sanity....God is left out of the councils of men and Love is locked out of the world's bedchamber.

The Jew says " whatever you do not wish your neighbour to do unto you do not unto him." The Arab says " Let none of you tread a brother in a way he himself would dislike to be treated.." Although their ideologies differ they both possess the universal soul and yet in Palestine they screep their Torahs and their Korans and slaughter, crying aloud against their neighbours actions...

" Peace on Earth, Goodwill unto all men " says the Christian world and yet since first the words were uttered Christian has fought Christian and not been averse to invoking the aid of the almighty for his side !

All Religions have that one wonderous Golden Universal Rule so admirably expressed in Hinduism :

" The True Rule is to do by the things of others as you do by your own."

Jainism, Buddhism, Zoroastrianism, Confucianism, Taoism, and the Bahai Cause say the same, wording it differently and for all that we still girt our armour on and go out and slaughter our brothers, his children and take unto ourselves his women and leave them raped among the nibble that was once his civilisation...and when we return we find he has done likewise to our possessions and hatred is the more engendered. In our blind fury we forget that Hatred cannot kill Hatred. only Love can and all through the centuries, ever since Time began love has waited and still waits.

Man is still afraid to take the risk of Love and Non-Violence working the miracle he has so long striven by force of arms to gain a world of Non-Violence, Universal Love and Peace.

He must forget that he is Indian, British, Chinese, American, Russian, Pole or French, Spanish, Greek, Egyptian, Syrian, Arab or Jew...He must be first and foremost International. He must break down the Barrier of language and then he must tear down the veil of ignorance. These two things keep Universal Love and Non-violence from creating the wonderous glorious Golden World of Peace we seek.

Mahatma Gandhi achieved more by his belief and practice of Universal Love and Non-Violence than America did with her two atom bombs upon Nagasaki and Hiroshima.

Until such time as Universal Love and Non-Violence becomes the Policy of the Nations Hatred will still feed Hatred and Life and its procreation will be a useless negation.. .. the Nature did not give us life that we might destroy it and as gave so will it take away unless we humble ourselves and remember that Victories are never won in Strife-the only lasting victories are won in Love...

Ahimsā in Sino-Indian Culture.

BY PROF. TAN YUN-SHAN

(Director, Viśva-Bhāratī Cheena-Bhavana and Cultural Representative of China in India)

[प्रस्तुत लेखमें चीनके सांस्कृतिक प्रतिनिधि प्रोफेसर तान युन्शानने चीनकी प्राचीन संस्कृतिमें अहिंसाका दिग्दर्शन कराया है। उनका कहना है कि भारतीय और चीनी संस्कृतियोंका मुख्य लक्षण अहिंसाही है। संस्कृति समस्त मानव जीवनद्वाराही सिरजी जाती है। संस्कृति मानव समाजके अभ्युदयका मापदंड होनेके साथही उसका पथ प्रदर्शक भी है। संस्कृतिके कारणही मानव जीवन इतर जीवनसे विशेष और विशद ठहरता है। संस्कृतिसे ही मानव अपने जीवनका मूल्य और अर्थ समझता है और उससे वह अपना ध्येय प्राप्त करता है। उस ध्येय प्राप्तिमेंही शास्वत शान्ति, प्रेम, सुख और स्वातत्र्य हैं। इस अपेक्षा भारत और चीनकी संस्कृतियोंमें बहुत समानता है। चीनके प्राचीन बौद्ध विद्वानोंने अहिंसा शब्दका अनुवाद चीनी भाषामे "पु–हइ" शब्दसे किया था अर्थात् किसीकी हिंसा न करना। उसका सीधा रूप संस्कृतमें 'मैत्री' और चीनी भाषामे 'जेन' होता है। इन दोनोंका भाव एकही है। यद्यपि चीनी लोग 'जेन' शब्दका व्यवहार करना अधिक पसन्द करते हैं। मैत्रीपूर्ण व्यवहार करनेके लिए अहिंसाकी साधना आवश्यक हैं। इसी लिए संसारके प्रत्येक बडे धर्ममें इस प्रकारके चारित्रनियम निर्धारित किए गए है। अहिंसा और सांस्कृतिका अनादि सम्बन्ध है। गांधीजीने कहा था कि सत्य और अहिंसा इतनेही प्राचीन है जितने कि ये पर्वत-मालायें है। भारतके 'एत्रेय ब्राम्हण,' 'शत्पथ ब्राह्मण' 'छांदोग्य उपनिषद,' 'वामन पुराण' और 'मनुस्मृति' जैसे प्राचीन शास्त्रोंमें अहिंसाका वर्णन मिलता है। इसी लिए 'महाभारत'मे अहिंसाको परम धर्म कहा है। गांधीजी भी यही कहते थे। किन्तु अहिंसाका सदेश गम्भीर और वैज्ञानिक व्यवस्थाके रूपमें पहले २ जैन तीर्थकरों और उनमें भी सर्व अंतिम तीर्थंकर महावीर वर्धमान द्वारा किया गया था। उनके बाद महात्मा बुद्धने भी अहिंसाका प्रचार किया। इस जमानेमे महात्मा गांधी अहिंसाके प्रचारक हुए। चीनी लोग अहिंसाकी अपेक्षा मैत्री सूचक 'जेन' शब्दका अधिक प्रयोग करते है। चीनी महात्मा फाचिन सब मानवोंसे प्रेम करना और अपने अन्तर पर अधिकार करना 'जेन'से अभिप्रेत करते है, इनका कहना है कि किसी दूसरेके प्रति ऐसा व्यवहार मत करो जैसा तुम चाहते हो कि दूसरे तुम्हारे साथ न करें। एक बार उन्होने कहा कि गुरत्व, उदारता, ईमानदारी, उत्साह और दयाका व्यवहारही जेन है। म० कन्फ्यूशस कहते थे कि जेनका पालक परम धर्मात्मा होता है वह सबसे, द्वेष नहीं, प्रेम करता है। चीनका ईचिंग नामक ग्रंथ उनके लिये वेद तुल्य है उसमें लिखा है कि मैत्री द्वाराही मानवकी उन्नति होती है। लोक और परलोकमें जीवन सारभूत है और महात्माका पद एक महान रत्न है। उसकी रक्षा जेन (मैत्री) द्वारा होती है। सूचिंग नामक ग्रंथमें लिखा है कि मानवोंमें कोई स्थिर प्रेम नहीं है। अतः जेनके गुणोंका विचार करना ठीक है। चुंगयुंग नामक अन्य ग्रंथका उपदेश है कि मानवताका मुख्य लक्षण जेन अर्थात मैत्री है। और उसका व्यवहारिक रूप मानवोंसे

प्रेम करना हैं। इन उल्लेखोंसे जेनका अर्थ विश्व प्रेम स्पष्ट होता है। चीनमें इसका पहले उपदेश आजसे २५०० वर्ष पहले महात्मा कन्फ्यूशसने किया था। उनके पश्चात ईसवी सन् ३८२ से पहले महात्मा मशियशने इसकी बिशद विवेचना की थी। इनके पश्चात् प्रायः सभी चीनी विद्वानोंने इसका वर्णन किया हैं। बर्तमानमें चीनप्रजातत्रके पिता डा. सूनयेतसेनने जेनका वैज्ञानिक विवेचन अपने त्रिसूत्री मानवी सिद्धान्तमें किया था, जिससे चीनको राजनैतिक मुक्ति मिली और चीनी संस्कृति की जागृति हुई। महात्मा मैत्रियशने पहले २ जेनका प्रयोग व्यवहारिक राजनीतिमें किया था। उन्होंने यांगके राजा हुई को यह उपदेश दिया था कि वह किसीको ,लाभ पहुँचाने की चिन्ता न करे। बल्कि जेन अर्थात मैत्री और ई अर्थात सत्य धर्म फैलानेका प्रयत्न करे। उन्होंने चीनके प्रत्येक राज्यमें जाकर अपना यह सन्देश फैलाया था। उनका कहना था कि मैत्रीपूर्ण मानवका कोई शत्रू नहीं होता। चीनके एक दूसरे बडे महात्मा लाउ-त्सु नामक थे। उन्होंने नकारात्मक रूपमें इस सिद्धान्तका प्रयोग किया था। उन्होंनें पशुबल, शस्त्रास्त्र और युद्धको बुरा बतलाया था। उनका कहना था कि जो मानव धर्मपूर्वक किसी शासनकी सेवा करते हैं वे शस्त्रास्त्र केवलसे किसी राजको नहीं जीतते। इससे उन्हें पुन्यलाभ होता है। जहा सेनायें छावनी डालतीं हैं वहां बबूल और कांटे होते हैं। भले आदमी विजय पाकर रुक जाते हैं। वे पशुताके कार्य नहीं करते और न घमंडमें फूलते है। शस्त्रास्त्र तो अमागलिक हैं। सब जीव उनसे घृणा करते हैं। अतः जिनको धर्मपर विश्वास है वे उनसे दूर रहते हैं। श्रेष्ठ सैनिक लडाऊ नहीं होते और श्रेष्ठ योद्धा क्रोध नहीं करते। महान विजेता वे हैं, जो विना लडे ही अपने शत्रुओंको जीत लेते हैं। ईसवी सन्से ५०० वर्ष पहले मों-त्सु नामक महात्मा हुए थे। उन्होंने भी अहिंसाका उपदेश दिया था और युद्धको बुरा बतलाया था। एक वार उन्होंने सुना कि चीन राज्यका राजा सुग राज्यपर धावा बोलने वाला है तो वह अपने स्थानसे बराबर २० दिन रात चलकर चीनके राजाके पास पहुँचे और उन्हें आक्रमण करनेसे रोका। उनका मत था कि प्रत्येक प्राणी प्रेमसे रहे। कोई किसीसे लडे, नहीं और न कष्ट पहुँचाए। प्रेम न करनेसे ही सारी आपत्तियां आती है। ससारमें सबसे बडा पाप वे बलवान राज्योंका निर्बल राज्योंपर आक्रमण करना, बडे कुलोंका छोटे कुलोंपर झपटना और बल-वानोंका कमजोरोको दबोचना मानते थे। इस प्रकार चीनी महात्माओंके उद्‌गारोंसे अहिंसाका महत्व स्पष्ट है। भारतमें तीर्थंकर महावीर और शाक्यमुनि बुद्धने अहिंसा सिद्धान्तके अनुसारही अपने धर्मोंका प्रचार किया था। जैनधर्म और बौद्ध धर्ममें इतना साम्य है कि कतिपय पाश्चात्य विद्वानोंने दोनोंको एक माननेकी गलती की थी। अलवत्ता दोनोंही धर्म अहिंसाको प्रधान मानते है। अहिंसाके साथ सत्य जुडा हुआ है। महात्मा गाधी कहते थे कि सत्य और अहिंसा ऐसे हिलेमिले हैं कि उन्हें प्रथक करना असम्भव है। वे ऐसे है जैसे एक सिक्केके दो पहलू। सच पूछा जाये तो अहिंसा सत्य और प्रेम ईश्वरके ही तीन रूप हैं। इनके साथही त्याग, क्षमा, निर्भयता, निस्वार्थ-भाव आदि गुण लगे हुए हैं। गाधीजी तो अपने शत्रुसे भी प्रेमका व्यवहार करने की बात कहते थे क्योंकि अहिंसाकी चरमसीमा क्षमा है, और वह एक वीरका लक्षण है। अहिंसा निर्भयताके बिना असभवही है। अहिंसा की आधारशिला निस्वार्थभाव है। लोकके सभी प्राणिओंमें एकसा जीवन और आत्मा है। उनके जन्ममरण एकही स्थानसे है। जैसे एक पेड की जडसे उसके पत्ते शाखा फूल फल सम्बधित है, वैसेही लोकके प्राणी हैं। अतएव हम सबके हैं; सब हमारे है। चीनके महात्माओंका भी यही मत है। वह कहते हैं कि स्वर्ग, पृथ्वी और मेरा जन्म एक साथ हुआ सब प्राणि एक हैं और मेरे जैसे हैं। सब प्राणियोंसे प्रेम करो। सब लोग मेरे भाई हैं और इतर

प्राणी मेरे साथी है। अतः मानवोंसे ही नहीं बल्कि प्राणि मात्रसे प्रेम करना चाहिए। उन्हें कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिए। ईसा मसीहकाभी ऐसाही उपदेश था। भगवान् महावीरने भी इस उपदेश को खूब फैलाया था। उनका कहना था कि ग्रहस्थ सब जीवोंपर दया करे, सबसे समताका व्यवहार रक्खे, अपने साथियोंसे विरोध न करे। चूंकि सब प्राणी दुःखसे घबडाते है, इसलिए किसीकोभी नहीं मारना चाहिए। सुख दुख सबमें समताका व्यवहार रक्खो और ऐसा व्यवहार मत करो जो तुम्हें स्वयही अप्रिय हो। यही कारण हैं कि बहुतसे हिन्दू मुख्यता जैन और बौद्ध मांस भोजन नही करते है। जैनी तो हरी साग-भाजी भी नहीं खाते है, क्योंकि वे सचित्त होती है और पीडा पहुँचाना पाप है। जैनी पानीभी छानकर पीते हैं। वे एक कीडेकी भी हिंसा नही करते है। असमर्थ पशुओंकी लिए उन्होंने पशुशालाएँ भी खोल रक्खी हैं। कुछ लोग समझते है कि जैनियोंकी यह अहिंसा अव्यवहारिक है। किन्तु यह धारणा गलत है। वह अव्यवहारिक इस लिए माल्रुम होती है कि मानवने अभी इतनी उन्नति नहीं कर पाई है। जब मानव उन्नति करलेगा तब सबलोक इस अहिंसा धर्मको पालने लगेंगे। इस प्रकार भारतीय चीन संस्कृतिमें अहिंसाकी महानता स्पष्ट है। इतिहास इसका साक्षी है कि भारत और चीनने आज तक किसीभी दूसरे देशपर आक्रमण नहीं किया और न दूसरे लोगोंको लूटा यद्यपि इन दोनों देशोंपर अनेक आक्रमण हुए और लूट भी हुई। विशेषता तो यह है कि भारतियों और चीनीयोंने इन जातियोंके लोगोंको अपनेमें मिला कर हज्मकर लिया जिन्होंने इनपर आक्रमण किया था। अतएव मेरा निवेदन है कि चीनी और भारतीय दोनो मिलाकर दुनियामें अहिंसा सस्कृतिको उन्नत बनाएँ जिससे लोकमें सुख और शान्तिका साम्राज्य स्थापित हो। —सं.]

If the question be asked, " What is the main thing in common between China and India ?" I would answer, it is our common culture. If it be further asked, " What is the chief characteristic of this common Indian and Chinese culture ? ", my unhesitating answer would be, it is Ahimsā. Hence the title of this article : Ahimsā in Sino-Indian Culture.

" Sino-Indian Culture " is a new term coined by myself about fifteen years ago. It has come into current use since the foundation of the Sino-Indian Cultural Society in both the countries India and China, in 1934 and 1935 respectively.

Culture, in my humble opinion, and to put it in a very simple way, is the cultivation of the whole of human life, and not only of the spiritual side of civilization as is usually regarded It is the compass, as well as the pilot, of the progress of human society. It gives significance to human life and distinguishes human life from that of plants and animals It helps man to realise at the first stage the real meaning and value of life, and ultimately to reach its real goal, in which alone there is eternal peace, love, joy, freedom and blessing. In this respect, there is not only much similarity but much identity between the culture of India and that of China. The most striking feature and analogy of these two cultures is the spirit of Ahimsā.

Ahimsā is a word negative in form but with a positive sense. Mahātmā Gandhi translated it into English as " Non-Violence." The ancient Chinese

Buddhist scholars translated it into Chinese as "Pu-Hai," meaning "Non-Hurting." It's positive form is 'Love,' 'Universal Love.' That is "Maitri" in Sanskrit, "Jen" in Chinese. These couples of words, Ahimsā and Maitri, or Non-Violence and Universal Love, or Pu-Hai and Jen, were born married. And they could never and would never be divorced or separated. They always carry the same message and disseminate the same gospel together. But the Chinese prefer to use the positive form rather than the negative, while Indians on the other hand prefer to use the negative one. Therefore the Chinese and the Indian have also become an unseparated couple in Culture.

Why was the negative word preferred by the Indians? Gandhiji once explained this by saying :— "All life in the flesh exists by some violence. Hence the highest religion has been defined by a negative word, Ahimsā. The world is bound in a chain of destruction In other words, violence is an inherent necessity for life in the body. That is why a votary of Ahimsā always prays for ultimate deliverance from the bondage of the flesh." (C. F. Andrews : Mahatma Gandhi's Ideas . p. 138).

The Chinese sage, Mencius, put it in another way. He said :—"Men must be decided on what they will not do, and then they are able to act with vigour in what they ought to do" If a man wants to do things good, he must first not do things evil. So also if a man wants to love people and other beings he must first not hurt them If a man preaches Love or Maitrī or Jen, but does not practise Ahimsā, or Non-Vlolence, or Jen, then his Love is no reality. It is merely a false expression or hypocrisy. Therefore almost all the great religions in the world uphold a set of precepts to govern the acts of their followers.

Ahimsā in Sino-Indian Culture is not only a very prominent feature but also an ancient tradition. It is as ancient as the culture itself. Or as Gandhiji said .— "Truth and Non-Violence are as old as the hills" (The Harijan : 28-3-1936) In India, Ahimsā is one of the most cardinal virtues and doctrines of almost all the religious and philosopbical sects. It had been repeatedly taught and expressly stated by the Rishis in the ancient scriptures, such as the Aitareya Brāhmana, the Śatapatha Brāhmana, the Chhāndogya Upanishad, the Vāmana Purāna and Manu's book of Law Therefore it was thus declared in the Mahābhārata :— "Ahimsā is the Supreme Religion." And Gandhiji did recite the same words on several occasions. (C. F. Andrews : Mahatma Gandhi's Ideas.)

But the Gospel of Ahimsā was first deeply and systematically expounded and properly and specially preached by the Jaina Tīrthankaras, most prominently by the 24th Tīrthankara, the last one, Mahāvīra Vardhamāna. Then again by Lord Buddha. And at last it was embodied in the thoughts, words and deeds and symbolized by the very life of Mahātmā Gandhi.

As Ahimsā is one of the cardinal virtues and doctrines of almost all the philosophical and religious systems in India, so also is it in China. The only difference is, as mentioned above, that instead of using the negative word Ahimsā, the Chinese preferred to use the positive word Jen.

Jen has a vast volume of meanings and a lot of diversities of interpretations. Different scholars of different schools have explained it at different times. Even the greatest saint of China, Confucius, gave it a good many different explanations to different persons on different occasions. Once asked by his disciple named Fan Chich: What about Jen? the Master said:-"To love all people." (Confucian Analects). At another time asked by another disciple, called Yen Yuan, about the same, he said :— " To subdue one's self and return to propriety; this is Jen." (Confucian Analects). Again answering the same question asked by another disciple, named Chung Kung, the Master said :— " Don't do to others what you would not wish done to yourself." (Confucian Analects). Again at another time another disciple, called Tzu Chang, asked the Master about the same topic, and he said in answering : "To be able to practise five things everywhere under heaven constitutes Jen." When asked what they were, the Master said ;— " Gravity, generosity, sincerity, earnestness and kindness " (Confucian Analects). Confucius also said on several other occasions :— "A man of Jen will always rest in perfect virtue." " Only the man of Jen can always love people." " A man devoted to Jen will have no hatred." (Confucian Analects).

In Yi-Ching, the Book of Change, (the Vedas of China), it has been said :— " The superior gentleman realised in the virtue of Jen will nurture people." " The great virtue of Heaven and Earth is life. The great jewel of the saint is his position. How to maintsin his position? It is by Jen." In Shu-Ching, the Book of History, it is written :— " The people have no fixed affection, but always think of the virtues of Jen." In Chung-Yung, the Doctrine of the Golden Mean, it was said :— " Jen is the characteristic element of humanity, and the great exercise of it is in loving all people, especially relatives."

Such passages in ancient Chinese scriptures are rather too many to be quoted one by one here. In general, Jen means Universal Love. Some European savants rendered it into English as Benevolence and Perfect Virtue. The Chinese classical scholars of Sung Dynasty also explained it as " The entire virtue of the heart." I think the Sanskrit word Maitrī as understood by Buddhist religlon and philosophy is the nearest equivalent to it.

This gospel of Jen was first properly taught and preached in China about twenty-five centuries ago by the greatest Chinese saint Confucius (551-479 B. C.). Then again it was more profoundly and systematically expounded and disseminated by the great Chinese sage Mencius (372-289 B. C.). Afterwards almost all the classical scholars of all the dynasties of China's long

history cherished, promoted and propagated the same message but explained and interpreted it according to their own ways. In modern times, Dr. Sun Yat-Sen, the father of the Republic of China, had scientifically employed the lofty ideals of Jen in his San Min Chu Yi, the Three People's Principles, for his national movement for the emancipation of China and the renaissance of Chinese culture.

Mencius was the first sage who attempted to apply this perfect doctrine to practical politics. When he first met king Hui of the Liang state, the king asked — "Venerable sir, since you have not counted it far to come here, a distance of a thousand miles, may I presume that you are likewise provided with counsels to profit my kingdom?" He replied: "Why must Your Majesty use that word 'profit?' What I am 'likewise' provided with, are counsels to Jen and Yi or benevolence and righteousness, and these are my only topics. If Your Majesty say, 'What is to be done to profit my kingdom?' the great officers will say 'What is to be done to profit our families?' and the interior officers will say, 'What is to be done to profit our persons?' Superiors and inferiors will try to snatch this profit, the one from the other, and the kingdom will be endangered ..... There never has been a man trained to Jen or benevolence who neglected his parents. There never has been a man trained to Yi or righteousness who made his sovereign an after consideration. Let Your Majesty also say, Jen and Yi or benevolence and righteousness and these shall be the only themes.' Why must you use that word 'Profit?'" (The works of Mencius).

With this noble mission, Mencius went from state to state and preached to and discussed with the kings one after another. Although none of them did actually act on his wise advice and made real avail of his presence, he had left behind an inextinguishable spirit of love, mercy and benevolence in the Chinese polity through all the long centuries. A few passages from his exhortations to the heads of the different states and his discourses with his discipls will illustrate a little more his lofty ideals.

"The man of Jen has no enemy."

"Treat with the reverence due to age the elders in your own family, so that the elders in the families of others shall be similarly treated; treat with the kindness due to youth the young in your own family, so that the young in the families of others shall be similarly treated."

"The carrying out of his kindly heart by a prince will suffice for the love and protection of all within the four seas, and if he does not carry it out, he will not be able to protect his wife and children."

"Jen or benevolence is the most honourable dignity conferred by Heaven, and the quiet home in which man should dwell."

" Benevolence is the tranquil habitation of man, and righteousness is his straight path."

" The benevolent man loves others. The man of propriety shows respect to others."

" Jen or benevolence is man's heart, and Yi or righteousness is man's path."

" Benevolence subdues its opposite just as water subdues fire. Those, however, who now-a-days practise benevolence do it as if with one cup of water they could save a whole wagon-load of fuel which was on fire, and when the flames were not extinguished, were to say that water cannot subdue fire. This conduct, moreover, greatly encourages those who are not benevolent." (The Works of Mencius)

Lao-Tsu, another of the greatest saints of China, elder than Confucius, was perhaps the only Chinese who preferred to use the negative rather than the positive phraseology in discourses on his principles. He would like to lay stress more on the passive side of things rather than on the active side. For instance, the Confucianists used to say . " The heart of Heaven is benevolence and love," but he said :—

" Heaven and Earth are not benevolent ; they treat all created things like straw dogs we use at sacrifices. The saint is not benevolent ; he looks upon the people in the same way." (Lao-Tsu : Tao Te Ching.)

Again he said :—

" Tao is eternally inactive, and yet it leaves nothing undone. If kings and princes could but hold fast to this principle all things would work out their own reformations. If, having reformed, they still desired to act, I would have them restrained by the simplicity of the Nameless Tao. The simplicity of the Nameless Tao brings about an absence of desire. The absence of desire gives tranquillity. And thus the Empire will rectify itself." (Lao-Tsu : Tao Te Ching.)

Lao-Tsu was also perhaps the first sage, not only in China but in the world at large, who openly and strongly opposed the use of violent force and weapons and condemned war. He said :

" He who serves a ruler of men in harmony with Tao will not subdue the Empire by force of arms. Such a course is wont to bring retribution in its train.

" Where troops have been quartered, brambles and thorns spring up. In the track of great armies there must follow lean years.

" The good man wins a victory and then stops ; he will not go on to acts

of violence. 'Winning, he boasteth not; he will not triumph; he shows no arrogance. He wins because he cannot choose; after his victory he will not be overbearing.

"Weapons are instruments of ill omen, hateful to all creatures. Therefore he who has Tao will have nothing to do with them." (Lao-Tsu: Tao Te Ching.)

He went even so far as to say :— "The violent and stiffnecked die not by a natural death."

"The best soldiers are not warlike; the best fighters do not lose their temper. The greatest conquerors are those who overcome their enemies without strife." (Lao-Tsu: Tao Te Ching.)

Another great Chinese saint who preached the same gospel of Ahimsā or Non-violence as Lao-Tsu and of Jen or Love as Confucius and Mencius but in a different way from them all, was Mo-Tsu.

Mo-Tsu lived a little later than Lao-Tsu and Confucious but earlier than Mencius. He was born about 500 B. C. The mode of his life, his ideals and works are very similar to that of the Ancient Indian Buddhist Bodhisattva Ksitigarbha and that of Gandhiji. I therefore have sometimes called Mo-Tsu the ancient Mahātmā of China and Gandhiji, the modern Mo-Tsu of India. Mencius described him by saying : "If there is benefit for the world, he will do it even by grinding away his body from crown to heel."

Mo-Tsu preached the Gospel of Non-Violence and opposed war not only by words but also by action. Once when he heard of the news that the Chin State was to attack the Sung State, he immediately went from his native state Lu, walked for ten days and ten nights, to see the king of Chin and persuaded him to stop the aggression, and he succeeded in his effort.

According to Mo-Tsu's philosophy, all people should only love one another, should not fight and hurt any body; this is the will of Heaven. He said :—

"Heaven wishes people to love and benefit each other, and does not want people to hate and hurt each other. Why? Because He loves all and benefits all"

"How do we know that Heaven loves all and benefits all? Because He possesses all and feeds all."

"How to follow the will and wish of Heaven? That is to love all people under Heaven." (Works of Mo-Tsu.)

He thought that Non-Loving is the only cause of chaos and calamities and attacking a country and killing people are the greatest sins in the world. Thus he said :—

"How were chaos and calamities caused? They were caused by people not loving each other. A thief loves his own house and does not love the others' house, he therefore steals the others' house for the benefit of his own house. A murderer loves his own body and does not love the others' body, he therefore murders the other's body for the benefit of his own body......... Officers, each loves his own family and does not love others' family, they therefore exploit others' families for the benefit of their own families. The state kings, each loves his own country and does not love others' countries, they therefore attack others' countries for the benefit of their own countries. If all look upon others' houses as their own house, who will steal? If all look upon others' body as his own body, who will murder? If all look upon others' family as his own family, who will exploit? If all look upon others' country as his own country, who will attack?......Therefore, when all love each other, there will be peace and when all hate each other, there will be chaos and calamity." (Works of Mo-Tsu.)

Again he said :— "To kill one man is called wrongful and must receive one death punishment. Accordingly to kill ten men is ten times wrongful and must receive ten death punishments. And to kill hundred men is hundred times wrongful and must receive hundred death punishments......... Now the greatest wrongful is to attack a country but receive no punishment. ......Is this right?" (Works of Mo-Tsu.)

Again he said :— "Which are the greater ones among the evils of the world? They are those actions of the big countries attacking small countries, of the big families disturbing the small families; and those deeds of the strong robbing the weak, of the group of many oppressing the group of few, of the clever deceiving the dull, of the high class scorning the low. These are the greater evils of the world." (Works of Mo-Tsu).

The foregoing paragraphs have dealt at sufficient length with the ideals and messages of the Chinese saints and sages. Now, come to India again.

In India, Mahāvīra Jina and Śākyamuni Buddha preached almost the same gospel in the same way. The fundamental principles and teachings of both of them, such as the "Pancha Śīlāni" or the five rules, are nearly the same. Those of Buddha are :— First, Non-killing; second, Non-Stealing; third, Non-Adultery; fourth, Non-Lying, and the fifth, Non-Drinking. And those of Jaina are first, Speaking the-Truth; second, Living-a-Pure-and-Poor-Life, third, Non-killing; fourth, Non-Stealing; and fifth, Observing-Chastity.

The Three Jewels (Triratna) of Jaina, namely: (1) Samyag - Darśana, right conviction, faith and perception combined: (2) Samyag-Jnāna, right knowledge, (3) Samyag-Chāritra, right conduct; are all included in the Eight-fold Noble Path (Āryamārga) of Buddha, namely :—(1) Samyag-Dṛṣti, right views; (2) Samyag-Saṃkalpa, right thought; (3) Samyag-Vac, right speech

(4) Samyag-Karmanta, right conduct; (5) Samyag-Ājīva, right livelihood; (6) Samyag-Vyāyāma, right effort, (7) Samyag-Smṛti, right remembrance; and (8) Samyag-Samādhi, right meditation. Both these sets of items are right ways leading to the same goal, Nirvāna.

Besides, both, Jina Mahāvīra and Śākaymuni Buddha, believed in the doctrine of Karma and Samsāra. They both denied the omnipotent creator God , and believed that only one's own zeal and effort could work out one's own salvation.

The similarity between the two religions, Jainism and Buddhism, is so great that some western savants mistook them for one and the same. The real facts are that from the religious point of view they were indeed very similar to each other, but from the metaphysical point of view they are quite different

But the most striking feature of the two religions is the same teaching, the same gospel of Ahimsā in both it's positive and negative senses , in it's negative sense of "absolute and perfect harmlessness towards all living beings," and its positive sense of " absolute and eternal happiness for all living beings "

As Love is the indissoluble partner of Ahimsā as stated before, Truth is another inseparable companion of Ahimsā As Gandhiji once said :—

" Ahimsā and Truth are so intertwined that it is practically impossible to disentangle and separate them. They are like the two sides of a coin, or rather a smooth, unstamped metallic disc. Who can say, which is obverse and which the reverse ?" (From Yeravada Mandir, 13.)

Ahimsā, Love, Truth are the trinity of One which we may call the Supreme, or God, or Heaven, or Brahma, or any other name we like. In carrying out their mission this Trinity have again a number of allies or comrades such as Charity, Sacrifice, Selflessness, Fearlessness, Forgiveness, etc. Thus Gandhiji said :

" In its positive form, Ahimsā means the largest love, greatest charity. If I am a follower of Ahimsā, I must love my enemy. I must apply the same rules to the wrong-doer who is my enemy or a stranger to me, as I would to my wrong-doing father or son This active Ahimsā necessarily includes truth and fearlessness." (Speeches and Writings of Mahatma Gandhi, 346)

" Ahimsā is the extreme limit of forgiveness. But forgiveness is the quality of the brave. Ahimsā is impossible without fearlessness."

" Let us now examine the root of Ahimsā. It is uttermost selflessness. Selflessness means complete freedom from a regard for one's body. If man desired to realise himself, i. e. Truth, he could do so only by being completely

detached from the body, i. e. by making all other beings feel safe from him. That is the way of Ahimsā." (Young India, 4-11-1926, 384-385.)

Now, what is the truth of Ahimsā? The truth is this. All living beings in the world have the same life and the same soul. They belong to the same Mother, come from the same origin and will return to the same home. It is like a tree of which the stem, branches, leaves, flowers and fruits all come into being from one and the same root. It is also like an ocean, of which all individual beings are but it's separate drops. We therefore belong to all, and all belong to us. Thus the Chinese sages said :—

" Heaven, Earth and I were born at the same time, and all beings are one and the same with me." (Chuan-Tsu : Tsi-Wu-Lun.)

" All things are one " and " Love all beings ; Heaven and Earth are one and the same body." (Hui-Tsu . Quoted by Chuan-Tsu.)

" All things are already complete in me." (Mencius : Book of Mencius.)

" All people are my brethren and all things are my fellows." (Chang-Tsai : Si-Ming).

As such, we therefore should love not only all people but all living beings. We must treat all of them as ourselves and must not hurt any of them, causing them pain just as we would not like any of them to hurt us, causing us pain, following the Golden Rule in the great Epics taught by the ancient Indian sages : " Do naught to others which if done to thee would cause thee pain." Jesus Christ and Confucius also gave us exactly the same message. Jesus Christ said in His Sermon on the Mount : " Whatsoever ye would that men should do to you, do ye even so to them." Confucius said in answering to a question as to " What is the most simple way one may follow for his whole life time ? ", put by his disciple : " What you do not want done to yourself, do not do to others "

Lord Mahāvīra illustrated this message in an even more lucid way in the following passages :—

" The man also, who still lives in the house, should, in accordance with his creed, be merciful to all living beings ; we are bidden to be fair and equal with all."

" Towards your fellow-creatures be not hostile ; that is the Law of Him who is rich in control."

" All beings hate pain : therefore one should not kill them."

" A man who insults another will long whirl in the cycle of births ; to blame others is not good."

" A cruel man does cruel acts and is thereby involved in other cruelties but sinful undertakings will in the end bring about misery." (Sūtra Kṛtāngā. S. B. E. Series.)

" In happiness and suffering, in joy and grief, we should regard all creatures as we regard our own self, and should therefore refrain from inflicting

upon others, such injury as would appear undesirable to us, if inflicted upon ourselves." (Yogaśāstra)

This is the reason why most Hindus, especially the Jains and the Buddhists, would refrain from taking any flesh for their food. The Jainas would even refrain from taking fresh vegetables, because they are living, and to hurt any living thing is in Jainism, a daily sin They go even so far as to drink only boiled water or the ascetics of the Sthānakavāsi Jaina sect even breathe with a cloth across their mouth to avoid insects and unseen 'Jīvas' inhabiting the air. They would also sweep their path lest they may tread on insects. According to the Jains, under the law of Ahimsā, killing of vermin is also, forbidden, so that asylums have been established for decrepit animals rather than that they sould be put out of their misery by the destruction of life.

People may think that the way which the Jains preach and follow is rather impracticable and therefore unreasonable. This is wrong notion. It may be impracticable but is not absolutely unreasonable. It is impracticable because humanity has not yet progressed enough. When humanity has sufficiently developed and reached a certain higher stage, this law of Ahimsā should be and would be followed by all.

From what has been said above we can have an outline of the spirit of Ahimsā in Sino-Indian Culture. The facts related and the possages quoted re only those which came readily to my mind and were easily available. Similar facts and passages of the same kind are too numerous in Chinese and Indian literature and scriptures to be quoted in full. It is even difficult to make the best adequate selection of them. These facts and passages were not merely religious ideals or ethical principles but actual and real events in history. Looking over the histories of India and China, from the very beginning to the present day, these two countries have never attacked or invaded any other country, never exploited any other people, though they have often been attacked, invaded and exploited by other warlike peoples. But those who invaded India and China were often assimilated and absorbed by Indian and Chinese cultures, and have enjoyed with the Indian and Chinese people their national wealth and harmony of life.

It has been therefore my firm belief, and also my humble mission, that we Chinese and Indians, the two greatest peoples of the world, should culturally join together and mingle together to ereate, to establish and to promote a common culture, called Sino-Indian Culture, entirely based on Ahimsā By creating, estsblishing and promoting this common Sino-Indian culture, we shall further create, establish and promote a common world culture on the same basis. By creating, establishing and promoting a common World Culture, we shall create and establish a great union of the world. And by creating and establishing a great Union of the World, we shall lead the world to real and permanent peace, love, harmony and happiness!

Ahiṁsā, the Crest-jewel of Indian Religion and Ethics.

By P. K. Gode, M. A,, Curator, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona 4.

[श्री परशुराम कृष्ण गोडे महोदयने इस लेखमें अहिंसाकी व्यापकताका दिग्दर्शन कराया है। आप लिखते है कि ऐतिहासिकरीत्या भारतवर्षमें अहिंसा सिद्धान्त ढाई हजार वर्षोंसे प्रचलित है। ईस्वी पूर्व ७ वीं शतीके 'छान्दोग्य उपनिषध' (३।१७) में इसका उल्लेख हुआ है। 'आचाराङ्गसुत्त' (१।४।२) में जैनमुनियोंके पांच महाव्रतोंमें अहिंसा पहला व्रत बताया गया है। बौद्धोके निकटभी अहिंसाधर्म मान्य था। सम्राट अशोकके प्रथम द्वितीय एवं चतुर्थ धर्मलेखोंमें अहिंसाका उपदेश हैं। गर्ज यह कि गत दो हजारसे अधिक वर्षोंमें अहिंसाका प्रभाव भारतव्यापी रहा है। भारतीय चरित्रधर्मका आधार मनीषी ऋषियोंकी विचारधारा रही है। ज्ञानप्रकाशमें चारित्र बढा हैं। इसी लिये अहिंसा सबही भारतीय धर्मोंमें मुकुट-मणि बना हुआ है। जिन व्यक्तियोंको प्राचीन भारतके अध्यात्मवादमें आस्था है वे अहिंसाकी उपयोगिता और महत्तासे इनकार नहीं कर सकते। हम अपने दैनिक व्यवहारमें उस व्यक्तिका आदर करतेही हैं; जो विचार्शील होता है और समाजके सुख-दुखमें घुला-मिला रहता है। फिर भला उन ऋषियोंकी क्या बात जो अहिंसाको आगे रखकर लोककल्याणके लिये अपना जीवन उत्सर्ग कर देते थे। वैज्ञानिक युगका प्राणी उनकी महत्ता आक नहीं सकता। उन ऋषियोंने पहले आत्मविजयी होना लोक-विजयके लिये आवश्यक माना। उन्हें दिग्विजयके लिये बडी सेना आवश्यक नहीं थी और न उन्हें पंचवर्षीय या दसवर्षीय योजनासे मतलब था। वे तो आत्मविजयके लिये जीवन भरकी योजनाका अनुकरण करते थे। स्वराज्यकी वह स्वर्ण-व्यवस्था थी, जिसमें किसी प्राणकी हिंसा नहीं थी। वह योजना द्वेष और घमंडके विरुद्ध प्रेम और त्यागभाव पर अवलम्बित थी। ब्राह्मण, जैन और बौद्ध-तीनों धर्मोंमे अहिंसामय स्वराज्यका विवेचन खूब मिलता है। इस लोकतंत्रवादके युगमें अधिकाधिक संख्याके अधिकतम लाभ पहुंचानेके सिद्धात पर बहुत जोर दिया जाता है। राजनैतिक क्षेत्रके ज्ञाता यह जानते हैं कि आज प्रत्येक राष्ट्र इस सिद्धातको सफल बनानेका हामी हैं; परन्तु प्रत्येक राष्ट्रका अपना स्वार्थ इस सिद्धांतको सफल बनानेकी परिधि बना हुआ है। अतएव यह सिद्धात सार्वहितसे दूर जा पडा है और लोकसंघर्षका कारण बन गया है, जो हिंसा है। दो महायुद्धोंके पश्चात् शान्तिमय उपाय द्वारा इस सिद्धान्तको सफल बनानेका अन्तरराष्ट्रीय उद्योग हो रहा है। अहिंसासे उसको पूरा करनेका प्रयत्न चल रहा है। 'लीग ऑफ नेशन्स'से यह प्रयास प्रारंभ हुआ और अब संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद (UNO) में परिवर्तित हो गया है। किन्तु हमें तो भय है कि वह अहिंसाका ठीक उपयोग कर सके। भारतमें अहिंसाका प्रसार व्यक्तिकी आन्तरिक शुद्धिसे हुआ था-बहुसंख्याके जनमत पर वह नहीं फैली थी। व्यक्तिके हृदयमें अपना और अपने राष्ट्रका हित साधनेकी पुनीत भावना जागृतकी गई थी-वहा जनमतकी आवश्यकता ही क्या थी? सरासु० परिषदमें बडी गहरी राजनैनिक चालें चलीं जातीं हैं, पर वे तो सत्य और अहिंसा धर्मके प्रतिकूल है। प्राचीन भारतमें सरकारी बल पर अहिंसाका प्रचार नहीं किया गया, बल्कि व्यक्तिका हृदयपरिवर्तन करके ठोस स्वराज्यकी स्थापना की गई थी। आज अन्तर्राष्ट्रीय

प्रयत्न यह हो रहा है कि कोईभी राष्ट्र सैनिक सामिग्री इकट्ठी न करे, बल्कि उसे नष्ट कर दे। पराजित राष्ट्रोंकी सैनिक सामग्री नष्ट करके अहिंसाकी पूर्तिका आभास माना जा रहा है। किन्तु वास्तवमें हो इसके विपरीत रहा है। सैनिक शक्ति और विध्वसक वैज्ञानिक शस्त्रास्त्र बढाये जा रहे हैं। ऐसे तो युद्ध समाप्त नहीं होनेका। आशङ्का और अविश्वासमेंसे अहिंसक विश्वशान्ति नहीं जन्म सकती। इसका ठीक उपाय तो म० गांधीके समान अहिंसाको व्यवहारिक रूप देना है। राष्ट्रका प्रत्येक व्यक्ति जब अहिंसासे अनुप्राणित होगा तो कभी भी शान्तिभङ्ग न होगा और तब लोक समृद्धिशाली हो सकेगा। जैनोंने अहिंसा सिद्धातको बहुतही आगे वढाया है। जैन ऋषियोंको अहिंसा धर्ममें दृढ विश्वास था। उन्होंने लाख कष्ट सहन करके उसे दैनिक जीवनमें उतारा था। वे अपने आदर्श चरित्रद्वारा मानव जातिके सच्चे गुरु (शिक्षक) बनना चाहते थे, इस लिये ही उन्होंने उदाहरण उपस्थित किया। सत्य और अहिंसाकी वे मूर्ति बन गये। वे लोकमें मान्य हुये-लोकने उनका आदर किया। किन्तु आजके शिक्षक ऐसे नहीं–वे तो न घरके हैं, न घाटके। आज मनोवैज्ञानिक शिक्षा प्रणालीकी शेखो बघारी जाती है, परंतु उससे शिष्यके मनोविज्ञानमें कोई परिवर्तन नहीं होता। फिर उससे क्या लाभ? केवळ सुंदर भाषण सुननेसे कुछ लाभ नहीं। प्रस्तुत विषयका अध्ययन करके तद्रूप जीवन व्यवहार करनाही कार्यकारी है। म०गाधीका उदाहरण हमारे सन्मुख है। अतः हमें अहिंसाका पालन अपने दैनिक जीवनमें करना उचित है। का० प्र०]

The doctrine of *ahimsā*[1] or non-injury has a clear antiquity of more than 2500 years in this Bhāratavarsa. It first finds expression in the *Chāndogya Upanisad* (3.17), the date of which is about 7th century B. C. It is the first of the five vows of Jain ascetics according to *Ācārāngasutta* 1.4.2 (See Jacobi's Trans. of *Jain Sūtras*, 1.39). This doctrine has been common to all Indian Sects though each school looks at it in a different way. The early Buddhists adopted it fully and Emperor Aśoka made it the subject of his first and second Rock Edicts. He also refers to it in his fourth Edict. The Jainas are said to have carried this doctrine to great extremes. This in short is the early history of this doctrine which has exercised tremendous influence on our national character for more than 2000 years as vouched by Indian literary texts, Brahmanical, Jain and Buddhist.

Indian sages have been masters of thought for thousands of years. All that is best in Indian Ethics owes its origin to their thought, the cream of which has been fortunately preserved in early philosophical and religious literature of the Brāhmanas, the Jainas and the Buddhists. The doctrine of *Ahimsā* is the Crest-jewel of Indian religious and ethical thought and we must really congratulate all our countrymen of these three sects for trying their best to bring it into practice at great inconvenience and sacrifice to themselves. This doctrine can have no apeal.to persons who believe merely in biological values but it is bound to appeal to those souls who are capable of any thought and reflection worthy of our ancient Indian spiritual tradition.

---

1. Vide p. 231 of *Encyclopaedia of Religion and Ethics* by Hastings, Vol. I (1908) — article on *ahimsā* by T. W. Rhys-Davids.

Biological values develop ample sense and sensibility in an individual. They are incapable by their very nature to develop any spiritual and altruistic out-look on life, which is the outcome of a thinking mind and a feeling soul. Even in our social intercourse, we regard with esteem and affection a person who has a thinking mind and a feeling soul, and who is, therefore capable of identifying himself completely with the woe and happiness of all his brethren. If the possession of a thinking mind and a feeling soul is a great social asset in an individual, what can be said of those ancient sages, who completely identified themselves with the cosmos and struggled continuously in carrying out all the logical implications of such an identification, among which *ahiṁsā* stood foremost ? Theirs was a super-human attempt to conquer the forces of conflict which govern a world run on biological values. Their approach towards this conquest began with themselves and they realized that it was futile to make an attempt to conquer the forces of conflict in the world when their own minds remained full of conflict between the self and the not-self, a conflict between their moral-cum-spiritual inclinations on the one hand and the biological tendencies, which they had in common with the entire animal creation. Unlike kings and potentates who organized armies and rushed for a *digvijaya* or conquest of all neighbouring kingdoms or nations, our thinkers of ancient India laid down, not a five-year or a ten-year plan, but a whole-life plan of self-conquest. It was the noblest plan of self-government, which involved no loss of life or property to their fellow-men. It was a plan based rather on self-sacrifice and love for all beings in the world, purged of hatred and spirit of envy born of self-love. It was only the intense moral and spiritual urge in these thinkers that led them to execute their rigorous plan of self-government about which we hear so much in all early religious and philosophical literature, Brahmanical, Jaina and Buddhist.

We hear much in this democratic world about the "greatest good of the greatest number" for which every democracy has been struggling in its onward march towards this ideal. The students of political science, however, tell us that modern democracies are competing with one another in achieving "the greatest good of the greatest number" for their own countrymen so that "the greatest good of the greatest number" in one democracy is not always identical with that in the other and consequently there is international tension and conflict leading ultimately to *hiṁsā*. It is only after two great world-wars that the best thinkers of today have been hankering after a world-unity based on "the greatest good of the greatest number" in all the nations of the world. These thinkers want to achieve this good by settling all international disputes by peaceful means without recourse to *himsā*. This is, however, an objective approach to the doctrine of *ahiṁsā*. It was first initiated by the foundation of the League of Nations and has now assumed the new form of the *United Nations Organization* and its Security Council. Though all our blessings must go to this *UNO* in its attempt to prevent *hiṁsā* we are

doubtful about its ultimate efficacy as its approach to the doctrine of *ahiṁsā* is more objective than subjective. The Indian doctrine of *ahiṁsā* as initiated by our sages more than 2000 years ago was mainly subjective and they tried to enforce it by an inward reform of the individual and not by mere votes of a majority, each member of which has at heart his own good or that of his individual nation. The game of political hide-and-seek practised at the Sessions of the UNO bespeaks no doubt much political wisdom but it is contrary to the Spirit of Truth and Non-violence (*Satya* and *Ahiṁsā*) which was initiated and promulgated by our ancient seers not through the medium of government propaganda but by bringing it into practice in their own lives, which were great exemplars of this spirit through centuries of Indian religious and cultural history. While our ancient seers conducted their *self-government* on the strength of *introspection*, the big nations of today with their objective approach to *ahiṁsā* have been carrying out an *inspection* and destruction of the war-materials of the nations defeated in the recent world-war. These nations have been, however, increasing their military strength by equipping themselves with new scientific instruments of destruction like the Atom Bomb with its kith and kin together with the entire brood of weapons tried and tested in the two great world wars This scientific remedy to stop the disease of war is worse than the disease itself. If Philosophy begins with doubt, politics begins with doubt and distrust and any measures that foster such doubt and distrust are bound to fail. In the game of mutual bluff now going on in international politics there is a spirit of doubt and distrust instead of mutual frankness of heart and trust which are engendered by a saintly handling of political problems, which characterized the entire life of Mahātmā Gandhiji, the fearless exponent of *ahiṁsā* in the modern world, who during his life-time practised *ahiṁsā* in thought, word and deed and who in his death, attained martyrdom and thereby transmitted his noblest message of *ahiṁsā* to his fellow-beings in the nooks and corners of the world. By sacrificing himself on the altar of *ahiṁsā* he has vindicated the ancient Indian doctrine of *ahiṁsā* in the modern world.

The Jainas are said to have carried the doctrine of *ahiṁsā* to extremes. This criticism is based on common sense with its two allies utility and hypocrisy. Even in common parlance we oft repeat the saying " If a thing is worth doing it is worth doing well." In the same manner the Jaina sages who believed in the doctrine of *ahiṁsā* put it into practice without calculating the hardships attending such practice, for to them belief and conduct were identical. These sages were not guided by the standards of utility which govern the conduct of a practical man of the world. They wanted to be the teachers of mankind by leading a model life, free from hypocrisy but based on *Satya* and *Ahiṁsā* (Truth and Non-violence). The life of a teacher has always been a very hard one, whenever such a teacher tried to practise those virtues which he preached to his students. The ancient

teacher was highly respected not only by his students but by the public at large. The modern teacher is in a pitiable plight as he is neither respected by his employers nor by his students. Our educationists, however, boast that they have themselves learnt and taught the psychology of education to their teachers to make them efficient in their vocation. What is the use of this psychology which cannot change the psychology of the students and elicit any respect from them either for their teachers or their elders ?

Force of character is engendered not by merely listening to lectures, collegiate or otherwise, but by study and reflection coupled with an idealistic urge in the individual to live a noble and virtuous life, models of which are not wanting even today. This fact has been brought home to us with a tragic emphasis by the noblest life of Mahatma Gandhiji, the greatest apostle of Truth and Non-violence, who sacrificed his life in practising these virtues for the benefit of humanity. By this sacrifice he has silenced all the critics of his life-time as also those of future generation. His inner voice, which guided all our leaders in their struggle for freedom and crowned it with epoch-making success, will now reverbarate across the corridors of time, and continue to cheer up all nations in bondage by its immortal message of *satya* and *ahiṁsā*, a message symbolized by the *dharma-cakra* (wheel of law) which once perched on *Aśoka's* pillar and now perches on our national flag demonstrating to the world the victory of these cardinal virtues for which Mahatmaji lived, moved and had his being without swerving an inch from the path of the ancient prophets like Śrī Mahāvīra, Śrī Buddha and others.

" न प्राणान्ते प्रकृतिविकृतिर्जायते चोत्तमानाम् "

" है जहाँ धर्म, है वहाँ विजय,
है जहाँ सत्य, है वहाँ विजय,
है जहाँ अभय, है वहाँ विजय,
है जहाँ अहिंसा—वह निर्भय ! "

—श्री उदयशंकर भट्ट

Thoughts for World-Peace.

By Mrs. Evelyn S. Kleinschmidt, Downer's Grove, Ill, U. S. A

[श्रीमती क्लीन स्मिथ अमेरिकाकी विचारशील भद्रमहिला हैं। सन् १९३३ में जब शिकागोके विश्वधर्म सम्मेलनमें स्व० बैरिस्टर चम्पतरायजी जैन सम्मिलित हुये तो वह उनके भाषणोंसे प्रभावित हुई। श्री जैनजीको उन्होंने अपना गुरु माना और उनसे जैनधर्मकी शिक्षा ली। प्रस्तुत लेखमें उन्होंने इस प्रसगका उल्लेख करके लिखा है कि यद्यपि वह बाह्यजगतके कार्योंमें सफल मनोरथ थीं, फिरभी उनका जीवन शून्यवत् था। जीवन का प्रयोजन उनको जैनजीके सदेशसे मिला। हर कोई जीवनमें सुख, शान्ति चाहता है, किन्तु उसके लिये करना कुछ भी नहीं चाहता। अनेक जन्मोंसे दैनिक जीवनचक्र-खाना, पीना, सोना, जागना प्रत्येक व्यक्ति करता आया है, किन्तु किसीने भी जीवनके उद्देश्य और गतिको जाननेका प्रयत्न नहीं किया। दूसरोंके उत्कर्ष पर ईर्ष्या क्यों? कर्मसिद्धात पर ध्यान दे तो प्रत्येक मानव स्वतः उन्नतशील हो। जैसा बोओगे वैसा पाओगे। पशुपक्षी, वनस्पति, पाषाण, मानव-सबहीमें परमात्मरूप जीवन चमक रहा है। किन्तु दुनियाके लोग अच्छी बातोंको देखही नहीं रहे हैं। लोकमें युद्ध, हत्या, मानववध और पशुहत्या आये दिन होते हैं। इनका ही फल लोकको दुख, शोक, रोग और पीडामें मिल रहा है। कर्म सिद्धान्तको कोई बदल नहीं सकता। लोकके सभी महात्माओंने प्रेम और अहिंसाका उपदेश दिया; किन्तु मानवने अपने जीवनमें प्रेम और अहिंसाका व्यवहार करना नहीं सीखा। परिणाम लोककी भयंकर स्थिति है। अब तो बहुत युद्ध लड चुके। क्या यह समय नहीं है कि मानव अहिंसामय शिष्ट जीवन बिताना सीखे? अब मानव हत्या-हत्याही क्यों करता रहे? द्वेष और प्रतिहिंसाकी आगमें मानव क्यों जलता रहे? क्या किसी युद्धसे लोकका भला हुआ है? कदापि नहीं। तलवारसे जीवित रहनेवाला तलवारसे मरता है। जबतक मानव दिव्य जीवनका जिज्ञासु नहीं तबतक उसका कुछ महत्व नहीं। जब उसकी भावना सार्वहितके लिए जाग्रत होगी और उसका जीवनव्यहार लोकके लिये होगा, तभी उसका जीवन सार्थक है। भ० महावीरकी शिक्षाभी लोककल्याणके लिये है। विश्व-शान्तिका उपाय अहिंसा और सत्य आत्मधर्म है। —का० प्र०]

The late Mr. Champat Rai Jain, was at one time my teacher, both here in the United States and later in London, England Our association was most pleasant and profitable and my esteem and regard for him are boundless He found me at a time when my experiences had proven to me, that without some kind of firm foundation, this life was profitless and dull. I was looking for something to lift me out of depression. Inspite of the fact that my life had been full and rich and I had done all the things in the outer world that I had wanted to do, still it seemed empty and devoid of meaning.

We all want peace, happiness, security and a feeling of being worth while. That is the innermost desire of every one on earth, I believe, but how many of us are willing to do the things that will BRING these qualities

श्रीमती इलीयन् क्लीनस्मिथ, मेवुड, (अमेरिका)
(स्व. बैरिस्टर चम्पतरायजीकी अनन्य शिष्या और उनके पति)
Mrs. E. Klienschmidt.
(with her husband) (Page 322)

श्री हर्बर्ट वैरन साहब, लंदन ।
(वयोवृद्ध अंग्रेज जैन-बन्धु)
Mr. Herbert Warren
(Page 149)

श्री वाल्टर लैफर
(जर्मन विद्वान्)
Herr Walter Leifer
(Page 293)
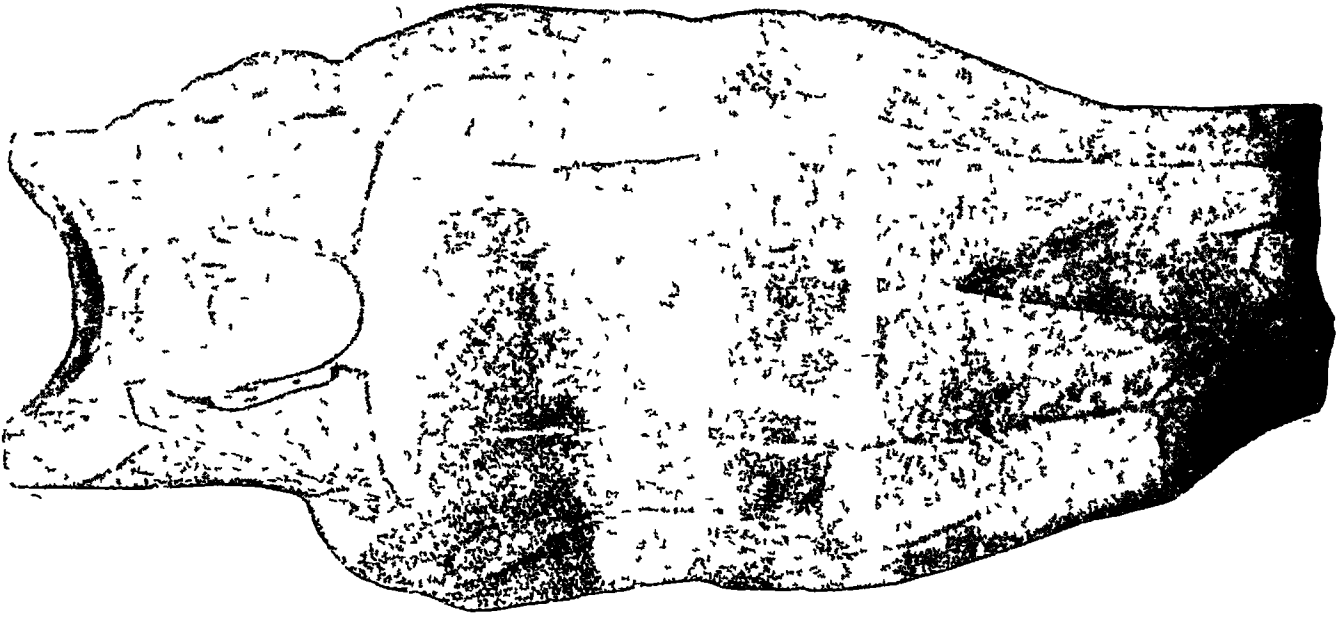
Fig XIV सर्वतोभद्रिका जिनप्रतिमा।
(मथुरा सग्रहालय क्रमाक ३२०९)

Fig XV भ. महावीरकी एक मूर्ति
(मथुरा सग्रहालय, क्रमाक ३१९०)
An Image Of Lord Mahāvīra
(Mathura Museum)

into our lives? How many of us even try to figure out what we should do, to attain them? It is not enough to just try to be good, to go thru our every-day life doing things in the outer world thru a sense of duty-getting up in the morning, eating, drinking, going about our daily activity and going to sleep at night, every day the same routine, without advancing our inner peace or understanding. How many *LIFE TIMES* have we gone true like that? If each one of us would take time out to just think thru or even question what we are here for, where we came from, where we are going and how to get there, and REALLY WANTED TO KNOW these things! That would be a beginning.

Instead of envying others the blessing we see them having, gratitude to LIFE would open the door for us to have like blessings for life cares; not who uses it, nor how much we use. The Law of the Circle, the Law of the KARMA, would bring back to us the blessings untold, that we could and should send out to life in every form on the earth. Animal, vegetable, mineral, plant, mankind, the life in all is GOD—Life. Blessing it all the time not once in while, but blessing all life everywhere, all the time, would open the doors to such blessings to come back us as we could scarce imagine. You don't believe that? Have you ever TRIED it out? I have and I know that my gratitude and blessing to life bring me such joy, and happiness and success and such inner peace as I never used to have.

The people of the world, all the people everywhere, are losing the fine things of life thru lack of gratitude and appreciation to life. Fighting, killing soaking the ground with blood of mankind, killing animals, being so vicious and unkind to each other, can these things bring us anything but trials, suffering, lack, disease and their kind? It is not possible! Everywhere there is known the Law of the Circle-that what we sow comes back to us. No one ever yet got flowers from planting onions, or grapes from thistles! No one ever will!

The seed brings forth after its own kind and no one can change that Law. So if the world is reaping a harvest of lack, hatred, killing, wars, desease, famine, ills, distress and discord, it would be well to look back to what we have planted! Have we bound up the wounds of hate, have we loved as we have been taught by all the great teachers who ever came forth? Have we tried to understand our purpose in living down here on this planet? Have we tried to bring forth the Harmony of Life? Have we loved and blessed? Have we tried the great solvent of all human ills, just LOVE to all life everywhere? The answer is apparent in what is happening in the world today-chaos, confusion worse confounded.

Haven't we had enough wars-haven't we had enough hate? Haven't we had enough confusion? Isn't it time mankind tried to learn *How to live?*

Why must we fight every body who does not agree with us? Why must we kill and kill and kill? Why should mankind go insane with lust and hate and revenge and more and more killing? Did it ever solve anything? Has any war on earth ever done anybody any GOOD? NO!! He who lives by the sword dies by it!

No one on earth is important until He asks the Divine way of Life, until he is governed by desire for peace for the whole of humanity-until he LIVES for the WHOLE, for what is good for the whole is good for the individual. If you want peace and joy, happiness and comfort, then ask for it for all of Life everywhere, *want* it for everyone on earth, for your so-called enemy and friend alike-for LIFE is everywhere! What is power and money-position and influence, UNLESS it is used for the good of all? It makes man drunk and destroys him and if power and influence are not used for the good of all, it destroys him who seeks it. We bring nothing here, we take nothing away and gratitude for what Life provides, would give us all plenty Try it and see.

I AM the peace that passeth understanding, I AM the Resurrection and the LIFE of the Peace that all crave; I AM the word that releases mankind from discord and want! I AM the Treasure House of the universe. Call into ME and I SHALL answer you. Prove me now herewith, if I SHALL NOT OPEN the windows of Heaven and pour out such treasure that there is not room to receive it. Life is no respector of persons-Life cares not who uses it—God is not stingy nor is He hard of hearing! But mankind must learn kindness to all Life, must want PEACE for all Life, must try and learn what IS the Divine Plan for each Life Stream, if they are to survive on this earth for we are passing into the Golden Crystal Age on this earth and the LIGHT IS COMING into earth, and he who cannot stand the LIGHT must be removed to another school house until he learn the way of PEACE and LOVE and Courage and Joy. The time is past when mankind can live hating one another. We are all part of the ONE WHOLE-we must learn to live for the WHOLE and then the PART will be at PEACE!

Remember the teaching of Mahāvīra, the great apostle of Ahimsā and let the non-violence prevail:—

"Towards your fellow-creatures be not hostile ..All beings hate pains; therefore one should not kill them."

Vegetarianism Versus Insanity.

By Dr. William Henry Talbot, Fareham, (England)

[डॉ० टॉल्बॉट सा. एक विचारवान अहिंसक-वृत्तिके जैनधर्मानुयायी अंग्रेज महानुभाव है। आपने हमारे निवेदनको स्वीकार करके शाकाहारकी विशेषता और मासाहारकी अनावश्यकता एवं उसकी हानियोंको बताते हुये यह सुंदर लेख लिखा है। इस लेखके मूलभावको लेकर श्री डॉ० किशोरीलालजी वर्माने एक लेख हिन्दीमें लिखनेकी कृपा की है; जो अन्यत्र प्रगट हो रहा है। पाठकगण डॉ. टॉल्बॉट सा० की विचारसरणीको उससे जान सकेंगे। डॉ० सा०ने टीका लगानेकी प्रथाका भी विरोध किया है, क्योंकि टीकाकी सुई अथवा टयूब बनानेमें पशुओंको महान् कष्ट दिया जाता है। बछडो, घोडों आदि पशुओंको अधमरा करके टीका लगानेकी दवायें तैयार की जाती हैं; जो अहिंसा दृष्टिसे अनुपसेव्य हैं। बिलायतके बडे २ डाक्टरोंका मत है कि टीका लगानेसे विशेष लाभ नहीं होता, बल्कि उससे अधिक हानिया होनेकी संभावना है। डॉ. सा. मानवको शुद्ध आहार लेने और शुद्ध आचारविचार रखनेपर जोर देते हैं। वह ठीक लिखते हैं कि मांस भोजनका आदी होकर मानव पशुतुल्य बन गया है और पशुओंकी तरह लडता झगडता आ रहा है। बुरे कर्मोंमें वह फस गया है। आत्माको भूल गया है। किन्तु वस्तुतः मानवको अपनी आत्माकी अपूर्व शक्तिमें विश्वास होना उपादेय है। डॉ० सा० अपने रोगियोंको इस आत्मशक्तिका विश्वास दिलाकर बिला दवा दियेही रोगमुक्त करनेके प्रयोगोंको सफल बनानेका अभ्यास कर रहे हैं। भारतसे धर्मप्रधान देशमे आत्मबलकी ओरसे लोग विमुख हो रहे है; यह खेदजनक विषय है। डॉ० सा० के इस लेखसे भारतीय समुचित लाभ उठायेंगे, यह आशा है।— का० प्र०]

We are on this earth in any one lifetime, such a short period of time, it seems a pity we cannot show more on the credit side of the ledger than we do. Our lives for the most part can only be described in terms of suffering–with occasional flashes of Bliss.

I exclude pleasure from the condition of Bliss, because pleasure is an affair of the senses, and the senses when perverted, as they usually are, exclude real light–the light of the Soul.

Why then does this sorry state of affairs continue? We would not consciously hurt ourselves—unconsciously, however, we are continually doing so and acting in quite the wrong manner–the penalty is precisely the same as though we acted in full awareness and with full knowledge of the consequences.

Why are our bodies sick? the answer is-Poison in the system–the harvest we have reaped from wrong thought, manifested as wrong conduct. Our bodies reflect the cause and the cause comes into existence via perverted thought.

Diagnosis is a name given to symptoms, or the manifested effects of disease ; the naming of the symptoms is without value unless at the same time it accurately exposes the cause and prescribes the remedy.

Whatever the toxic material is, in the body, it is the end product of the food we eat and drink, plus the Thought, which gives rise to the appetite for such food.

There are many avenues of approach dealing with the *Effects* of disease-but in this short discussion I can deal with, principally, only one of them, namely *Flesh Eating*-and even with this subject I cannot in this writing go into great length.

Although this is a platitude, I feel I must mention it, i e., "If we do not manage *Ourselves*, *Others* will manage *Us*." We are never punished *for* our sins, but *by* them !

All life forms have a right to protection-even animal life forms, and unless this thought is ever before us-we cannot think straight.

HIPPOCRATES, the Father of Medicine, who knew and preached the rightness of vegetable kingdom food, said, "Let your food be your only medicine, and let your only medicine be food." Present day medical doctors take his Oath, but that is about all they do take from him, they certainly do not take his advice ; if they did, their influence would be incalculable in helping suffering humanity back to sanity.

Eating food is one thing, getting rid of its waste products is another ; if great wear and tear is caused thereby, the physical body is made to suffer, how great this suffering is, only the doctor knows-and the Patient.

Flesh-eating causes more body wear and tear than any other single thing I know , in the cooking of flesh foods all its life giving minerals are killed, except the nitrogenous elements and the acids, and these are ingredients for slow suicide.

Flesh foods when cooked contain an excess of nitrogen over the human body's needs as well as sulphur and phosphorus ash in great excess. This results, quite often, in the urine having one hundred times as much acid as would be the case with a balanced diet.

Although a lot of vegetables and fruit be eaten with the meat, these are quite unable to neutralise the meat acid ash.

In my own practice I have found that meat eaters have a much higher blood pressure than vegetarians and kidneys are below par.

(NEWBURCH) of the University of Michigan states "Prolonged heavy meat diet produces hardening of the Arteries and Bright's Disease," he also

states that beef in excess is from two to six times as harmful as cheese in the same excess proportion, gauged by the effects upon the kidneys.

(ANITSCHKOW of RUSSIA) proves that CHOLESTEROL is the food material which produces ARTERIOSCLEROSIS–this chemical constituent is present–exclusively–in fats of animal origin and in animal tissues.

(PROF. E. V. McCOLLUM of JOHN'S HOPKINS HOSPITAL) he is America's outstanding food scientist, says, "Meats are not necessary in the diet and with proper knowledge of other food values we could eliminate milk and eggs too."

These men to mention only a few have devoted their lives in studying food values and their findings cannot lightly be dismissed.

At the end of this writing I shall mention the deeper significance attached to meat-eating and world chaos arising from it, but for the moment we will discuss personal suffering to the individual arising out of meat-eating.

The minerals in our food determine its acid or alkaline reaction. Minerals in vegetables and fruits too, can cause an excess of acidity or alkalinity, when the body, after digestion, forms salts from them, so, it is necessary to know, even with right foods, the combinations best suited to the body's normal requirement.

The blood chemistry for normal working should be about 75 % Alkaline base and 25% Acid base, if this balance becomes too much off centre, death will result.

Another point to remember is, even if the diet is completely acid forming, the body can still function–providing the acid base is not increased.

The minerals that form Alkaline salts, normally neutralise the acids, so that even though grain foods such as bread, biscuits and so on are acid forming–fruits, vegetables and certain kinds of nuts, being alkaline–neutralise them.

Meat, fish, fowl, eggs and cheese, however, are highly acid and when they are burned in the body they affect the acid base with their end products of–Uric Acid, Sulphuric Acid and Phosphoric Acids. These acids play an important role in such diseases as APOPLEXY and CORONARY HEART DISEASE.

Meat-eating therefore, because of its high protein and acid ash, cannot be effectively neutralised by the alkaline salts.

The argument is sometimes used that the absence of meat from the diet would impair human energy output; this argument is proved entirely fallacious by the world's famous food authorities; I will quote the most *conservative* confirmation of this I have thus far read–the words are those of MAJOR

GENERAL SIR ROBERT McGARRISON, a famous British food authority, " Whole cereal grains, milk, milk products, eggs and fresh vegetables, when eaten in adequate quantities, will maintain the structural integrity and functional efficiency of the human body."

A common mistake anyway is to suppose that energy comes from the food we eat, it does nothing of the kind. The unit of the body is the cell, and the cell *structure* is built from the food we take into the body. However, the cell cannot manifest its function except for electrical energy.

The cells in our body are travelling through *space* at hundreds of miles per second, on the same curve the Earth is travelling, therefore the cells are cutting *magnetic lines of force*, this brings about within the cell the formation of an *Electro-Magnetic Potential* that *Forces* the cell to build up a *charge*, thus the life process gets its *Primary Energy* from Space and-from *no other* source.

Doctor Eugene A. Bergholz (U. S. A.) who is an authority on the " Electrical Conception of Living Matter" and writes extensively on the subject, is an M. D. and it is to be hoped he will succeed in educating his profession so that they will abandon the Mechanical Philosophy in favour of the Vital Philosophy.

Dr. Bergholz demonstrates part of the Vital conception of life thus, " Any plant, fruit or vegetable, has two different tissues, one charged with positive, the other negative, energy. Take a raw apple for instance, the core is *negatively* charged, the flesh *positive*. There is a definite difference in Potential-further; the apple is definitely *alive*. An apple actually breathes. "

" In going through space it gathers up *Energy*, builds it up and *emanates it again*. The apples use Oxygen and throw off Carbon-dioxide."

The finest proof that energy comes from Space and not from Food is demonstrated by any fruit, when it is connected in the circuit of a very delicate Galvanometer. *It causes a deflection in the Reading*. If an apple is kept in the circuit, the reading gradually dies down-in other words-the Energy is being drained out of the apple "

" Let the apple stand awhile and then re-insert it in the circuit,-again the apple deflects the needle ! " This proves that the apple has *Re-genera'ed* this energy. *Where did it come* from? Nothing was added or subtracted-except-the energy that comes from *Space*.

Our food then becomes the cells themselves, the cells because they are in a magnetic field (space) and moving rapidly are analogous to the rapidly rotating wires within a Generator producing a *movement* of *charge* or a *current*.

When we collect these charges from the wires we harness the Generator

and we use the Energy, as an entity, as body heat, muscle and tissue energy and thus under the control of the *Will* our body, moves and works.

After the cells build up energy and the body as a whole uses it-it must then be discharged, from the body. If *obstruction* is present in the body to great extent and the energy cannot properly be discharged then-some organ, because of *overload* will break down-and we die. So, the same energy that keeps us *alive* will *kill* us, when it runs wild, because of *Obstruction*.

Our physical body is made from the food we eat, if the food is wrong food our bodies will not be normal, if our body be not normal then our thought, even if right thought, will not *function normally* in an abnormal body ; in which case *obstruction takes place*, energy is thrown back on itself and obstruction-or Karma-thwarts progress.

Using Dr. Bergholz words again " Foods that are alive have potencies of their own ; Foods that are dead (cooked) must first be given Potency (by our body itself) before they are of *any use at all.*"

So, cooked foods, before they can be metabolised, require *from the body itself*, the missing electrical properties-this is not only *Obstructive* but the *opposite* of Vitality Conservation.

Whatever else flesh eating may be, it is incontravertible, that it is the most prolific source of *Obstruction* of which we know, when taken into the body of an herbivorous animal, of which man is one

This applies equally in the case of eating animal food, as well as having animal vaccines or serum injected into human blood or tissue.

The Medical school of thought. whose blood lust is well known, with its mania for dealing with the *effects* of disease, and its avidity in extirpating appendages, when confronted with causes *it does not understand*, uses animal products in the beastly form of vaccination, on all and sundry upon which it can lay its hands, and thus sets the stage for much future human suffering.

This profession must be restrained in many ways, but the first restraint must be in compelling them to keep their blood thirsty hands off animal life.

The World famous Psychologist " Jung " suggests that the " Surgeon of today was a Butcher in his last incarnation, " my own experience supports this view.

Whenever, or wherever animal life is sacrificed on the plea that its flesh, or the *Pus* from its diseased lymph, will help human beings I not only regard it as suspect, but detect an odour in my nostrils, of the lower regions of Hell.

When, oh when, will human beings revolt against the pure bloodstream of a body (or even relatively pure) being polluted by the medical doctors, needle, putting as vaccine, the lymph of a diseased calf into its body, giving it smallpox on a small scale, in order to support a theory that smallpox on a large scale will be prevented.

In my opinion the credit for smallpox diminution belongs to the Sanitary Engineer and not to vaccine

Two countries whose Vaccination Laws are very stringent are Italy and Mexico ; we would expect to find these two countries more or less immune from smallpox according to the Medical theory of vaccination, but we actually find that not only is the incidence of smallpox higher than most other countries, but on account of the high mortality rate, the enforcement of vaccination had to be modified

In my opinion vaccination is one of the principal reasons which brings a large Medical profession into being.

Modern Medicine concerns itself with *Disease*–not *Health.*

About 1937 the FORUM MAGAZINE (U. S A.) printed some remarks made by PROF. ERNEST A HOOTON of Harvard University ; they were spicy and to the point. He suggested that " Medical Practice is only a sophisticated extension of the flea hunting habits of monkeys, and observed that perhaps the contemporary doctor is the primitive Medicine Man–gone flossy and mercenary. " He continued–" There can be no doubt that the effect of medicine today is to increase enormously the proportion of the physically and mentally unfit in Society "

It is not my purpose to attack the Medical Profession, for they are a body of men and women doing their best to help suffering humanity, within the limits of their understanding, but I attack Evil and Wrong Thought wherever I find it. When Medical thought realises that it is the Garbage which attracts flies, and not the flies which attract the garbage, they will give up their incursions into the habits of germ life–who at best, are unreliable–they can change their sex and habits overnight, and one must descend very low indeed to keep track of them–and confine their thought to *Health.*

Thinking in terms of disease germs, they become diseased in Thought. Thinking in terms of Health, they would become Health Minded, against which disease germs would fight in vain.

Personally, I thought long and seriously about the choice of Medicine as a career and decided against it , instead I chose Psychology, Osteopathy, Chiropractice, Naturopathy and Chromo-Therapy. As the years pass, the doctorate I hold has served my patients well and medical doctors who became patients of mine tell me they wish their choice had been as wise.

I regard animals as my younger brethren and protect them as far as possible ; obviously therefore I oppose the Medical Vivisection idea, as not only without practical value, but because the cruelties perpetrated upon defenceless animals re-act as Karma on the whole human family. It brings war and suffering in its wake.

The arguments advanced in favour of torturing animals in order to save human suffering are spurious, for the human body functions in a manner different from that of the animal. The proper functioning of the pores in the skin is vital for the human-but the dog *has no pores*.

The stomach of the dog finds no difficulty digesting bone-the human does-sweet almonds kill dogs, humans thrive on them. Lemon juice is deadly poison to a cat or rabbit, camphor will kill a canary , pigeons and fowl can take large doses of opium and morphia without the least ill-effect, Hedgehogs can eat enormous quantities of opium and wash it down with prussic acid, ad lib. Sweet almonds will kill foxes and fowl. Parsley will kill parrots, etc. etc.

William Howard Hay, M. D. gave an address in Washington D. C. June 25th 1937 before the Anti-Vivisection Society-he said, " Aside from the horrible cruelties of vivisection I have not been able to discovor in 30 years of painful and careful research *One Thing* of practical utility that has been adduced in all this time-our results are exactly Zero-and always will be. I cannot think of one thing of practical utility that has evolved from all our years of crucifixion of half a million dogs a year. I saw these dogs crucified *without ANAESTHETICS*."

Well, so much for our Christian civilisation with its colossal wars and theft of territory.

Now let us examine some of the evidence for and against meat eating. All Herbivorous forms of life have a *long intestine* usually from twenty-six to thirty feet in length-the *human* form is in this category. All carnivorous forms of life have a *short intestine*. A lion, for instance, has an intestine about fifteen feet in length.

Long intestines are for the purpose of digesting and eliminating the waste products of vegetables, fruit, nuts and grain food.

Herbivorous forms of life *Sip* their liquids, the Carnivorous *Laps* its liquids with the tongue.

In the body of herbivorous animals is found an ENZYME, or digestive ferment called PTYALIN, this Enzyme digest starch food and converts it into sugar. In the human being PTYALIN is found, principally in the saliva-there is *no* PTYALIN in the carnivorous forms.

The teeth in a human being show, a few for biting and cutting, and the rest for chewing and masticating-this is a herbivorous trait.

When a Frugivora, i. e. an anthropoid ape, is taken into captivity and fed on a flesh diet, it will die of consumption in a year or so.

When human beings eat the food their bodies are fitted to receive, namely, the one sense forms of life, Vegetables, Fruits, Nuts and Grains, and eschew the animal forms which are five sense forms, their feet will be on the Right Path leading to the Kingdom of Heaven which lies within, where all other things are added unto us

Let us now examine the one sense forms of life and see why they contribute to our physical body health

The healing value of fruits, vegetable, nuts and grains lie in the Acids and Nourishing *Salts* they contain, which makes them effective against *Decomposition*, as well as at the same time strengthening the whole system

In this short writing I cannot go deeply into the variety of right foods, but will mention, briefly, one of them, the Soya Bean.

The Soya Bean is used in parts of the East by millions of people; it more than takes the place of meat and fish for its food value is real and it exceeds the nutriment found in eggs and cheese, or in any grain food, further it is easily digested.

Soya Bean contains a high percentage of LECITHIN, which is a fatty substance rich in PHOSPHORUS, on which nerves and brain: feed. The milk from this bean is vastly superior to cow's milk, and cheese made from the milk is simply delicious, and nurishing. When human beings recoil from the degrading habit of meat eating and the drinking of cow's milk, Soya Bean Milk will come into its own.

Cow's Milk promotes intestinal putrefaction – Soya Bean Milk does not. Bread made from this bean does not have an acid reaction, further, its flavour is more delicious than wheat bread.

Perhaps the greatest value from Soya Bean Milk is, it forms a better culture for the BACILLUS ACIDOPHIL1S than cow's milk, and this counteracts *all putrefactive types of bacteria in the Colon.*

A Soya Bean Omlet is more palatable than an egg one and its protein is as high as 34%. twice as much as is found in Flesh Food. Even the vegetarian will find added delight with his Salads when Soya Bean *Sprouts* are added to it. This " Fifth Sacred Grain " of Ancient China is destined to be the principal human food of the future. All countries will grow this bean themselves and thus support themselves in matters of foodstuffs to a large extent. From it

an endless variety of dishes will be made and even drinks to satisfy even the-Gourmand.

Our present system of living, particularly our eating habits, are quite wrong; it has brought us little happiness and still less security.

Over 80% of children born are normal at birth but only 20% of them are normal at the age of 21; this startling fact is all the more remarkable when we realise that from birth to age 21 is the healthiest period of our life.

Other forms of life — except the human — live eight times its period of growth; the human lives roughly twice its period of growth — Why? I suggest it is because his food is wrongly selected, wrongly combined and wrongly balanced.

Even good food when over-cooked, processed and commercially prepared in colourful packages is bad, and saps health. As for *White Sugar*, I know of few less healthful foods, calcium has not only been taken from it, but it robs the blood of *its* calcium, it rots teeth and bone. White bread has been robbed of its nutritive qualities and its real nourishment is given to the pigs.

Spices and condiments irritate the intestine and exaggerate the appetite. Potatoes whose first ⅛" of skin contains its minerals and whose eyes contain the vitamins, are peeled and the peel thrown away — leaving only starch to clog up the tubes of the body and form mucous.

In order to get the *minute* quantities of nourishment left in these denatured foods, we *overeat* of them, so starches and sugars, if digested, make us *Fat*, if not digested they make us *ill.*

As for flesh Eating, we must realise that meat contains 10% fat and 20% protein, the other 70% is *impure water* which is laden with the *Refuse* and *Urea* of the animal's body. The fat and protein from vegetable forms of life are vastly superior to that found in meat and the *water* in vegetable forms is *Pure*.

Now, I will conclude with the story of a personal experience, it happened on the 21st of April, 1948. I have no idea-at present-how to prove this statement to others; but I myself *know*, it is true.

I was meditating on the *Example* of Lord MAHĀVĪRA'S life on *Earth*; he is *one* of the *24 Elders* that sit before the *Throne*; the *Jains* of India are more familiar with *Him* as a TĪRTHAṂKARA, one of 24 such, who, having conquered the World in themselves, now, having reached Omniscience, are in the abode of NIRVĀṆA, which means *Complete Awareness*.

Seeing myself as I actually am, full of inconsistency, pride and positive character, undeveloped and weak in my approach towards Mastership, nevertheless I found my point of contact, (we all have points of contact) lay in my overwhelming passion for serving *all* forms of life, including human life, and my utter, even ruthless, determination to so serve, brought me into touch with the vibrations Lord MAHĀVĪRA left, in the "Unconscious Mind" of this World

My *Personality* Conscious Mind then opened more fully and this picture came into it

Human beings on this earth, having won their human form through great suffering, via the animal kingdom, consolidated their victory by the process of trial and error.

They found it necessary to subordinate much of their animal nature, and by virtue of their newly acquired Faculty of Reason they saw the necessity of bringing into being forms of Protection within which they all could develop their own peculiar traits and characteristics.

Taboos, which later became Earth Laws enabled them to progress in Spiral Form so that eventually those highest on the Spiral became the Rulers, those lower became the Professional class and the lowest of all became the Working class.

Ascent or Descent was within the province of all, and *some few* succeeded in having their feet at the bottom and their heads at the top of the Spiral; *these few*, according to Height and Depth, became the Teacher; TĪRTHAṂKARAS, MASTERS, SAVIOURS and SAINTS After drawing both extremes together, so that Height and Depth and all between became a simultaneous experience, utterly controlled, these few 24 of them, withdrew entirely from the physical world-but-they left the shadow, or example, behind them of their victory.

While *to them* their Example is but a shadow, to us, it is, in our comparative state of darkness, a *Light* of such power and grandeur, it remains a *Beacon*, ever beckoning us onward and upward to the Path-*already trod*, it clearly shows us the Way, the Truth and the Light.

Even so-it is *we*, each *one* of us, who must tread the Path-and *no one else* can tread it for us

At certain periods, the call came from the Animal kingdom, a number of infants had grown up and were ready to become human beings, having developed to this stage, they had earned the *Right*.

However, the Equilibrium of a higher state of life must not be seriously disturbed by *too great* an influx of a lower order of life into it, so *Law* declared that animal life could enter human life as to 5% of total human life.

These 5% newly acquired human forms acted in the only manner they knew, namely–as animals–this caused a furore among the human 95% who had partly forgotten their own earlier animal life, therefore Discipline which had become lax had to be tightened up and rigorously enforced.

And so a Rythm was established, as the 5% became absorbed so another 5% came in from the animal kingdom and this proportion continued to be well within the capability of the 95% to absorb without serious back to the animal kingdom retrogression, some could not hold their higher estates as human beings and had to be demoted – their *Own Soul* however, was the Judge in such matters, as indeed it is–in all matters.

In the course of time a serious miscalculation took place in the higher ranks of the Human family, in their zeal to win–*Competition* which is a form of, and a prolific cause of *Warfare*, fed to their warrior retainers food in the form of *Animal Flesh.*

This caused the warriors to become more *Ferocious* and deadly in combat, lust grew upon lust, until other human beings felt the necessity for this kind of food, *often from a slavish regard to the example of* their–so-called–betters, also to be better able–so they thought–to withstand the shock tactics of the Flesh Eaters.

Quickly the desire spread to all and sundry, for this new food, and animals of certain kinds were bread and *domesticated* to supply this demand; an infinity of animal forms were *hastened* into existence and as an Industry developed to satisfy this perverted appetite, so the Soul of each meat eater lost some of its lustre, burried beneath impurity–and Karma

The Laws of Karma determine the length of time in which the Soul resides in any Form of life, whether it be Mineral, Vegetable, Animal or Human, and while in any of these forms, the Soul has the duty of working out its Karma, at the same time it has at the opportunity, through suffering usually, of contacting *Higher States* of Existence and can prepare to enter them when its Karma permits, *then* it has the *Right* to enter a higher *Form.*

The Human being, having decided to eat the flesh of Animals not only incurs fearful Karma by entering the Road marked Retrogression, but, by *Hastening* animal life into existence and then absorbing it into his own body so that it becomes *his own very tissue* thoroughly *Domesticated*–prepares a Rod for his own Back!

Forced breeding, even artificial breeding, with its attendant cruelties, have given to animal life a *Right* to enter the Human family in greater proportion to the 5%, Man's cruelty lowers him nearer to the animal and animal suffering raises him above his station, and the twain *meet on a common level*, which is actually lower than normal human standards.

Because the Animal entry into the human kingdom has *been forced* — by humans—the present proportion of animals in the human family is 30%, 25% above the human safety margin

This lower element is rapidly pulling the mighty from their seats and usurping the *Power* that goes with it.

The Picture Meat Eaters should hold in mind when eating meat is—the *Murder* of the Animal—*for Murder it is* and then they will see that their own loved ones, *kill in War* is an exact retribution for their own conduct, and *the fear* in their own lives is identical with the fear the animal experiences when *it* is *brutally murdered* they should also realise that gangsters and other criminals act as they do because the percentage of animals in human form is being encouraged — *by themselves* Lastly, they must not complain because the World is living in Chaos for they *themselves* have brought it on *themselves*.

This is the conclusion - I could have made the story much more dramatic and forceful, but I have restrained myself, however I shall remember April 21st, 1948, and my contact with Truth :

" Ahimā—Non-injury is the highest Religion."

LOVE ALL ! 卐 SERVE ALL !!

END